कबीर वाङ्मय : खण्ड ३

# साखी

भावार्थबोधिनी व्याख्या सहित

डॉ० जयदेव सिंह

●

डॉ० वासुदेव सिंह

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

प्रथम संस्करण : १९७६ ई०

मूल्य :
प्रकाशक
विश्वविद्यालय प्रकाशन
चौक, वाराणसी–१

मुद्रक
स्वस्तिक मुद्रणालय
गोलघर, वाराणसी–१

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा ।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागे है मेरा ॥

## क्रम

# संकेत-विवृति

| | | |
|---|---|---|
| अ० | = | अरबी |
| गुप्त० | = | डॉ० माताप्रसाद गुप्त—कबीर ग्रन्थावली |
| तिवारी | = | डॉ० पारसनाथ तिवारी—कबीर ग्रन्थावली |
| ना० प्र० | = | बाबू श्यामसुन्दरदास—कबीर ग्रन्थावली—प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी। |
| पं० | = | पंजाबी |
| प्र० अ० | = | प्रतीकात्मक अर्थ |
| फा० | = | फारसी |
| मु० | = | मुहाविरा |
| यु० | = | युगलानन्द—सत्य कबीर की साखी |
| राज० | = | राजस्थानी |
| ला० अ० | = | लाक्षणिक अर्थ |
| वि० | = | विचारदास—सद्गुरु कबीर साहब का साखी-ग्रन्थ |
| सं० | = | संस्कृत |
| हनु० | = | हनुमानदास—श्री सद्गुरु कबीर साहब का साखी-ग्रन्थ |

# उपोद्घात

कबीरदास का व्यक्तित्व न केवल हिन्दी सन्त कवियों में, अपितु पूरे हिन्दी-साहित्य में बेजोड़ है। हिन्दी-साहित्य के लगभग बारह सौ वर्षों के इतिहास में, तुलसीदास को छोडकर, इतना प्रतिभाशाली एवं महिमामण्डित व्यक्तित्व दूसरे किसी कवि का नही है। यद्यपि उन्होंने 'मसि कागद' का स्पर्श नहीं किया था, तथापि उनके नाम से प्रभूत साहित्य उपलब्ध है। कबीरपन्थियो का तो विश्वास है कि उनकी वाणी अनन्त है। वनस्पति में जितने पत्र एवं गंगा में जितने बालुका-कण हैं, कबीर ने श्री-मुख से उतना ही कहा है:—

> जेते पत्र वनसपती, औ गंगा की रैन।
> पंडित विचारा क्या कहै, कबीर कही मुख बैन ॥
>
> ( बीजक—साखी २६१ )

सन्त सदाफलदेव के मत से "सद्गुरु कबीर साहेब बन्दीछोर स्वतः प्रकाशस्वरूप है एवं वे शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव नित्य अनादि सद्गुरु है। वे चारों युगो में स्वच्छन्द संसार में प्रकट होकर जगजीवो को उपदेश करते है। अत उनको कुछ पढ़ने की तथा योग करने की कोई आवश्यकता नही है।"[1] कबीर-बीजक के टीकाकार रीवाँ नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह ने 'कबीर जी की कथा' में लिखा है कि "सिकन्दर शाह लोदी ने कबीर की महिमा को सुनकर उनसे न्याय, व्याकरण आदि विभिन्न शास्त्रों पर अपना मत लिखने का अनुरोध किया। कबीर ने सहस्र गाड़ियो मे कागज भरवाकर, एक स्थान पर 'राम' शब्द लिखकर, उनको भिजवा दिया। कबीर के व्यक्तित्व के प्रभाव से हिन्दू-मुस्लिम धर्मो के सभी शास्त्रो के वचन उन पृष्ठों पर स्वतः लिख गये।"[2]

इसी प्रकार बीजक के अन्य टीकाकार श्री विचारदास शास्त्री का कहना है कि कबीर ने प्रत्येक जीव के लिए छ. लाख छानवे हजार रमैनियाँ मौखिक रूप से कह दी थी, जिन्हे उनके शिष्यो ने विभिन्न प्रदेशों मे प्रचारित किया—'छः लाख छानवे सहस्र रमैनी एक जीभ पर होय।"[3]

---

१ सदाफलदेव जी–बीजक-भाष्य, पृ० १

२. सहस शकट कागज जब आयो। तब कबीर अति आनंद पायो ॥
सबके ऊपर शकट यक मांही। लिख्यो राम अक्षर द्वै काहीं ॥
सहसहु शकट साह ढिग भेजा। प्रगट्यो राम नाम कर तेजा ॥
सकल शास्त्र सब कागज मांही। लिखिगे आपुहि ते श्रम नाही ॥
( कबीर-बीजक, पृ० २०-२१ )

३. बीजक, पृ० ४२।

कबीर-पन्थियों के मत से 'कबीर' एक समय में उत्पन्न एक व्यक्ति की संज्ञा नही है। कबीर वह 'परमतत्त्व' है जो अज्ञानान्धकार में भटकते हुए प्राणियों का मार्गदर्शन करने के लिए प्रत्येक युग में अवतीर्ण होता है और सदुपदेश करता है—'जुग-जुग सो कहवैया, काहु न मानी बात' (रमैनी—५)। एक साखी में तो यहाँ तक कहा गया है कि जिस समय यह कृत्रिम संसार नही था अर्थात् सृष्टि नही हुई थी, संसार-रूपी बाजार नही था, उस समय केवल राम के भक्त आदिगुरु कबीर थे, क्योंकि उन्हें लक्ष्य तक पहुँचने के कठिन और दुर्गम मार्ग का परिचय था :—

जा दिन किरतम नां हता। नही हाट नहिं बाट।
हुता कबीरा राम जन, जिन देखा औघट घाट ॥ २८ ॥
(परचा को अंग)

वस्तुत: कबीर के अनुयायियों द्वारा उनकी अतिरंजनात्मक प्रशस्ति के मूल में कबीर-भक्तो की श्रद्धा की अभिव्यक्ति अधिक है, तथ्यो की सूचना कम। इसीलिए उनके उद्‌गार कबीर के सही व्यक्तित्व और उनकी रचनाओं की सच्ची जानकारी देने में कम सहायक हुए है। एक प्रकार से इससे समस्या उलझी अधिक है, क्योंकि कबीर के इन भक्तों ने न केवल उनकी कोरी प्रशंसा ही की है, अपितु उनके नाम से प्रचुर साहित्य लिखकर प्रचारित भी किया है। देश के विभिन्न भागो में विद्यमान कबीर-पन्थियों की गद्दियों और मठों में कबीर के नाम से इतना अधिक लिखित-मौखिक साहित्य उपलब्ध है कि किसी भी तटस्थ वैज्ञानिक अनुसंधित्सु के लिए 'कबीर-साहित्य' को अलग कर पाना नितान्त असम्भव हो गया है। यही कारण है कि विगत ७०-७५ वर्षों से देशी-विदेशी विद्वानो द्वारा कबीर साहित्य की प्रामाणिकता पर निरन्तर कार्य होने पर भी आज तक हम अन्तिम रूप से यह कहने की स्थिति में नही है कि उपलब्ध साहित्य में कितना कबीर का है और कितना कबीरेतर।

## कबीर के नाम उपलब्ध साहित्य

कबीर पर १८वी शताब्दी से कार्य प्रारम्भ हो गया था, किन्तु कबीर-साहित्य की वैज्ञानिक खोज का कार्य सन् १९०३ में एच० एच० विल्सन ने किया। उन्हे कबीर के नाम पर कुल आठ ग्रन्थ मिले। उनके बाद बिशप जी० एच० वेस्टकॉट ने कबीर लिखित ८४ पुस्तकों की सूची प्रस्तुत की। रामदास गौड लिखित 'हिन्दुत्व' नामक ग्रन्थ मे कबीर की ७१ पुस्तकें गिनायी गयी है। मिश्रबन्धुओं ने 'हिन्दी नवरत्न' में ७५ ग्रन्थो की तालिका दी है। इसी प्रकार हरिऔध जी द्वारा सम्पादित 'कबीर वचनावली' में २१ ग्रन्थो, युगलानन्द द्वारा सम्पादित 'बोधसागर' में ४० ग्रन्थो डॉ० रामकुमार वर्मा के 'हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास' में ६१ ग्रन्थो और नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्टों में १४० ग्रन्थो की सूची मिलती

है। उपर्युक्त विद्वानों ने विभिन्न स्रोतों से प्राप्त कबीर की रचनाओं की सूची मात्र दी है। उनकी प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता पर गहराई से विचार नहीं किया है।

## प्रामाणिकता का प्रश्न

कबीर-साहित्य की प्रामाणिकता और पाठ-निर्धारण आदि के सम्बन्ध में मुख्य रूप से दो दिशाओं में कार्य हुए हैं—एक साहित्यिक विद्वानों द्वारा और दूसरे कबीर-पन्थी साधुओं द्वारा। साहित्यिक क्षेत्र में इस दिशा में सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण कार्य बाबू श्यामसुन्दरदास ने किया। उन्होंने संवत् १९८५ में दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर 'कबीर ग्रन्थावली' का सम्पादन करके, नागरी प्रचारणी सभा, काशी से प्रकाशित कराया। उनके अनुसार "कबीरदास के ग्रन्थों की इन दो प्रतियों में से एक तो संवत् १५६१ की लिखी है और दूसरी संवत् १८८१ की।"[1] संवत् १८८१ की प्रति में पहली प्रति की अपेक्षा १३१ दोहे और ५ पद अधिक हैं। इन दो प्रतियों के अतिरिक्त सवत् १६६१ में संकलित 'गुरु-ग्रन्थ साहिब' में संगृहीत कबीर की वाणी को भी प्रस्तुत ग्रन्थ के संपादन में आधार बनाया गया है। 'गुरु-ग्रन्थ साहिब' में कबीर के जो दोहे और पद उक्त प्रतियों में भी थे, उन्हें मूल अंश में सम्मिलित कर लिया गया है और शेष को परिशिष्ट में दे दिया गया है। इस प्रकार 'कबीर-ग्रंथावली' में कुल ८०९ साखियाँ, ४०३ पद और ७ रमैनियाँ संगृहीत हैं। इनके अतिरिक्त परिशिष्ट में १९२ साखियाँ और २२२ पद और दे दिये गये हैं।

संवत् १५६१ की हस्तलिखित प्रति के अन्त में एक पुष्पिका दी हुई है जिसके अनुसार यह प्रति खेमचन्द के पढ़ने के लिए मलूकदास ने काशी में लिखी थी। बाबू श्याममुन्दरदास ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि ये मलूकदास कबीरदास के शिष्य और समकालीन प्रसिद्ध सन्त थे। इस प्रकार बाबू साहब ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि प्रस्तुत प्रति का संग्रह कबीर के जीवनकाल में ही होने से, इसकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है। किन्तु परवर्ती खोजों से यह स्पष्ट हो गया है कि उक्त पुष्पिका जाली है। मलूकदास का जन्म संवत् १६३१ में हुआ था। अतः वह अपने जन्म के ७० वर्ष पूर्व ही उक्त संग्रह कैसे कर सके? 'षेमचन्द्र' नामक किसी व्यक्ति का भी पता नहीं चल सका है। इस प्रति की भाषा में जो पंजाबीपन का आधिक्य है, वह भी सन्देह को जन्म देता है, क्योंकि कबीर के पूर्वी क्षेत्र में पैदा होने और निवास के कारण इसमें पूर्वीपन अधिक होना चाहिए, न कि पंजाबीपन।[2] साखियों की भाषा में पजाबी-प्रभाव के आधिक्य को देखकर स्वयं बाबू श्याममुन्दरदास ने लिखा था कि

---

१ कबीर ग्रन्थावली, प्रथम संस्करण की भूमिका, पृ० १।

२. विस्तार के लिए देखिए, नागरी प्रचारिणी पत्रिका (शोध-विशेषांक), संवत् २००९ में डॉ० शुकदेव सिंह का निबन्ध—'कबीर-ग्रन्थावली की प्रामाणिकता', पृ० ९६–१०१।

"दोनो हस्तलिखित प्रतियों में जो पंजाबीपन देख पड़ता है, उसका कुछ कारण समझ में नही आता। या तो यह लिपिकर्त्ता की कृपा का फल है अथवा पंजाबी साधुओं की संगति का प्रभाव है।"[१] यदि लिपिकर्त्ता कबीर का समकालीन होता तो उसे कबीर की भाषा में इतना व्यापक परिवर्तन करने का साहस कैसे होता? अतः अधिक समीचीन यही प्रतीत होता है कि बाबू साहब ने जिन प्रतियो के आधार पर ग्रन्थावली का सम्पादन किया है, वे काफी परवर्ती हैं। ( दूसरी प्रति को स्वयं बाबू साहब ने संवत् १८८१ की लिखित माना है )। अतः 'कबीर-ग्रन्थावली' की प्रामाणिकता को अन्तिम सत्य के रूप में नही स्वीकार किया जा सकता।

बाबू श्यामसुन्दरदास की 'कबीर-ग्रन्थावली' के प्रकाशन के लगभग १५ वर्षों बाद संवत् २००० ( सन् १९४३ ) में डॉक्टर रामकुमार वर्मा ने 'सन्त कबीर'[२] नाम से कबीर की रचनाओं का अन्य संस्करण निकाला। उनके मत से "नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित 'कबीर-ग्रन्थावली' का पाठ सन्दिग्ध और अप्रामाणिक है। पाठ का पंजाबीपन तो 'पूरब' निवासी कबीर की वाणी का विषम शीशे में पड़ा हुआ विकृत प्रतिबिम्ब-सा है।" डॉ० वर्मा की दृष्टि में 'कबीर-ग्रन्थावली' की भाषा अप्रामाणिक है ही, उसके पाठ-निर्धारण में भी अनेक त्रुटियाँ हैं। "अनेक स्थलो पर शब्दो को अलग-अलग लिखने में भूल हो गयी है। कही एक शब्द दूसरे से जोड दिया गया है, कही किसी शब्द को तोडकर आगे और पीछे के शब्दो में मिला दिया गया है।"[३] इसके अतिरिक्त 'गुरु-ग्रन्थ साहिब' में उद्धृत अनेक पदो को छोड़ दिया गया है।

डॉ० वर्मा के समक्ष यद्यपि कबीर-वानी के ६ संग्रह तथा नागरी प्रचारिणी सभा की सन् १९०१ से सन् १९२२ तक की खोज रिपोर्टों मे सकलित ८५ प्रतियो की सूची थी, किन्तु उन्होने 'गुरु-ग्रन्थ साहिब' को ही सर्वाधिक विश्वसनीय माना, क्योकि उनके मत से "श्री ग्रन्थ साहिब का संकलन पाँचवे गुरु श्री अर्जुनदेव ने सन् १६०४ ( संवत् १६६१ ) में किया था। सन् १६०४ का यह पाठ अत्यन्त प्रामाणिक है। यही नही, गुरुमुखी लिपि में लिखे जाने पर भी कबीर के काव्य का व्याकरण पूर्वी हिन्दी का रूप लिये हुए है।"[४] प्रस्तुत सग्रह मे 'गुरु-ग्रन्थ साहिब' के आधार पर २२८ पद ( सबद ) और २४३ साखियाँ दी गयी हैं। इस संग्रह मे रमैनियों को बिलकुल छोड़ दिया गया है। कबीर-पन्थियो में सर्वाधिक मान्य रमैनियो को कबीर-साहित्य से अलग करना उचित नही प्रतीत होता। पदो और साखियो की सख्या भी बहुत कम

---

१ कबीर ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ४–५।
२ प्रकाशक— साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, १९४३।
३ सन्त कबीर, प्रस्तावना, पृ० ७।
४ सन्त कबीर, प्रस्तावना, पृ० १६–१७।

कर दी गयी है। बहुत सम्भव है 'गुरु-ग्रन्थ साहिब' मे कबीर की कुछ चुनी हुई रचनाएँ ही रखी गयी हो। अतः 'सन्त कबीर' मे संगृहीत पदो और साखियों को कबीर का सम्पूर्ण साहित्य नही माना जा सकता।

कबीर-साहित्य के वैज्ञानिक स्वरूप-निर्धारण का दूसरा कार्य डॉ० पारसनाथ तिवारी ने 'कबीर-ग्रन्थावली' नाम से किया है। कबीर की वाणी का पाठ-निर्धारण एवं प्रामाणिक रचना-संकलन करने के लिए डॉ० तिवारी ने विभिन्न पुस्तकालयों, कबीर-पन्थी, दादू-पन्थी एवं निरजन-पन्थी संस्थानो तथा व्यक्तिगत संग्रहालयो से प्राप्त हस्तलिखित एवं मुद्रित सामग्री का अत्यन्त श्रम से निरीक्षण-परीक्षण करके प्रस्तुत संग्रह तैयार किया है। इस कार्य को अधिकाधिक प्रामाणिक बनाने के लिए उन्होंने दादू महाविद्यालय, जयपुर से १५; श्री कबीर मन्दिर, मोती डूँगरी से ९; नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी से २९, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग से २; पंजाब विश्वविद्यालय के संग्रहालय से २; स्वर्गीय पुरोहित हरिनारायण से २; श्री उदयशंकर शास्त्री से १२ और श्री अगरचन्द नाहटा से २ प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों का भी उपयोग किया है। इन प्रतियो का लिपिकाल संवत् १८३१ और संवत् १८८० के मध्य है। डॉ० तिवारी को विभिन्न संस्थानो एवं व्यक्तिगत संग्रहो से उपलब्ध हस्त-लिखित एवं मुद्रित प्रतियों मे कबीर के नाम से कुल मिलाकर लगभग १६०० पद, ४५०० साखियाँ और १३४ रमैनियाँ प्राप्त हुईं। इनके अतिरिक्त लगभग १०० रचनाएँ उन्हें और मिली, जो कबीर-कृत मानी जाती हैं। कबीर के नाम से उपलब्ध इस विपुल साहित्य से उनकी वास्तविक रचनाओ को अलगाना कितना श्रमसाध्य है एवं कितनी पैनी दृष्टि की अपेक्षा रखता है, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इस कठिनाई की ओर संकेत करते हुए डॉ० तिवारी ने लिखा है कि "मैं नही जानता कि संसार के और किसी कवि या लेखक की रचनाओ की समस्त प्रतियो मे समान रूप से प्राप्त और पुन. उनमे पृथक्-पृथक् सामूहिक अथवा स्वतन्त्र रूप से प्राप्त छन्दों की संख्या में इस कोटि की विषमता होगी, जितनी कबीर के सम्बन्ध में दिखाई पड़ती है।"[1] इस प्रचुर सामग्री का सतर्कता एवं सावधानी से अध्ययन करके डॉ० तिवारी ने निष्कर्ष रूप में २०० पदो, २० रमैनियो, एक चौंतीसी रमैनी और ७४४ साखियो को प्रामाणिक रूप से कबीर की रचना माना है। इस प्रकार उन्होने बाबू श्यामसुन्दर-दास द्वारा स्वीकृत साखियो और पदों की संख्या घटा दी है तथा रमैनियो की संख्या ७ की अपेक्षा २० मानी है।

डॉ० तिवारी ने 'कबीर-ग्रन्थावली' का सम्पादन एवं पाठ-निर्धारण पी-एच० डी० की उपाधि के निमित्त डॉ० माताप्रसाद गुप्त के निर्देशन में किया था, किन्तु डॉ०

---

१. डॉ० पारसनाथ तिवारी : कबीर-ग्रन्थावली, प्रस्तावना, पृ० ३।

गुप्त को उनके पाठालोचन से पूर्ण सन्तोष नही हुआ, क्योंकि उनकी दृष्टि में "कबीर-वाणी के दो सर्वाधिक प्राचीन और सुरक्षित पाठों का यथेष्ट रूप से न तो मूल्यांकन ही हुआ था और न कबीर-वाणी का सन्देश स्पष्ट करने में उपयोग ही हुआ था।'[1] इसलिए डॉ० गुप्त ने 'कबीर ग्रन्थावली' के पाठ-निर्धारण की नये सिरे से आवश्यकता अनुभव करते हुए उसका सम्पादन किया है। प्रस्तुत संस्करण का आधार आगरा विश्वविद्यालय के के० एम० मुंशी विद्यापीठ में सुरक्षित संवत् १७६२ की बनवारीदास की परम्परा की उस प्रति को बनाया गया है जो सबसे प्राचीन उपलब्ध पाठ देती है। इस संस्करण में नागरी प्रचारिणी सभा की 'कबीर ग्रन्थावली' के समस्त छन्द संशोधित पाठ के साथ दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त उक्त प्राचीनतर प्रति से उपलब्ध एक साखी और १९ पद अधिक दिये गये है। इस प्रकार प्रस्तुत संस्करण का पाठ एवं छन्द-संख्या लगभग बाबू श्यामसुन्दरदास की 'कबीर-ग्रन्थावली' जैसी ही है, प्रत्येक साखी के प्रारम्भ में 'कबीर' शब्द अवश्य जोड दिया गया है।

इन प्रमुख कार्यों के अतिरिक्त कबीर के पदों और साखियों को लेकर और भी अनेक संग्रह समय-समय पर प्रकाशित होते रहे है, जिनमें हरिऔध की 'कबीर-वचनावली', बेलवेडियर प्रेस की 'कबीर साहब की शब्दावली', गोविन्दराम दुर्लभराम द्वारा सम्पादित 'ग्रन्थ-शब्दावली', मुन्शी शिवव्रत लाल की 'सत्य कबीर की शब्दावली' एव 'सन्त कबीर की साखी', स्वामी युगलानन्द की 'कबीर की साखी', हुजूर साहब की 'कबीर की साखी', विचारदास शास्त्री का 'सद्गुरु कबीर साहब का साखी ग्रन्थ', महाराज राघवदास का 'सटीक साखी ग्रन्थ', रामचन्द्र श्रीवास्तव की 'कबीर साखी-सुधा' आदि के नाम लिये जा सकते है।

बीजक—बाबू श्यामसुन्दरदास तथा अन्य विद्वानो द्वारा 'कबीर-ग्रन्थावली' के सम्पादन-प्रकाशन का परिणाम यह हुआ कि साहित्यिक क्षेत्र में पदो और साखियो का ही अधिकाधिक प्रचार हुआ और विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमो में इन्ही को स्थान मिला। बीजक प्राय: उपेक्षित ही रहा, जब कि कबीर-पन्थियो में 'बीजक' ही अधिक मान्य ग्रन्थ रहा है, उसे पन्थ का 'वेद' माना जाता है। अमृतसर के गुरुद्वारे के कबीरपन्थी भगत 'बीजक' का ही पाठ करते है। कबीर के दार्शनिक सिद्धान्तों का सारतत्त्व 'बीजक' में ही उपलब्ध होता है। 'बीजक' का अर्थ ही है—गुप्त-धन बताने वाली सूची। कबीर ने कहा है—

बीजक वित्त बतावई, जो वित गुप्ता होय।
सब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय॥ (रमैनी—३७)

जो वित्त या धन गुप्त होता है अर्थात् कही पृथ्वी में गाड़कर या अन्यत्र छिपाकर रखा जाता है, उसका पता केवल उसके 'बीजक' से ही लगता है, उसी प्रकार जीव

१. डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित : कबीर ग्रन्थावली, प्रस्तावना, पृ० १।

के गुप्त-धन को अर्थात् वास्तविक स्वरूप को शब्दरूपी बीजक (गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान-दीक्षा) बतलाता है। कबीर का प्रमुख साहित्य—रमैनी, साखी और शब्द (पद) बीजक में उपलब्ध है। कबीर ने बीजक (रमैनी) में सृष्टि, मोक्ष, मनोमाया, माया से सावधानी, भव-पन्थ के कष्टों, संसार की असारता, सत्यानुभव, ज्ञान-भूमिका, देवादि-मोह-विडम्बना, सत्संग महिमा, आसक्ति से ज्ञान की दुर्लभता, सद्गुरु-महिमा, भक्ति-महिमा आदि का विशद विवेचन किया है। दर्शन के साथ काव्य का सुन्दर सामञ्जस्य 'बीजक' की अन्य विशेषता है। कबीर के सिद्धान्त, साधना एवं काव्य-वैशिष्ट्य पर विस्तार से स्वतन्त्र रूप से लिखा जायगा। यहाँ हम केवल इतना संकेत करना चाहते हैं कि अब तक कबीर-वाणी के इस महत्त्वपूर्ण अंश पर साहित्यकारों द्वारा अपेक्षित विचार का अभाव वस्तुतः कबीर के साथ अन्याय ही कहा जायगा।

'बीजक' के लोकप्रिय न होने का कारण कबीरपन्थियों की कट्टरता भी है। वे इसे मन्त्रों की तरह प्रायः गोपनीय ही रखना चाहते हैं। वे जन-सामान्य में इसका प्रचार अनुचित मानते हैं। कहा जाता है कि बीजक का मूल कबीर के दो शिष्यों भगवानदास और जगन्नाथ साहब के हाथ लगा। भगवानदास ने इसे गोपनीय ग्रन्थ बना दिया। उस पर दूसरो की दृष्टि न पड़ने दी। यदि किसी ने उसे अध्ययन-मनन के लिए माँगा भी तो भगवानदास या भग्गोदास ने अस्वीकार कर दिया, केवल सम्प्रदाय के दीक्षा-कार्यों में ही इसका उपयोग हुआ। यह प्रति भगताहो परम्परा के कबीर-पन्थियों मे ही सुरक्षित रही। बीजक की दूसरी प्रति जो जगन्नाथ साहब के अधिकार में थी, कबीरपन्थियों में उसका ही अधिक प्रचार-प्रसार हो सका। उसी के अधार पर साम्प्रदायिक भक्तों के द्वारा टीका और भाष्य भी लिखे गये।

कहने का तात्पर्य यह है कि कबीरपन्थियो में बीजक को ही अधिक प्रामाणिक एवं आदि ग्रन्थ माना जाता है। विशप जी० एच० वेस्टकॉट ने भी लिखा है कि 'बीजक कबीर साहब की शिक्षा का प्रामाणिक ग्रन्थ मान लिया गया है। यह सम्भवतः १५७० ई० में या सिक्खो के पाँचवे गुरु अर्जुन द्वारा नानक की शिक्षा आदि-ग्रन्थ मे लिखे जाने के बीस वर्ष बाद लिखा गया था।"[१] कबीरपन्थी सन्तों द्वारा इसके पाठ-निर्धारण एवं टीका-भाष्य-लेखन के सम्बन्ध मे समय-समय पर कार्य होते रहे हैं। इन ग्रन्थो में हंसदास शास्त्री का 'कबीर-बीजक',[२] मोतीदास चेतनदास का 'कबीर साहब का बीजक',[३] सदाफलदेव जी का 'बीजक-भाष्य',[४] खड्गविलास प्रेस

---

१. Kabir and Kabir Panth, p. 7.

२ कबीर ग्रन्थ प्रकाशन समिति, बाराबंकी।

३ कबीर प्रेस, सीयाबाग, बडौदा, सन् १९३९।

४. मुक्ति पुस्तकालय, पकडी, बलिया, संवत् २०१३।

से प्रकाशित 'सद्गुरु कबीर साहेब कृत बीजक',[1] श्री गोसाई श्री भगवान साहब का 'मूल बीजक',[2] महात्मा पूरणसाहब का 'मूल बीजक'[3] तथा विचारदास का 'बीजक'[4] प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। कबीरपन्थियो के अतिरिक्त 'बीजक' पर कुछ अन्य लोगो द्वारा भी कार्य किये गये हैं, जिनमें रीवाँ नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह कृत 'पाषण्ड-खण्डिनी टीका'[5] और लाहौर से उर्दू में प्रकाशित मुंशी शिवव्रत लाल का 'कबीर-बीजक' मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त 'बीजक' के और भी कई संस्करण उपलब्ध हैं। डॉ० पारसनाथ तिवारी ने ऐसे ३२ संस्करणों की सूची दी है।[6]

विभिन विद्वानो और कबीरपन्थियो द्वारा 'बीजक' के जो संग्रह निकाले गये हैं, उनसे स्पष्ट है कि 'बीजक' की छन्द-संख्या में विशेष अन्तर नही है। दो-चार छन्दो के अन्तर से प्राय सभी संस्करणो में ८४ रमैनियाँ, ११५ शब्द, १ चौंतीसी, १ विप्रमतीसी, १ कहरा, १२ वसत, २ चाचर, २ वेलि, १ विरहुली, ३ हिंडोला और ३५३ साखियाँ पायी जाती हैं। छन्द-सख्या में विशेप अन्तर न होते हुए भी पाठ-भेद विद्यमान है। कबीरपन्थी सपादको ने पाठ-निर्धारण में प्राय साम्प्रदायिक दृष्टि को ही विशेष महत्त्व दिया है। यद्यपि कुछ पाठ-शोधको ने विभिन्न स्थानो पर उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियो का भी उपयोग किया है, किन्तु पाठालोचन की वैज्ञानिक प्रक्रिया तथा काव्य-रचना की बारीकियो से अनभिज्ञ होने के कारण इनके द्वारा निर्धारित पाठ अधिक प्रामाणिक नही वन सके हैं। उदाहरणार्थ 'बीजक मूल' के सम्पादक साधु लखनदास ने "इस ग्रन्थ का संशोधन ग्यारह ग्रन्थो से किया है, जिसमें छ टीका-टिप्पणी के साथ हैं और पाँच हाथ की लिखी पोथी हैं। परन्तु इन सब ग्रन्थो को साक्षी रूप में रखा गया था, केवल स्थान कबीर चौरा, काशी के पुराने और प्रचलित पाठ पर विशेष ध्यान दिया गया है।"[7] इसी प्रकार विचारदास शास्त्री ने दावा किया है कि "इस पुस्तक का शोधन अति प्राचीन पाँच प्रतियो के आधार से किया गया है, जो कि स्थान कबीर चौरा के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। उनमे एक प्रति अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण और अनेक दफा की जीर्णोद्धारित ( मरम्मत ) की हुई मालूम पड़ती है।"[8] श्री हंसदास शास्त्री द्वारा सम्पादित 'कबीर बीजक' में यद्यपि २८ प्रतियो को आधार बनाया गया

---

१ बाँकीपुर, पटना, सन् १९२६।

२ मानसर, दाऊदपुर, छपरा सन् १९३७।

३ बम्बई, सवत् १९९३।

४ प्रकाशक, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, सन् १९२८।

५ वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से सवत् १९६१ में प्रकाशित।

६. कबीर-ग्रन्थावली, भूमिका, पृष्ठ २७ से ३० तक।

७ बीजक मूल, भूमिका, पृ० ५।

८. बीजक, परिशिष्ट, पृ० ५०।

है, तथापि इसका "संपादन एक व्यक्ति ने नही किया, जिसका अपना निजी दृष्टिकोण ही प्रधान रूप से व्याप्त हो, वरन् तीन व्यक्तियों ने किया है और वे तीनो ही कबीर-पन्थी हैं। श्री हंसदास शास्त्री एक कबीरपन्थी मठ के अध्यक्ष हैं, श्री उदयशंकर शास्त्री कबीरपन्थी महन्त श्री गुरुशरणदास जी के पुत्र हैं और श्री महावीरप्रसाद जी कबीर-पन्थ में दीक्षित हैं।"[1]

यद्यपि डॉ० पारसनाथ तिवारी ने बीजक के ३२ संस्करणो की सूची दी है, तथापि 'कबीर ग्रन्थावली' के सम्पादन में उनका अधिक उपयोग नही किया है अथवा उन्हे प्रामाणिक नही माना है। बीजक की परम्परा में ८४ रमैनियाँ मान्य हैं, किन्तु डॉ० तिवारी ने २०० पदों और ७४४ साखियो के अतिरिक्त केवल २० रमैनियो और एक चौंतीसी रमैनी को ही अपने संग्रह में स्थान दिया है, क्योंकि उनकी मान्यता है कि "सिद्धान्ततः केवल उन्ही पंक्तियों को निश्चित रूप से प्रामाणिक स्वीकार किया जाना चाहिए, जो दा० बी० ( दादू-पन्थी ) या नि० बी० ( निरंजनी-सम्प्रदाय ) में समान रूप से मिलती हैं। कठिनाई का अनुमान इस बात से और लगाया जा सकता है कि बीजक की ८४ रमैनियों मे ६० ऐसी निकल जाती हैं जिनकी एक भी पंक्ति किसी अन्य प्रति में नही मिलती, चार रमैनियाँ ऐसी हैं जिनकी केवल एक-एक पंक्ति दा० नि० में मिल जाती है, तीन रमैनियाँ ऐसी हैं जो केवल आंशिक रूप से दा० नि० में मिलती हैं। सम्पूर्ण रूप से मिलने वाली रमैनियो की संख्या केवल १६ है।'[2] इस प्रकार उन्होने दादूपन्थी और निरंजनी-सम्प्रदाय की प्रतियो को ही अधिक प्रामाणिक माना है, 'बीजक' की परम्परा की उपेक्षा की है।

इधर डॉ० शुकदेव सिंह ने 'बीजक'[3] पर नया कार्य किया है। इसे साहित्यिक क्षेत्र में किया गया प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रयास कहा जा सकता है। उन्हे बीजक के सम्बन्ध में डॉ० तिवारी के निष्कर्ष मान्य नही हैं। उन्होने 'कबीर-बीजक' की भूमिका में लिखा है कि "डॉ० तिवारी द्वारा सम्पादित पाठ में २०० पद, २० रमैनियाँ, १ चौतीसी और ७४४ साखियाँ हैं। सहज ही इस निष्कर्ष के लिए पूरा अवसर है कि इसमें बीजक का उपयोग अंगी सामग्री के रूप में हुआ है, क्योंकि बीजक का महत्त्व ८४ रमैनियों ( बीजक के सभी रूपो में ), ११२ शब्दों ( या ११३ से ११५ ), २९७ साखियो ( या ३५३ से लेकर अधिक से अधिक ४४५ ) चाचर, बेलि, बिरहुली, हिंडोला, कहरा, बसन्त तथा विप्रमतीसी की दृष्टि से है। बीजक की अपनी ग्रन्थन शैली है, अपनी परम्परा है और कबीर के पन्थ मे सबसे अधिक मान्यता भी है। इस

१ कबीर बीजक, प्राक्कथन, डॉ० भगीरथ मिश्र, पृ० २।

२. कबीर ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० २६६-६७।

३. कबीर बीजक, प्रस्तुतकर्त्ता, डॉ० शुकदेव सिंह, नीलाभ प्रकाशन–५, खुसरो बाग रोड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९७२।

प्रकार जाने-अनजाने इस महत्त्वपूर्ण सम्पादन में नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'कबीर-ग्रन्थावली' का ही पाठ-विज्ञान की महत्तर और भ्रणपूर्ण भूमिका में सम्पादन हुआ है। कदाचित् इसीलिए इसका नाम भी 'कबीर-ग्रन्थावली' ही रखा गया है। अतः बीजक का महत्त्वपूर्ण सम्पादन अभी तक छूटा हुआ ही माना जाना चाहिए।"[1]

इस प्रकार कबीर वाणी के एक महत्त्वपूर्ण अंश के वैज्ञानिक पाठ के अभाव की पूर्ति का संकल्प लेकर प्रस्तुत संकलन तैयार किया गया है। बीजक के प्रामाणिक पाठ-निर्धारण के लिए विद्वान् लेखक ने लगभग १२ हस्तलेखों और तीन दर्जन के आस-पास बीजक के मुद्रित संस्करणों का उपयोग किया है। इस कार्य में लेखक ने अत्यधिक श्रम करके विभिन्न मठों में संगृहीत सामग्री का भी उपयोग किया है। उन्हें रामरूप गोस्वामी के सहयोग से भगताही पाठ भी उपलब्ध हो गया। लेखक के मत से उपर्युक्त सभी पाठों में 'भगताही बीजक' ही सबसे प्रामाणिक है। अतः उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ भगताही बीजक को प्रमाण मानकर सम्पादित किया है।[2]

## प्रस्तुत संस्करण का प्रयोजन

कबीर-साहित्य सम्बन्धी कार्यों के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि उनकी वाणी पर मुख्यतः दो क्षेत्रों में कार्य हुआ है—एक साहित्यिक विद्वानों द्वारा, दूसरा कबीर-पन्थियों द्वारा। यद्यपि इसके अपवाद भी हैं। इनमें बाबू श्यामसुन्दरदास, डॉ० पारसनाथ तिवारी, डॉ० माताप्रसाद गुप्त और डॉ० शुकदेव सिंह द्वारा पाठ-निर्धारण और प्रामाणिकता-सम्बन्धी किये गये कार्य अधिक वैज्ञानिक और सुसंगत हैं। किन्तु इनमें ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं है जो कि कबीर के समग्र साहित्य को एक साथ उपलब्ध कराता हो। यदि 'ग्रथावली' नाम से प्रकाशित ग्रन्थों में साखियों और पदों को महत्त्व दिया गया है तो 'बीजक' में रमैनियों की प्राचीनता और प्रामाणिकता सिद्ध की गयी है। साहित्यिक विद्वानों द्वारा 'कबीर ग्रन्थावली' अपनाये जाने का परिणाम यह हुआ है कि हिन्दी के छात्रों का अध्ययन साखियों और पदों तक ही सीमित रह गया है। वे प्रायः रमैनी से अपरिचित ही रहे हैं, जब कि कबीर के विद्यार्थी के लिए रमैनी की जानकारी आवश्यक है। अतएव एक ऐसे ग्रन्थ की नितान्त आवश्यकता थी, जिसमें कबीर का सम्पूर्ण प्रामाणिक साहित्य विस्तृत व्याख्या के सहित उपलब्ध हो। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी दिशा में किये प्रयत्न का परिणाम है।

कबीर का प्रमुख साहित्य तीन रूपों में विभक्त है—रमैनी, साखी और शब्द या पद। प्रायः यह माना जाता है कि रमैनी में जगत्, साखी में जीव और सबद में ब्रह्म सम्बन्धी विचार है। 'रमैनी' शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में हुआ है—(1) जिसमें

---

१ कबीर बीजक, भूमिका—पृ० ३७-३८।

२ कबीर बीजक, भूमिका—पृष्ठ ६।

संसार में जीवों के रमण का विवेचन हुआ है, ( ii ) परमतत्त्व में रमण कराने वाली और ( iii ) एक छन्द-विशेष जिसके प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं। रमैनी में मुख्य रूप से सृष्टि और जीव तथा जगत् की स्थिति पर विचार किया गया है। इसमें मुख्य रूप से चौपाई-दोहा छन्द का प्रयोग हुआ है। कितनी चौपाइयो के वाद दोहा-छन्द रखा जाय, इसका कोई निश्चित क्रम नही है। मौ० दाऊद ( चंदायन ) के वाद कवीर हिन्दी के दूसरे कवि है, जिन्होने 'रमैनी' में चौपाई-दोहा छन्द का विधान किया है। इसी पद्धति को आगे चलकर अन्य सूफी कवियों और तुलसी ने 'मानस' में अपनाया है। कवीर ने एक स्थान पर कहा है कि शव्द ही माया है। शव्द का तात्पर्य है—परावाक्। माया में जीव की प्रीति उपजी और उसने माया में रमण करने का निश्चय किया:—

अद्‌वुद रूप जाति की वानी।
उपजी प्रीति रमैंनी ठानी॥ ( ४।३ )

'साखी' शव्द संस्कृत के 'साक्षी' का तद्भव है। साक्षी का अर्थ होता है—गवाह। 'गवाही' के लिए संस्कृत मे 'साक्ष्य' शव्द है। साक्षी वह है जिसने स्वयं अपनी आँखों से तथ्य देखा हो। 'साक्ष्य' का अर्थ है—आँख से देखे हुए तथ्य का वणन। हिन्दी में 'साखी' शव्द 'साक्षी' और 'साक्ष्य' अर्थात् 'गवाह' और 'गवाही' दोनो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

कवीर ने अपनी इन उक्तियों का शीर्पक 'साखी' इसलिए दिया है, क्योंकि उन्होंने इनमें वर्णित तथ्यों का स्वयं साक्षात्कार किया है। उन्होने किसी दूसरे से सुनकर अथवा दूसरे ग्रन्थों मे उपलव्ध वात नही कही है। 'साखी' शव्द को हम चाहें 'गवाह' के अर्थ में लें या 'गवाही' के अर्थ में, इससे भाव में कोई अन्तर नही आता। भाव केवल यही है कि स्वसंवेद्य, स्वानुभूत आध्यात्मिक तथ्यो अथवा ज्ञान का वर्णन जिसमें किया गया है, उसे 'साखी' कहते है।

कवीर ने 'सवद' का प्रयोग दो भावो को ध्यान में रखकर किया है—एक तो परमतत्त्व के अर्थ में और दूसरे पद के अर्थ में।

रमैनी, साखी और सवद के अतिरिक्त कवीर के नाम में कहरा, वसंत, वेलि, विरहुली, चाचरि, हिंडोला, चौंतीसी, विप्रमतीसी आदि अन्य काव्य-रूपो में लिखा साहित्य भी पाया जाता है। जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि स्वयं कवीर द्वारा लिपिवद्ध न किये जाने के कारण तथा कवीरपन्थी भक्तों की उदारता और कवीर के प्रति उनकी श्रद्धाभिव्यक्ति के कारण, कवीर के नाम से प्रचुर साहित्य एकत्र हो गया है। उसकी प्रामाणिकता पर विभिन्न विद्वानों द्वारा अद्यावधि जो अनेक श्रमसाध्य कार्य हुए है, वे भी अन्तिम सत्य तक पहुँचानेवाले नही है। प्रायः सभी

शोधको और पाठालोचको ने स्वीकार किया है कि कबीर का साहित्य यही है अथवा इतना ही है, इसे अंतिम सत्य के रूप मे नही कहा जा सकता। वस्तुतः कबीर-जैसे रमते साधुओ के सम्बन्ध मे इस प्रकार का अन्तिम निर्णय लिया भी नही जा सकता। उन्होने काव्य-रचना का कोई निश्चित संकल्प लेकर लिखना नही प्रारम्भ किया था। उन्होने प्रबन्ध-काव्य जैसी कोई वस्तु भी नही लिखी। अतएव प्रस्तुत सग्रह तैयार करते समय कबीर-साहित्य की प्रामाणिकता, रचना-क्रम, पाठ तथा भाषा सम्बन्धी अनेक समस्याएँ आयी, क्योकि इन सब पर विचार किये विना उनकी व्याख्या करने का कोई अर्थ ही नही होता। इस संग्रह में प्रयत्न किया गया है कि कबीर की लगभग सभी प्रामाणिक एवं मान्य रचनाएँ स्वीकृत पाठ के साथ सम्मिलित कर ली जायँ। जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो चुका है, रमैनी, पद और साखी कबीर की प्रामाणिक रचनाएँ मानी जाती है। अतएव हमने प्रस्तुत संस्करण मे इन्ही तीनो को स्थान दिया है।

## क्रम-निर्धारण

इस सम्बन्ध मे पहली समस्या क्रम-निर्धारण की आयी। कबीर ने पहले रमैनी की रचना की या साखी अथवा शब्द की, इसका निर्णय सर्वथा असम्भव है। सम्भवत कबीर ने किसी एक क्रम से इनकी रचना की भी नही होगी। वे समय-समय पर अपने विचार प्रकट करते रहे होगे और उनके शिष्य अपनी सुविधानुसार उसे लिपिबद्ध कर लेते होगे, इसीलिए कबीर-वाणी के जितने संस्करण उपलब्ध है, उनमे रचनाओ के समान-क्रम का अभाव है। इस उलझन का संकेत करते हुए डॉ० पारसनाथ तिवारी ने लिखा है कि "दा १, दा २ तथा दा ३ में पहले साखियाँ आती हे, तत्पश्चात् पद और रमैनियाँ। दा ४ में पहले पद आते हैं, तत्पश्चात् रमैनियाँ और अन्त में साखियाँ। नि० में साखियों के पश्चात् पहले रमैनियाँ आती हैं, तत्पश्चात् पद आते हैं। गु० में पहले पद आते है, तत्पश्चात् साखियाँ! 'बावन अखरी' की रमैनियाँ पदो के बीच में ही गौडी राग के अन्तर्गत आ जाती है। बीजक में पहले रमैनियाँ आती है, तत्पश्चात् पद और अंत मे साखियाँ मिलती है।"[1] डॉ० तिवारी ने इन विभिन्न प्रकार के उपलब्ध-क्रमो का उल्लेख करते हुए अपने संग्रह में सर्वप्रथम पदों, तत्पश्चात् रमैनियो और अन्त में साखियो को स्थान दिया है। इसके पूर्व बाबू श्यामसुन्दरदास ने अपने संग्रह में सर्वप्रथम साखियो, तत्पश्चात् पदो और अन्त मे रमैनियो को स्थान दिया था। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी बाबू साहब के क्रम को ही अपनाया है। प्रस्तुत संग्रह में रमैनियो को प्रथम स्थान दिया गया है, क्योकि रमैनियो को कबीर की आदि-वाणी माना गया है। कबीरपन्थियो में 'बीजक' ही सर्वमान्य ग्रन्थ है, उसी का पाठ भी किया जाता है। 'बीजक' मे भी रमैनियाँ पहले रखी गयी है। रमैनियो के बाद कबीर-पंथियो में 'पद' या 'सबद' का महत्व है। अत. दूसरा खण्ड 'शब्द' पर होगा, जो

१. कबीर ग्रंथावली, भूमिका पृ० २७४।

शीघ्र ही प्रकाशित होगा ।' बीजक' में साखियों का स्थान तीसरा है । किन्तु लोकप्रियता, कबीर-दर्शन तथा काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से 'साखियों' का महत्वपूर्ण स्थान है । अतः तीसरा खण्ड 'कबीर वाङ्मय : साखी' आप के समक्ष है ।

बीजक में ८४ रमैनियाँ मान्य हैं । इनके परस्पर क्रम मे बहुत थोड़ा अन्तर पाया जाता है । प्रायः रमैनियो का प्रारम्भ 'जीव रूप यक अंतर वासा' से हुआ है । वा० प्रति मे इसे दूसरे स्थान पर रखा गया है और दूसरी रमैनी 'अंतर जोति सब्द एक नारी' को सर्वप्रथम रखा गया है । वलि० वाली प्रति में प्रथम तीन रमैनियो के चरण परस्पर इधर-उधर हो गये हैं । इसी प्रकार अन्य प्रतियों की २९ नं० की रमैनी, ब० ख० की प्रतियो में नं० ३१ पर आयी है । उनमें इसके स्थान पर जो रमैनी आयी है, वह अन्य प्रतियो में ३८ नं० पर रखी गयी है । इस प्रकार कुल मिलाकर चार-पांच रमैनियों के क्रम में ही अन्तर है, अन्यथा सभी प्रतियो में लगभग समान क्रम अपनाया गया है। रमैनियो के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमे एक व्यवस्थित विचार-धारा मिलती है। अतः विचारो की अविच्छिन्नता को ध्यान मे रखते हुए प्रस्तुत संग्रह के प्रथम खण्ड में रमैनियो का क्रम निर्धारित करके उन्हे प्रकरणो मे विभक्त कर दिया गया है ।

विभिन्न संस्करणों में साखियों की संख्या और क्रम में अत्यधिक अंतर मिलता है। कबीरपंथियो में मान्य 'बीजक' के ही भिन्न-भिन्न संस्करणों में साखियो की संख्या समान नही है, अपितु २९७ से लेकर ४४५ तक पहुँचा दी गई है । गोसाँई श्री भगवान साहब के 'मूल बीजक' मे २९७ साखियाँ मिलती हैं,[१] किन्तु कबीर चौरा, वाराणसी से श्री लखनदास जी और श्री रामफलदास जी द्वारा प्रकाशित 'बीजक मूल' में ३५३ साखियाँ दी गई है । इसी प्रकार कबीर चौरा के पुस्तकालय मे ही सुरक्षित पांच प्रतियो के आधार पर श्री विचारदास शास्त्री द्वारा संपादित 'बीजक' मे भी ३५३ साखियाँ ही उपलब्ध है ।[२] डॉ० शुकदेव सिंह ने भी ३५३ साखियों को ही प्रामाणिक माना है ।[3] इनके अतिरिक्त रीवाँ नरेश महाराजा विश्वनाथ सिंह के कबीर साहब के बीजक, में यह संख्या बढ़कर ३६९ हो गई है[४] और कतिपय अन्य बीजकों में ४४५ तक पहुँच गई है । इससे प्रतीत होता है कि 'बीजक' परम्परा में २९७ से लेकर ४४५ साखियो तक ही मान्य रही हैं । इन साखियो का 'अंगो' में विभाजन भी नही किया गया है । सम्भवतः कबीर ने किसी निश्चित क्रम से, निश्चित संख्या में साखियों की रचना नही की होगी और न उनका अंगो' मे विभाजन ही किया होगा, क्योकि श्री 'गुरु ग्रंथ साहब'

१ देखिए—गोसाईं श्री भगवान साहब, मूल बीजक, स्वसंवेद कार्यालय, सीयाबाग, बड़ौदा ।
२. ,, विचारदास शास्त्री—बीजक प्र० रामनरायन लाल, इलाहाबाद ।
३ ,, डॉ० शुकदेव सिंह, कबीर बीजक, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद ।
४ , विश्वनाथ सिंह—कबीर साहब का बीजक बम्बई ।

में भी उपलब्ध साखियाँ अंगों में विभाजित नही है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'संतकबीर' में 'श्री गुरुग्रंथ साहब' को ही प्रामाणिक आधार मानकर २४३ साखियाँ दी हैं और उनका अंगो में विभाजन भी नहीं किया है।

आश्चर्य का विषय यह है कि 'बीजक' में साखियों की संख्या कम देने वाले हनुमान दास, विचारदास तथा युगलानंद आदि कबीरपंथियों ने जब स्वतन्त्र रूप से साखियो का संपादन किया तो उनके द्वारा साखियो की संख्या बढा ही दी गयी है, उनका अंगों में विभाजन भी किया गया है। उदाहरण के लिए श्रीहनुमानदास द्वारा दो खण्डो में सपादित 'साखी ग्रन्थ'[1] में २०१५ साखियाँ संगृहीत हैं जो ८३ अंगों में विभक्त हैं। इनके अतिरिक्त परिशिष्ट में २३ अंगों मे विभक्त २०६ साखियाँ और दी गयी है। इसी प्रकार श्री युगलानंद के 'सत्य कबीर की साखी'[2] में ७५ अंगो में विभक्त २६०० साखियाँ संगृहीत है और श्री विचारदास के 'सद्गुरु कबीर साहब का साखी-ग्रन्थ'[3] में ८४ अंगों में विभक्त ३९५० साखिया एकत्र की गयी है। इनके अतिरिक्त परिशिष्ट में 'प्रश्नोत्तर को अग' के अन्तर्गत ७४ साखियाँ और जोडी गयी हैं।

इन दो परम्पराओ से भिन्न साखी-संग्रह की तीसरी परम्परा साहित्यकारो की है। इनमें मुख्य रूप से बाबू श्यामसुन्दरदास, डॉ० पारसनाथ तिवारी, डॉ० माताप्रसाद गुप्त आदि आते हैं। बाबू साहब ने उपलब्ध दो हस्तलिखित प्रतियो तथा ग्रन्थ साहब के आधार पर 'कबीर ग्रन्थावली' का सपादन किया था, जिसमें ४०३ पद तथा ५९ अंगो मे विभक्त ८०९ साखियाँ सगृहीत है। इनके अतिरिक्त १९२ साखियाँ परिशिष्ट में दी गयी है। बाबू साहब द्वारा सपादित 'ग्रंथावली' का साहित्य-क्षेत्र में काफी प्रचार हुआ, क्योंकि कबीर पर उसे ही एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ माना गया। प्रत्येक स्तर पर उसी के अश पाठ्यक्रम में भी रखे गये। बाबू साहब का ग्रन्थ संवत् १९८७ में प्रकाशित हुआ था। उसके लगभग बीस वर्षों बाद डॉ० पारसनाथ तिवारी ने कबीर के प्रामाणिक साहित्य की परिश्रमपूर्वक खोज करके 'कबीर ग्रन्थावली' नामक ग्रन्थ में २०० पदो तथा कतिपय रमैनियो के साथ ७४४ साखियों को संगृहीत किया। ये साखियाँ ३४ अंगों में विभक्त है। बाबू साहब ने केवल दो हस्तलिखित प्रतियो और 'ग्रन्थ साहब' के आधार पर संपादन किया था। उन्हें उक्त दोनो प्रतियाँ पश्चिमी क्षेत्र से प्राप्त हुई थी, जिनकी भाषा में पजाब पन अधिक था। कबीर की भाषा में पंजाबीपन का आधिक्य बाबू साहब को भी खटका था। डॉ० तिवारी ने साखियों की संख्या, पाठ आदि के निर्धारण में १७ प्रतियों का उपयोग किया है। इनमें से पाँच प्रतियाँ दादूपथी शाखा की, एक प्रति निरंजनी शाखा की, एक गुरुग्रंथ की, दो बीजक की, दो शब्दावलियो की, तीन साखियो की, एक

१. रावपुरा, बडौदा से प्रकाशित, प्रथम सस्करण, सन् १९५२।
२. लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, कल्याण, बम्बई से प्रकाशित।
३. प्र०, कबीर धर्मवर्धक कार्यालय, सीयाबाग, बडौदा।

'सर्वंगी' की, एक 'गुणगंजनामा' की और एक 'आचार्य सेन' की है। इनके तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर उक्त संग्रह तैयार किया गया है। डॉ० तिवारी की मान्यता है कि "ये प्रतियाँ कबीर के नाम पर उपलब्ध प्रतियों के विपुल समुदाय का पूर्ण प्रतिनिधित्व कर देती है अर्थात् कबीर की वाणी का पाठ जिन विभिन्न रूपों से होकर गुजरा है, उनके सम्बन्ध में जितना उक्त प्रतियाँ बता देती हैं, उसके बाहर जाने को प्रायः कुछ नही रह जाता है।"[1] डॉ० तिवारी ने पाठानुसंधान का यह कार्य डॉ० माताप्रसाद गुप्त के निर्देशन में किया था। फिर भी डॉ० गुप्त को इस कार्य से सन्तोष नही हुआ। उन्होंने संवत् १७६२ की बनवारीदास की परम्परा की प्रति को आधार मानकर 'कबीर ग्रंथावली' का पुनः संपादन किया। यह संस्करण लगभग बाबू श्यामसुन्दर दास जैसा है। इसमे संगृहीत पदों और साखियो की संख्या, क्रम, अंग-विभाजन, पाठ, भाषा आदि लगभग बाबू साहब की 'कबीर ग्रंथावली' के ही समान है, केवल एक साखी बढ गई है।

प्रस्तुत संस्करण तैयार करने में हमारा ध्यान मुख्य रूप से कबीर के पाठ-शुद्धीकरण पर केन्द्रित रहा है। यत. कबीर के नाम से उपलब्ध साखियों की संख्या भिन्न-भिन्न संस्करणो में भिन्न-भिन्न है और ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नही है, जिसके आधार पर कबीररचित साखियो की संख्या सुनिश्चित की जा सके और यतः कबीर ने स्वयं साखियों का विभाजन 'अंगो' में नहीं किया था। यह परवर्ती संपादको और कबीर के पाठको का कार्य है। अतः साखियो की संख्या, क्रम और अंग-विभाजन में प्रस्तुत संस्करण में बाबू साहब तथा डॉ० माताप्रसाद गुप्त की प्रतियो को आधार बनाया गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत संस्करण में ८०९ साखियाँ दी गयी है, जो ५९ अंगों में विभक्त है। ये साखियाँ मुख्यतः दोहा छन्द में लिखी गयी हैं, केवल ६।७ सोरठा छन्द हैं। इनमे चार-पांच साखियाँ ऐसी है जिनकी पुनरावृत्ति हुई है। उनका यथास्थान निर्देश कर दिया गया है।

## पाठ-निर्धारण

कबीर की रचनाओ के सम्बन्ध में सबसे बड़ी समस्या पाठ-निर्धारण की है, क्योंकि प्रथमतः कबीर ने उनको स्वयं लिपिबद्ध नही किया था, दूसरे उन्हे छन्दशास्त्र का भी ज्ञान नहीं था। अतएव उनकी रचनाओ में भाषा-वैविध्य के साथ ही छन्द-दोष भी पाया जाता है। वस्तुत कबीर की वाणी का संकलन उनके शिष्यो द्वारा उन्ही के समय से प्रारम्भ हो गया था। ये शिष्य विभिन्न प्रान्तो के और अनेक बोलियो तथा भाषाओ के क्षेत्र के थे। वे प्राय. कम पढे-लिखे भी थे। अतएव उनके द्वारा कण्ठस्थ छन्दों को जब लिपिबद्ध किया गया तो स्वभावतः उनके संस्कारवश भाषा-भेद तथा छन्द-दोष आ गये। इसके अतिरिक्त स्वयं कबीर किसी एक भाषा के पण्डित नही थे। वे भ्रमणशील

---

१. कबीर ग्रन्थावली, भूमिका—पृ० ५३।

और बहुश्रुत व्यक्ति थे। राजस्थान, पजाब और गुजरात से होकर बगाल तक फैली कबीर की गद्दियाँ इस बात का प्रमाण है कि उन्होने लगभग पूरे उत्तर भारत की यात्रा की थी। इस अवसर पर वे विभिन्न भाषा-भाषी व्यक्तियों के सम्पर्क में आते रहे होगे। अतएव उनकी वाणी में अनेक बोलियो तथा भाषाओं के शब्दों का सम्मिश्रण स्वाभाविक ही कहा जायगा।

वर्तमान समय में कबीर का जो साहित्य उपलब्ध है, वह प्रायः तीन स्रोतो से प्राप्त हुआ है—राजस्थानी परम्परा, पंजाबी परम्परा और पूर्वी परम्परा। बाबू श्यामसुन्दर दास की 'कबीर ग्रन्थावली' की भाषा में पंजाबीपन अधिक है। इसका कारण यह है कि बाबू साहब ने जिन दो हस्तलिखित प्रतियो तथा ग्रंथ साहब के आधार पर ग्रन्थ का सम्पादन किया है, वे पंजाबी प्रभावापन्न थी। उन्होने स्वयं लिखा है कि "ग्रन्थ साहिब में कबीरदास जी की वाणी का जो संग्रह किया है, उसमें जो पंजाबीपन देख पडता है, उसका कारण तो स्पष्ट रूप से समझ में आ सकता है, पर मूल भाग में अथवा दोनो हस्तलिखित प्रतियो में जो पंजाबीपन देख पड़ता है, उसका कुछ कारण समझ में नही आता। या तो यह लिपिकर्त्ता की कृपा का फल है अथवा पंजाबी साधुओ की संगति का प्रभाव है।"[1] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि बाबू साहब ने जिन प्रतियो के आधार पर पाठ निर्धारित किया है, उनकी भाषा को वे प्रामाणिक या कबीर-कृत नही मानते। किन्तु अन्य प्रतियो के अभाव में उन्हे विवश होकर उक्त पाठ देना पडा है।

## भाषा

विगत वर्षों मे कबीर की भाषा पर विभिन्न विद्वानों द्वारा जो विचार व्यक्त किये गये है, उनसे प्राय· दो प्रकार के निष्कर्ष सामने आये है। कुछ लोगो ने कबीर के नाथपन्थी और मुस्लिम संस्कार के आधार पर उन्हे खडी बोली के उस रूप का कवि माना है जो अमीर खुसरो, वली, दक्खिनी हिन्दी तथा राजस्थानी कवियो की रचनाओ में पायी जाती है, दूसरी ओर अन्य लोग कबीर के काशीवासी होने के कारण उनकी भाषा को भोजपुरी या पूर्वी मानते है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा डॉ० उदयनारायण तिवारी कबीर को भोजपुरी का कवि मानने के पक्ष में है।[2] आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का कहना है कि "साखियो की भाषा में खडी का जितना अधिक व्यवहार मिलता है, उतना सबदी में नही। उसमें ब्रजी के शब्द कुछ अधिक मिलते है। रमैनी में पूर्वी रूप बराबर दिखाई देते है, जैसे—कोई-कोई या कोऊ-कोऊ के स्थान पर केऊ-केऊ। इस प्रकार विचार करने से यह कहा जा सकता है कि

---

१ कबीर ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ४-५।

२. कबीर बीजक, डॉ० शुकदेव सिंह, भूमिका, पृ० ४३-४४।

कबीर की तीन प्रकार की कृतियों में स्थूल रूप से हिन्दी की तीन उपभाषाओं की स्पष्ट और निश्चित प्रवृत्ति मिल जाती है।"[1] इस प्रकार मिश्र जी 'साखी में खड़ी, सबदी में ब्रजी और रमैनी में अवधी या पूर्वी' रूप देखकर मात्रा-भेद से उनकी रचनाओं को तीन उपभाषा या बोली वर्गों में विभक्त करने के पक्ष में प्रतीत होते हैं।

वस्तुतः कबीर की भाषा के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय टेढ़ी खीर है। अनुमान के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि यतः कबीर के जीवन का अधिकांश काशी में बीता, उनके भाषागत संस्कार अध्ययन की अपेक्षा श्रवण से बने, उन्होंने विभिन्न स्थानों की यात्रा की तथा अनेक प्रकार के साधु-सन्तों के सम्पर्क में आये, अतः उनकी भाषा का मूल आधार 'पूर्वी' रहा होगा, जिसमें अन्य बोलियों और भाषाओं के लोक-प्रचलित शब्द अनायास ही आ गये होंगे।

प्रस्तुत संग्रह के पाठ-निर्धारण मे उपर्युक्त भाषा-नीति को ही आधार बनाया गया है। इसके अतिरिक्त इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि पाठ में छन्द-दोष न्यूनातिन्यून रहे तथा अर्थ में भी संगति बनी रहे। रमैनी के जो विभिन्न संस्करण उपलब्ध हैं, उनमें भाषा-सम्बन्धी विशेष अन्तर नही पाया जाता है। लगभग सभी 'बीजकों' की भाषा एक क्षेत्र की है। ब० ख० के पाठ लगभग एक-जैसे हैं बलि० के पाठ में भोजपुरी का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त उसमें 'राम-नाम, के स्थान पर प्रायः 'सत्यनाम' कर दिया गया है। छ० प्रति में छन्द-दोष अधिक विद्यमान है। बा०, वं० प्रतियों में शब्दों के संस्कृतीकरण की प्रवृत्ति अधिक परिलक्षित होती है। रमैनी के पाठालोचन में डॉ० शुकदेव सिंह का कार्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, किन्तु उन्होंने भी भगताही पाठ को अधिक प्रामाणिक एवं प्राचीन मानकर पाठ स्थिर करते समय उसी को आधार बनाया है। हमारी दृष्टि में उक्त पाठ में भी कई त्रुटियाँ दिखाई पड़ी। अतएव उसको भी अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार नही किया गया है। कुछ उदाहरणों से हमारी बात स्पष्ट हो जायगी :—

डॉ० शुकदेव सिंह की प्रति का पाठ — प्रस्तुत पाठ

१. तिनि पुनि रचल खण्ड ब्रह्मण्डा—तिन्ह पुनि रचल पिण्ड ब्रह्मण्डा। ( २।५ )
२. ई ले ऊ व्यवहार—ई लयऊ व्यवहार। ( दूसरी रमैनी की साखी )
३. धर्ती अकास दुई गाड़ खोदाया—महि अकास दुइ गाड खँदाया। ( २८।२ )
४. चाँद सूर्य दुई नारी बनाया—चाँद सुरुज दुइ नरी बनाया। ( २८।२ )
५. सहस्र तार ले पूरन पूरी—सहसतार लै पूरिन पूरी। ( २८।३ )
६. कहहिं कबीर कर्म ते जोरी—कहहिं कबीर करम सो जोरी। ( २८।४ )
७. छठये मांह सभ गैल बिगोई—छठये मा सभ गैल बिगोई। ( ३७।३ )

---

१. हिन्दी-साहित्य का अतीत ( भाग१), पृ० १५२।

८. वैसे शब्द बतावे जीव को—सब्द बतावै जीव को। ( ३'७ वी साखी )

९. करमत सो जग भो औतरिया—कर्म तो सो जो भव औतरिया,
   करमत सो निजाम को घरिया। कर्म तो सो जो निमाज को घरिया।
( ३९।३ )

१०. हमरे कहल दुष्ट वहु भाई—हमरहि कहँ छूटिहौ भाई। ( ४२।६ )

११ हबीब औ नबी के कामा—नबी हबीबी के जो कामा। ( ४८।५ )

१२. दिया नखत तन कीन्ह पयाना—दिया खताना किया पयाना।
( ६६—साखी )

१३. सुख को ले सन सपनेहु पावै—सुख को लेस न सपनेहु पावे। ( ८४।५ )

इसी प्रकार डॉ० शुकदेव सिंह की प्रति में ६१ वी रमैनी की दूसरी पंक्ति और ७५ वी रमैनी की दूसरी पंक्ति छूट गयी। प्रस्तुत संस्करण में इस प्रकार की त्रुटियों से सावधान रहते हुए, अधिक प्रामाणिक एवं शुद्ध पाठ देने की चेष्टा की गयी है।

साखियों और पदो में पंजाबी अथवा राजस्थानी के अधिक प्रयोग असंगत प्रतीत होते है। यह कबीर की स्वाभाविक भाषा नही हो सकती। अतएव इनके पाठ-निर्धारण में प्रयत्न किया गया है कि जहाँ तक सम्भव हो, रमैनियो के समान इनकी भाषा में भी एकरूपता लायी जाय और कबीर-वाणी के मूल अथवा निकट से निकट पहुँचा जा सके।

पाठ-निर्धारण में भाषा के अतिरिक्त छन्द तथा अर्थ को भी ध्यान में रखा गया है। बाबू साहब तथा डॉ० गुप्त की संस्करण मे साखियो की भाषा में जो पंजाबीपन का आधिक्य है, वह निश्चित रूप से परवर्ती लोगो की देन है। इस दृष्टि से डॉ० तिवारी का पाठ अधिक सगत प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त बाबू साहब के पाठ मे कतिपय ऐसी साखियाँ है जिनमें एक-दो अक्षर इधर या उधर जुड गए है, अथवा हस्तलिखित प्रतियो के पढ़ने मे भूल हो जाने से त्रुटि रह गई है। इससे पाठ नितान्त अशुद्ध हो गया है और अर्थ करने में भ्रान्तियाँ बढी है। आश्चर्य यह है कि वैज्ञानिक पाठालोचक डॉ० गुप्त ने भी ऐसे दोषो पर ध्यान नही दिया और लगभग वही भ्रष्ट पाठ स्वीकार कर लिया जो बाबू साहब की प्रति में विवशतावश आ गया था। ऐसे कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे है—

| ना० प्र० का पाठ | प्रस्तुत पाठ |
| --- | --- |
| नैनाँ अतरि आँचरू | नैनाँ अँतरि आव तूँ। ( ३।३३ ) |
| भेला पाया श्रम सों | भेला पाया सरप का। ( ३।४३ ) |
| कबीर देख्या एक अंग | कबीर देखा इक अगम। ( ५।३८ ) |
| सालै चिता सनेह | सालै चित्त सनेह। ( ६।१ ) |
| ओ अगाध एका कहै | ओ अगाध ए का कहै। ( ९।१ ) |

| | |
|---|---|
| सुरति ढीकुली लै जल्यौ | सुरति ढीकुली लेज लौ। ( १०।२ ) |
| दो जग तौ हम अंगिया | दोजख तौ हम अंगिया। ( ११।७ ) |
| संकल हो तैं सब लहै | सांकर हू तें सवल है। ( १६।२५ ) |
| काँ सिकड़् वासुत कलित | कांसि कुड़ुंवा सुत कलित। ( १७।२२ ) |
| नां सुपनै तरगंम | नां सुपिनंतर गंम। ( ३१।४ ) |
| सतगुण सी गणिनँहि | सर गुण सींगणि नाँहि। ( ४०।५ ) |
| हीरावण जिया | हीरा वनजिया। ( ४५।२८ ) |
| नां तूँ वड़ी न | नां तुमरी नां वेलि। ( ५८।१ ) |

### भावार्थबोधिनी व्याख्या

प्रस्तुत कार्य का विशेष प्रयोजन कवीर-साहित्य की एक ऐसी प्रामाणिक एवं स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करना रहा है, जो कवीर की साधना और सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के साथ उसके साहित्यिक वैशिष्ट्य को भी उद्घाटित कर सके। आधुनिक विद्वान् टीका-व्याख्या लिखना अधिक सम्मानजनक नही मानते। प्रायः मूल कृति के अध्ययन के विना ही वड़े-वड़े मोटे समीक्षात्मक ग्रन्थ तैयार कर दिये जाते है। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ है कि आज के छात्र कवि की रचना से अपरिचित ही रह जाते है। आलोचनात्मक ग्रन्थों के अध्ययन से तलोपरिक ज्ञानोपार्जन द्वारा ही उन्हे सन्तोष करना पड़ता है। संस्कृत में टीका-भाष्य आदि लिखने की लम्वी परम्परा मिलती है और अनेक टीकाकार या भाष्यकार मूल लेखक से भी अधिक ख्यातिलब्ध हो गये है। हिन्दी में लाला भगवानदीन सदृश कुछ विद्वानों ने ही इस दिशा में रुचि ली।

कवीर का साहित्य सीधा-सरल नहीं है। उसमें एक साधक-चित्त की अनुभूति की गहराई है। कवि ने जिस अनिर्वचनीय परमतत्त्व को वाणी का विषय वनाया है, उसकी अभिव्यक्ति अभिधा द्वारा सम्भव नही। अतः उसने प्रतीकों का सहारा लिया है अथवा ध्वनि या व्यञ्जना के द्वारा उस परमानन्द का संकेत किया है। इसीलिए उनकी वाणी प्राय: अटपटी या उल्टी लगती है। उनके काव्य में निहित प्रतीकों या अन्यार्थ को समझे विना, भावों की गहराई तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है। इसके अतिरिक्त कवीर के पहले नाथ-योगियों, वौद्ध सिद्धों तथा अन्य साधना-सम्प्रदायों की लम्वी परम्परा थी। अनेक पारिभाषिक शब्द इन सम्प्रदायों में परम्परा से प्रयुक्त होते चले आ रहे थे। कवीर ने अपनी वात स्पष्ट करने के लिए अनेक शब्दों को ग्रहण किया है। किन्तु यहाँ उनका अर्थ ठीक वही नही रह गया है, जो परम्परा से मान्य है। कवीर ने उन्हे नयी अर्थवत्ता से भास्वर कर दिया है। अतएव कवीर को समझने के लिए विशिष्ट शब्दो की परम्परा और पृष्ठभूमि से अवगत होना आवश्यक है।

कबीर-वाणी पर अर्थ या व्याख्या की दृष्टि से दो क्षेत्रों में कार्य हुए हैं। 'बीजक' अथवा रमैनियो की टीका प्रायः कबीरपन्थी साधुओं द्वारा की गयी है और साखियो तथा पदो की व्याख्या साहित्यिक विद्वानो द्वारा। ये टीकाएँ प्रायः एकांगी प्रतीत होती है। कबीरपन्थी साधु काव्य-गुणो से अपरिचित रहे ही है, पूर्वग्रह अथवा पन्थाग्रह से भी ग्रस्त रहे है। फलतः उनके द्वारा लिखी गयी टीकाएँ साहित्य के विद्यार्थी के लिए अनुपयोगी है। अभी तक हमारे देखने में जो टीकाएँ आयी, वे सन्तोषजनक नही प्रतीत हुई। कही-कही तो एक ही रमैनी की दो-दो, तीन-तीन विचारो के आधार पर व्याख्या लिखी गयी है, जिनमे पूर्वापर सामञ्जस्य नही दिखलाई देता। इसी प्रकार साखी आदि की व्याख्या में भी बहुत असमञ्जसता दिखाई पड़ी। कबीर की वाणी की सर्व-सम्मत व्याख्या तो प्रायः सम्भव नही है, किन्तु उनकी वाणी सही परिप्रेक्ष्य में समझी जा सके, इसी लक्ष्य की पूर्ति हेतु यह प्रयत्न किया गया है। प्रस्तुत अर्थ करने में यह दृष्टि रही है कि पूर्वापर सामञ्जस्य बना रहे और कबीर को साधक और कवि के रूप में वास्तविक सन्दर्भ में समझा जा सके। इस लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए 'कबीर-वाङ्मय' की सुविस्तृत भावार्थबोधनी व्याख्या एवं उनके साहित्य, पन्थ, दर्शन और साधना की प्रामाणिक समीक्षा की योजना बनी। प्रस्तुत ग्रंथ इसी विशाल एवं महत्वपूर्ण योजना का अंग है। इसका प्रथम खण्ड 'रमैनी' नाम से प्रकाशित हो चुका है। प्रस्तुत तीसरे खण्ड में 'साखियो' की व्याख्या दी गयी है। दूसरा खण्ड 'सबद या पद' से सम्बद्ध होगा, जो शीघ्र ही प्रकाशित किया जायगा। चौथे और पाँचवे खण्ड में क्रमशः कबीर की जीवनी, साहित्य, दार्शनिक, सिद्धान्त और साधना सम्बंधी विवेचन रहेगा और छठा खण्ड 'कबीर कोश, का होगा। इस ग्रन्थ में आत्मा शब्द सर्वत्र पुलिंग में प्रयुक्त हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के संग्रह-सम्पादन एवं लेखन में जिन कृतियों का सहारा लिया गया है, उनके लेखको के प्रति हम हार्दिक आभार व्यक्त करते है। विश्वविद्यालय प्रकाशन के संचालक श्री पुरुषोत्तमदास मोदी के हम विशेश रूप से अनुगृहीत है, जिन्होने कागज के संकट एवं अभाव को समस्या का समाधान करते हुए बड़ी लगन एवं तत्परता से 'कबीर वाङ्मय' को प्रकाशित करने की उदारता दिखायी है।

सितम्बर, १९७६

जयदेव सिह
वासुदेव सिह

# साखी

## (१) गुरुदेव को अंग

**सतगुरु सवाँ न[1] को सगा, सोधी सईं न दाति।**
**हरिजी सवाँ न[2] को हितू, हरिजन सईं न जाति[3] ॥ १ ॥**

शब्दार्थ—सगा = सं० स्वक (यहाँ 'क' स्वार्थे है) अपना। सवां = समान, सोधी= शुद्धि। दाति = दान 'दाति' शुद्ध संस्कृत शब्द 'दान' के अर्थ में वैदिक काल से चला आ रहा है। देखिए—हव्यदाति = हव्य का दान। सईं = समान।

व्याख्या—सद्गुरु के समान कोई सगा या अपना नही है। शुद्धि ( हृदय की ) के समान कोई दान नही है। सद्गुरु ही हृदय की शुद्धि करता है। यही उसका सबसे बड़ा दान है। इस शुद्धि के समान दूसरा कोई दान नहीं हो सकता। सद्गुरु अपनी दृष्टि द्वारा अथवा वचन द्वारा शिष्य में ऐसे मानस-तरंग उत्पन्न करता है जो उसकी नाड़ियों में प्रवाहित होते हुए उसके रक्त और चित्त दोनों का शोधन करते है। कबीर के कहने का भाव यह है कि इस शुद्धि से बढ़कर कोई दूसरा दान नही है।

हरि के समान कोई हित करनेवाला नही है और हरिसेवक के समान कोई जाति नही है। कबीर के कहने का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण ही सर्वश्रेष्ठ जाति नही है, जो प्रभु का भक्त है, उसी की जाति सर्वश्रेष्ठ है।

*** बलिहारी गुरु आपको, घरी घरी सौ बार।[4]**
**मानुष तैं देवता किया, करत न लागी बार॥ २॥**

शब्दार्थ—वार = विलम्ब, दफा या मर्तबा, द्वार। बलिहारी = न्यौछावर, 'बलि' शब्द 'देय' के अर्थ मे प्रयुक्त होता है, किन्तु विशेषतः 'देवताओ के प्रति जो दिया जाय'—इस

---

१. ना० प्र०—सवाँन। २. ना० प्र०—सवांन।

३. [ अ ] सतगुरु सम को है सगा, साधू सम को दात।
हरि समान को है हितू, हरिजन सम को जात ॥ ३ ॥—सतगुरु को अंग–विचारदास
[ आ ] हनुमान दासजी की प्रति ( सतगुरु का अंग ॥ ३।१ ) में भी यही पाठ है।
[ इ ] कुछ ग्रन्थों में सभी दोहों के प्रारम्भ में 'कबीर' शब्द लगा मिलता है।

४. ना० प्र० का पाठ—
बलिहारी गुरु आपणैं, द्यौं हाडी कै वार। जिनि मानिष तैं देवता, करत न लागी वार ॥ २ ॥

* गुरु ग्रंथसाहब में यह साखी नानक देव के नाम से मिलती है—पाठ इस प्रकार है—
बलिहारी गुरु आपणे दिउहाडी सदवार। जिनि माणस ते देवते कीए करत न लागी वार ॥ १ ॥
—मिशन संस्करण, पृ० ४६२।

अर्थ मे 'वलि' का प्रयोग अधिक देखने में आता है। 'वलि' के साथ 'हृ' धातु का प्रयोग संस्कृत मे भी मिलता है। इसका अर्थ होता है—ले जाना। 'वलिहारी' शब्द का संस्कृत में अर्थ होता है—वलि को ले जानेवाला, वलि को देनेवाला। हिन्दी में यह शब्द भाववाचक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होता है, जिसका अर्थ होता है—वलि देने का भाव अर्थात् उत्सर्ग।

व्याख्या—मैं अपने गुरु पर घड़ी-घडी सैकडों वार न्यौछावर जाता हूँ जिसने हमको मनुष्य से दिव्य कर दिया और जिसको ऐसा करने में विलम्ब न लगा।

इस साखी की प्रथम पंक्ति का एक अन्य पाठ अधिकांश प्रतियो मे इस प्रकार है—'वलिहारी गुरु आपणै, द्यौहाड़ी कै वार।' इसमे 'द्यौहाडी' शब्द ही अधिक दुर्बोध है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने 'द्यौहाड़ी' का अर्थ 'दिवस' किया है। किन्तु यह अर्थ किस आधार पर लिया गया है, इसको वतलाने की उन्होने कृपा नही की है।

'द्यौहाड़ी' शब्द 'द्योहर' का विकृत रूप है। द्योहर>देवघर>देवगृह का तद्भव है। इसका अर्थ है—देवालय। उसके साथ 'वार' का अर्थ होगा—द्वार। इस प्रकार 'साखी' का भाव यह होगा कि मैं अपने उस गुरु पर न्यौछावर जाता हूँ, जो कि देवालय का द्वार है अर्थात् जिसके माध्यम से मैं देव का साक्षात्कार कर सकता हूँ। 'द्यौहाड़ी कै वार' अर्थात् 'देवगृह का द्वार' गुरु का समानाधिकरण है। 'साखी' की दूसरी पंक्ति में अर्थ-भेद नही है।

ना० प्र० स० की प्रति में 'दौं हाडी कै वार' पाठ है। इसका अर्थ होगा कि मैं कितनी ही वार या दफा हड्डी तक समर्पित कर दूँ तो भी उऋण नही हो सकता।

**सतगुरु की महिमा अनँत, अनँत किया उपगार[1]।**
**लोचन अनँत उघारिया[2], अनँत दिखावनहार[3] ॥ ३ ॥**

शब्दार्थ—अनँत = अपार, असीम, जिसका कोई आदि-अंत नही है अर्थात् काल से परे। उपगार = उपकार। लोचन = दृष्टि। उघारिया = खोलकर। दिखावनहार = दिखलानेवाला।

व्याख्या—सद्गुरु की महिमा अपार है। उसका उपकार असीम है। उसने अनँत दृष्टि खोलकर, उस प्रभु को, जिसका कोई आदि-अत नही है अर्थात् जो काल से परे है, दिखलाने की कृपा की है।

'अनँत दृष्टि' के दो अर्थ हो सकते है—(१) अनँत की दृष्टि। (२) वह दृष्टि जिसका अन्त नही अर्थात् जिसमें घट-वढ नही होती। ये दोनो अर्थ यहाँ लग सकते है।

---

१ हनु०, त्रि०—उपकार। २ ना० प्र०—उघाड्या। ३ ना० प्र०—दिखावणहार।

राम नाम कै पटंतरे, देबे कौं कुछ नांहि।
क्या[1] लै गुरु संतोषिए,[2] हौंस[3] रही मन मांहि ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—पटंतरै = बरावरी। देवेकौ–देवेको = देने के लिए, देने योग्य। हौंस = हौसला, उत्साह, उमंग। क्या लै = (मुहाविरा) किस वस्तु से।

व्याख्या—गुरु ने मुझे राम नाम दिया है। उसके बराबर बदले में संसार में देने को कुछ नही है। तो फिर मैं गुरु को क्या देकर सन्तुष्ट करूँ? कुछ देने की अभिलाषा मन के भीतर ही पिहित ( बंद ) रह जाती है।

भाव यह है कि गुरु ने मुझे राम नाम का ऐसा दान दिया है कि मैं उसके अनुरूप कोई दक्षिणा देने में असमर्थ हूँ।

सतगुरु कै[4] सदकै करूँ[5], दिल अपनीं[6] का साछ[7] (साँच)।
कलिजुग हम सौं[8] लडि पड़ा,[9] मुहकम मेरा बाछ[10] (बाँच) ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—सदकै = ( अ० ) न्यौछावर। साछ = साक्ष्य। मुहकम = ( अ० ) दृढ, मजबूत, टिकाऊ। बाछ = वांछा, आकांक्षा, (बाँच) = बचा हुआ।

व्याख्या—अपने दिल के साक्ष्य से अर्थात् सच्चे हृदय से मैं सद्‌गुरु के चरणों में अपने को न्यौछावर करता हूँ। कलियुग मुझे विचलित करने के लिए लड़ पडा। किन्तु सद्‌गुरु की कृपा से मेरी वांछा अर्थात् प्रभु-प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा दृढ़ है। वह मेरा कुछ न विगाड़ सकेगा।

यदि 'दिल अपनी का साँच' पाठ लिया जाय तो अर्थ होगा—'मैं अपने सच्चे दिल से सद्‌गुरु की न्यौछावर करता हूँ। दूसरी पंक्ति में 'मुहकम' अर्थात् दृढ विशेषण शब्द है; किन्तु यदि 'मुहकम मेरा बाँच' पाठ लिया जाय तो 'मुहकम' का प्रयोग विशेष्य के रूप में माना जायगा तब अर्थ होगा कि मेरी दृढ़ता बची हुई है अर्थात् कलियुग के प्रहार से भी मैं अपने पथ से नहीं डिग सकता।

सतगुरु शब्द कमान ले, बाहन लागे तीर।
एक जु बाहा प्रीति सों, भीतर बिधा शरीर ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—कमान = धनुष। बाहन = फेंकना। बाहा = चलाया।

व्याख्या—सद्‌गुरु ने शब्दरूपी धनुष लेकर आतम-ज्ञानरूपी बाण चलाया। एक तीर जो उसने प्रेम से चलाया, वह मेरे शरीर के भीतर प्रविष्ट होकर बिंध गया।

---

१. हनु०—कह। २. तिवारी-संतोखिए। ३. हनु.—हवस। ४. हनु०—से। ५. तिवारी, हनु०—किया। ६ ना० प्र०—अपणी, हनु०—अपने को साँच। ७ तिवारी—साँच। ८. ना० प्र०—स्यूँ। ९. ना० प्र०—पड्या। १० तिवारी, हनु०—बाच।

११. सतगुरु लई कमाँण करि, बाँहण लागा तीर।
एक जु बाह्या प्रीति सूँ, भीतरि रह्या सरीर ॥ ६ ॥

ना० प्र० स० की प्रति मे पाठ है—सतगुरु लई कमाँण करि ! यहाँ 'करि' 'कर' का सप्तमी है, जिसका अर्थ है—कर में, हाथ में। इस प्रकार का प्रयोग प्राचीन हिन्दी में प्रायः मिलता है।

अलंकार—रूपक

सतगुरु साँचा सूरिवाँ, सबद जु बाह्या एक।
लागत ही भैं [1]मिलि गया, पड्या कलेजै छेक ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—सूरिवाँ = सूरमा, शूर। सबद = शब्दरूपी शक्तिपात (शक्तिपात तीन प्रकार से होता है—स्पर्श, दृष्टि और शब्द से। यहाँ भाव है कि गुरु ने शब्द का शक्तिपात किया)। बाह्या = फेंका। भैं = भर में। छेक = छेद।

व्याख्या—सद्गुरु सच्चा शूर है। उसने ऐसा शब्द फेककर मारा कि वह लगते-भर में ही मेरे भीतर प्रविष्ट कर गया और कलेजे को छेदकर पार कर गया अर्थात् उसके लगते मात्र ही मेरे हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ गया।

कही-कही पाठ है 'भय मिटि गया'। इसका अर्थ होगा कि शब्दरूपी बाण लगते ही मेरा भय मिट गया।

यदि 'म्वैं या भुईं' पाठ लिया जाय तो अर्थ होगा कि शब्द-बाण के लगते ही मैं भूमि में मिल गया, धराशायी हो गया। परन्तु इस पाठ मे 'मिलि गया' का कर्त्ता 'मैं' अलग से लगाना होगा। ऊपरवाले पाठ में 'मिलि गया' का कर्त्ता उसके पूर्व प्रयुक्त 'सबद' है।

सतगुरु मार्‌या बाण भरि, धरि करि सूधी[2] मूठि।
अंगि उघारै[3] लागिया, गई [4]दवा सूँ फूँटि ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—सूधी मूठि = सीधी मूठ, सीधी मुट्ठी मे पकड़कर अर्थात् ठीक लक्ष्य करके। दवा = दावाग्नि। सूँ = समान, तरह। उघारै = खुले हुए।

व्याख्या—सद्गुरु ने सीधा लक्ष्य करके पूरी शक्ति से शब्द-बाण मारा। वह मेरे (शिष्य के) नंगे अंग पर लग गया अर्थात् आर-पार हो गया और मेरे भीतर दावाग्नि जैसी फूट पडी।

भाव यह है कि जैसे कवचरहित नंगे अंग पर बाण लगने से वह आर पार हो जाता है। उसका निशाना चूकता नही, वैसे ही सद्गुरु का शब्द-बाण मेरे आर-पार हो गया अर्थात् मेरे ऊपर उसका पूर्णतः प्रभाव पड़ गया। और मेरे भीतर परमब्रह्म के साक्षात्कार के लिए विरह की आग फूट निकली।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

---

१. गुप्त, तिवारी-भुइँ, हनु०। भय मिटि। विचार०—भय मिटि, युगला० भय मिटि।
२. वि० यु०—धीरी। ३ ना० प्र०—उघाडै। ४ हनु०, यु०—दुवासो, तिवारी—दवा सौं।

हँसै न बोलै उन्मनी, चंचल [1]मेल्ह्या मारि।
कहै कबीर भीतरि भिधा, [2]सतगुरु कै हथियार ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—उन्मनी = ( i ) जहाँ प्राण और मन एक हो जाते हैं। मन स्थिर हो जाता है। आत्म-साक्षात्कार की अवस्था। ( ii ) मन को गति समाप्त हो जाती है। उसका संकल्प विकल्पात्मक स्वभाव बदल जाता है। चंचल= प्र० अ०) मन। मेल्ह्या = (मेल्हना क्रिया) = बेचैन करना।

व्याख्या—कबीरदास कहते हैं कि सद्गुरु का शब्द-बाण इस प्रकार भीतर बिंध गया कि उसने चंचल मन को मार डाला अर्थात् अमनस्क कर दिया ( 'मन को मारना' एक अवस्था है जिसमें संकल्प-विकल्पात्मक मन की स्वाभाविक चंचलता समाप्त हो जाती है और मन में स्थैर्य-भाव आ जाता है। ) और उन्मनी स्थिति प्राप्त हो गयी। परिणाम-स्वरूप वह न हँसता है, न बोलता है। यहाँ 'हँसै न बोलै' लाक्षणिक प्रयोग है। इसका भाव यह है कि मन का स्वाभाविक व्यापार समाप्त हो जाता है और वह एक विचित्र शान्ति का अनुभव करता है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

इसमें व्यञ्जना यह है कि वह एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जिसका वर्णन वह शब्दों में नहीं कर सकता।

टिप्पणी—उन्मनी—

उन्मनी और मनोन्मनी पर्यायवाची शब्द हैं। इस स्थिति का 'हठयोग प्रदीपिका' में इस प्रकार वर्णन किया गया है:—

मारुते मध्यसंचारे मन स्थैर्य प्रजायते। यो मनः सुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी। ( २।४२ )

अर्थात् जब प्राणवायु का मध्यनाड़ी अर्थात् सुषुम्ना में सम्यक् रूप से संचार होने लग जाता है, तब मानव का संकल्प—विकल्पात्मक मन, जो स्वभावतः चंचल है, स्थिर हो जाता है। मन के इस सुस्थिर भाव को मनोन्मनी या उन्मनी अवस्था कहते हैं।

उन्मनी अवस्था में तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है। तत्त्व का साक्षात्कार तब तक नहीं हो सकता, जब तक संकल्प—विकल्पात्मक मन की चंचलता समाप्त नहीं हो जाती। यह ऐसी स्थिति है जहाँ मन का स्वाभाविक कार्य समाप्त हो जाता है। इसलिए मन के स्वभाव को ध्यान में रखते हुए इसे 'अमनस्क अवस्था' कहते है और इस अवस्था में साक्षात्कार की जो नयी स्थिति प्राप्त होती है, उसे 'उन्मनी' कहते है। यह मन के ऊपर की स्थिति है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

---

१. हनु० मेला। २. युगला० बिंधा।

गूँगा हूवा बावला, बहरा हूवा कान।
[1]पाऊँ तैं [2]पंगुल भया, सतगुरु[3] मारा बान[4] ॥ १० ॥

शब्दार्थ—पाऊँ = पैर। तै = से। पंगुल = लँगड़ा।

व्याख्या – सद्‌गुरु का शब्द-बाण लगने पर शिष्य गूँगा और बावला-सा हो जाता है और कान से बहरा तथा पैर से पंगु-सा हो जाता है। शब्द-बाण मारने का अर्थ है—शब्द द्वारा शक्तिपात करना।

गूँगा, बावला, बहरा, पंगु आदि का भाव है—ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का विषय से विरत हो जाना। गूँगा, बावला और बहरा ज्ञानेन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति की समाप्ति के द्योतक हैं। 'पाऊँ तै पगुल भया' कर्मेन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति का द्योतक है। विषयों की ओर प्रवृत्त न होने से वह लौकिक दृष्टि से गूँगा, बावला, बहरा और पंगु-सा लगता है।

* पीछैं लागा जाइ था, लोक वेद के साथि।
आगैं[5] थैं सतगुर मिल्या, दीपक दीया[6] हाथि ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—दीपक = ( प्र० अ० ) = ज्ञान। थैं=से।

व्याख्या—मैं लोक और वेद के पीछे लगा हुआ था अर्थात् साधारण लौकिक और वैदिक मान्यताओं के बन्धन में पड़ा हुआ था। उनके साथ पीछे पीछे घूम रहा था। इतने ही में सद्‌गुरु ने मुझे अज्ञानरूपी अंधकार में भटकते देखकर आगे से आकर अर्थात् बढ़कर हाथ में ज्ञानरूपी दीपक दे दिया।

इसमें गुरु के अनुग्रह की व्यञ्जना है। शिष्य को भटकते देखकर उसने बचा लिया।
अलंकार— रूपकातिशयोक्ति।

दीपक दीया[7] तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहना[8], बहुरि न आंवौं हट्ट ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—अघट्ट=न घटनेवाली। बिसाहना = क्रय-विक्रय। हट्ट = हाट, बाजार, (प्र० अ०)–संसार।

---

१. हनु०, वि०, यु०—पावन ते। २. ना० प्र०—थैं। ३. ना० प्र०–मार्‌या, ४. ना० प्र०—बाण।
५. तिवारी—पैंड़े मै। ६. युगला०—दीन्हा।
* हनु० की प्रति में— बहे बहाने जात थे, लोक वेद के साथ।
बीचहि में सतगुरु मिले, दीपक दीन्हा हाथ ॥
( सतगुरु का अंग—७ )
७. यु०—दीना, हनु०—दीन्हा। ८ ना० प्र०—बिसाहुणा, तिवारी–बिसाहुना।

व्याख्या—गुरु ने ज्ञानरूपी दीपक प्रेमरूपी तेल से भरकर दिया और उसमें कभी न घटनेवाली सुरति की वत्ती डाल दी जिसके द्वारा मैंने संसाररूपी बाजार में अपना सब प्रारब्धजन्य कर्म समाप्त कर लिया और पुनः अब इस बाजार में नहीं आऊँगा अर्थात् अब मैं जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो गया हूँ।

तुलनीय—सुरति निरति का दिवला सँजोले,
मनसा की कर ले वाती।
प्रेम हटी ते तेल मँगा ले,
जल रहा दिन राती॥
—मीरा

प्रस्तुत साखी लालदास के नाम से भी मिलती है—
लाल जी दीपक जोरा तेल भरि, वाती करी सुघाट।
पूरा किया बिसावनां, बहुरि न आवै वाट॥
—याज्ञिक संग्रह

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

**ग्यान प्रकासा[1] गुरु मिला[2], सों जिनि बीसरि जाइ।**
**जब गोविंद क्रिपा[3] करी, तब गुर मिलिया आइ॥ १३॥**

शब्दार्थ—प्रकासा=प्रकाशित हुआ। वीसरि=भूलना।

व्याख्या—जब गुरु मिला तब ज्ञान प्रकाशित हो गया। मुझे अब यही प्रयत्न करना है कि जिस गुरु के द्वारा मेरे भीतर ज्ञान प्रकाशित हुआ है, उसको मैं किसी प्रकार भुला न दूँ। जब प्रभु ने अनुग्रह किया, तभी गुरु आकर मिला।

'सों' सर्वनाम गुरु और ज्ञान दोनों के लिए हो सकता है। प्रस्तुत साखी 'गुरुदेव को अंग' के अन्तर्गत है, जिसमें गुरु की महिमा का विशेष रूप से वर्णन हुआ है। इसलिए 'सो' को गुरु के लिए ही लेना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यदि हम 'सों' को ज्ञान के लिए लें तो अर्थ होगा—अब हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि जो ज्ञान गुरु के द्वारा प्राप्त हुआ है, उसे हम अपनी सावधानता और साधना से सुरक्षित रखें, जिससे वह क्षीण न होने पावे।

**कबीर गुर गरवा मिल्या, रलि गया आटैं लौंन[4]।**
**जाति पाँति कुल सब मिटे, नाँव धरौगे कौंन[5]॥ १४॥**

शब्दार्थ—रलि गया=घुल-मिल गया। लौन=नमक। गुर गरवा=गुरुत्व युक्त गुरु।

१. ना० प्र०—प्रकास्या। २. ना० प्र०—मिल्या। ३. ना० प्र० कृपा।
४. ना० प्र०—लूणँ। ५. ना० प्र०—कौंण।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि प्रभु की कृपा से मुझे गौरवशाली गुरु मिल गया। उसकी कृपा से मैं प्रभु में उस प्रकार एकमेक हो गया, जिस प्रकार आँटे मे नमक मिलकर एकमेक हो जाता है। जैसे नमक अपने पृथक् अस्तित्व को खो देता है, वैसे ही नाम-रूप समाप्त हो जाने से मेरा पृथक् अस्तित्व मिट गया। जाति-पाँति और कुल आदि नाम-रूप पर ही आश्रित है। जब नाम-रूप के साथ मेरा आपा ही समाप्त हो गया, तब मेरे लिए जाति-पाँति या कुल निरर्थक हो गये। अब मुझे कोई किस नाम से अभिहित कर सकेगा?

अलंकार—प्रतिवस्तूपमा।

**जाका गुरु भी अँधला, चेला खरा[1] निरंध।**
**[2]अंधहि अंधा ठेलिया, दोनों[3] कूप पडंत॥ १५॥**

शब्दार्थ—निरन्ध = घोर अधा।

व्याख्या—जिसका गुरु अन्धा है अर्थात् अज्ञानी है, उसका चेला तो और घोर अन्धा अर्थात् महाअज्ञानी होगा। अन्धे को जब दूसरा अन्धा ढकेलकर आगे ले चलता है, तब दोनो कुएँ में जा गिरते है अर्थात् भव-कूप में पड़कर नष्ट हो जाते है।

यहाँ 'ठेलिया' शब्द बहुत व्यञ्जक है। ज्ञानी गुरु तो आगे चलकर मार्ग-दर्शन करता है। किन्तु जो स्वयं अन्धा है, वह शिष्य को पीछे से ठेलकर आगे बढ़ाएगा। प[रि]णाम यह होगा कि दोनो ही कूप में गिरकर विनष्ट हो जाएँगे।

तुलनीय—जाव ण अप्पा जाणिज्जइ, ताव ण सिस्स करेइ।
अंधे अध कढ़ावइ, तिम वेण्ण वि कूव पड़ेइ॥
—सरहपा-दोहाकोष

× × ×

अन्धे अन्धा मिलि चले, दादू बाँधि कतार।
कूप पडे हम देखता, अन्धे अन्धा लार॥
—दादू

**नाँ गुर मिल्या न सिष[4] भया, लालच खेल्या डाव।**
**दोनौं[5] बूड़े धार मै, चढ़ि पाथर की नाव॥ १६॥**

शब्दार्थ—डाव = दाँव। सिष = शिष्य।

व्याख्या—साधना तभी सफल होती है, जब वास्तविक ज्ञानी गुरु मिले और सच्चा निष्ठावान शिष्य मिले। यदि सच्चा गुरु नही मिलता है और न सच्चा निष्ठावान शिष्य मिलता है तो दोनो लालचवश केवल अपने-अपने दाँव अर्थात् स्वार्थ-सिद्धि में लगे रहते है।

---

१ गुप्त—है जा चंध। २ वि०, यु०—अन्धे को अन्धा मिला, पड्या काल के फन्द। ३. ना० प्र०—दून्यूँ। ४. तिवारी-सिख मिला। ५ ना० प्र०—दून्यूँ।

गुरु इस दाँव में लगा रहता है कि वह अपने महत्त्व प्रदर्शनार्थ शिष्यो की संख्या बढ़ाए और उनसे धन-मानादि प्राप्त करे। शिष्य इस दाँव मे लगा रहता है कि किसी गुरु का शिष्य कहलाकर वह अपनी गणना सन्तों में करवाकर मान प्राप्त करे। यही दोनो का दाँव खेलना है। किन्तु सच्चे गुरु-शिष्य के अभाव में साधना की दृष्टि से दोनों भव-सागर में वैसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे पत्थर की नाव पर चढ़नेवाले नदी की धार मे डूब जाते हैं। 'पाथर की नाव' में व्यञ्जना यह है कि अपने बोझ के कारण वह धार के तल पर बह नही सकती, डूब जाती है। ऐसे ही दिखावा मात्र के लिए झूठी साधना भी आगे चल नही सकती। उसका अवलम्ब करनेवाले विनाश को प्राप्त होते हैं। अपनी झुठाई के बोझ से वह 'पाथर की नाव' के समान शिष्य गुरु दोनो को ले डूबती हैं।

ऐसे ही गुरु-शिष्य के सम्बन्ध में तुलसीदास ने लिखा है :—

गुरु सिस बधिर अंध कर लेखा।
एक न सुनइ एक नहिं देखा॥

**चौसठि दीवा जोइ करि, चौदह चंदा माँहि।**
**तिहि घर किसकौ चाँन्दना,[1] जिहि घर गोविंद[2] नाँहि॥ १७॥**

शब्दार्थ—जोइ = सँजोकर। चौसठ दीवा = ६४ दीपक—(प्र० अ०) चौसठ कलाएँ। चौदह चंदा = द्वितीया से पूर्णिमा तक १४ दिन, (प्र० अ०) १४ विद्याएँ। चाँदना = प्रकाश, उजाला।

व्याख्या—जैसे किसी घर में चाहे चौंसठ दीपक जलाये जायँ और चन्द्रमा अपनी चौदह कलाओं से प्रकाशमान हो, परन्तु यदि उसमें कोई निवास करनेवाला नही है तो वहाँ किसका प्रकाश होगा? अर्थात् सारा प्रकाश व्यर्थ है। उसी प्रकार जिस हृदय-मन्दिर में प्रभु का वास नही है अर्थात् जो भगवद्भक्त नही हैं, उसने चाहे चौंसठ कलाओं और चौदह विद्याओ का भलीभाँति परिशीलन कर लिया हो, फिर भी उसका हृदय अन्धकारमय ही रहेगा। वास्तविक प्रकाश प्रभु का प्रेम है। कलाओ और विद्याओं की निपुणता वास्तविक प्रकाश नही है

टिप्पणी—(i) यहाँ ६४ दीपक, ६४ कलाओ का प्रतीक है और १४ चन्दा, १४ विद्याओ का प्रतीक है।

(ii) द्वितीया से पूर्णिमा तक १४ दिन चाँदनी के होते है।

(iii) ६४ कलाएँ निम्नलिखित मानी गयी है :—

१. गीत, २. वाद्य, ३. नृत्य, ४. चित्रकारी, ५. भोजपत्र के पत्तो को तिलक की आकृति में काटना, ६. पूजन के लिए चावल और रंग-बिरंगे फूलो को सजाना, ७. घर-

[1] तिवारी—चादिनौं, ना० प्र०—चानिणाँ। २. तिवारी, हनु०—सतगुर।

या कमरों को फूलों से सजाना, ८ शरीर, कपड़ो और दाँतों पर रंग चढ़ाना, ९. फर्श पर मणियो को बिछाना, १०. शय्या की रचना, ११. उदकवाद्य, १२. जलघात, १३. मन्त्र-तन्त्रो के प्रयोग, १४. माला गूँथना, १५. शिर के आभूषणो को उचित स्थान पर धारण करना, १६. अपने को या दूसरो को वस्त्रालंकार से सजाना, १७. हाथीदाँत, शंख से अलकारो को बनाना, १८. सुगन्धित द्रव्य तैयार करना, १९. आभूषणों से मणियाँ सजाना, २०. इन्द्रजाल की क्रीड़ाएँ करना, २१. वाजीकरण प्रयोग, २२. हाथ की सफाई, २३. भोजन बनाने का कौशल, २४. पेय पदार्थों को बनाने का कौशल, २५. सिलाई, २६. सूत से चित्र बनाना, २७. वाद्य-वादन, २८. पहेलियो को बुझाना, २९. अन्त्याक्षरी, ३०. कठिन श्लोक कहना, ३१. पुस्तक वाचन, ३२. नाटकादि का ज्ञान, ३३. कविता द्वारा समस्यापूर्ति, ३४. बेंत और सरकण्डे की वस्तुएँ बनाना, ३५. मीनाकारी व पच्चीकारी, ३६. बढ़ईगीरी, ३७. गृह-निर्माण कला, ३८. मणियो और रत्नो की परीक्षा, ३९. धातु शोधन, ४०. मणियों को रंगना, ४१. वृक्षायुर्वेद, ४२. भेड़ा-मुर्गा आदि लड़ाना, ४३. तोता-मैना पढ़ाना, ४४. शरीर की मालिश की कला, ४५. सांकेतिक अक्षरो का अर्थ-ज्ञान, ४६. गुप्त भाषा विज्ञान, ४७. विभिन्न देशो की भाषाओं का ज्ञान, ४८. फूलो से रथ-गाड़ी आदि बनाना, ४९. शकुन-विचार, ५०. स्वचालित यन्त्रो को बनाना, ५१. स्मरण-शक्ति बढ़ाने की कला, ५२, याद किये श्लोको को दुहराना, ५३. विक्षिप्त अक्षरो से श्लोक बनाना, ५४-५५. शब्दकोशो और छन्दों का ज्ञान, ५६. काव्यालंकार का ज्ञान, ५७. बहुरूपियापन, ५८. वस्त्र-धारण की कला, ५९. द्यूत-क्रीडा की कला, ६०. पासा खेलना, ६१. बच्चो के खेलो का ज्ञान, ६२. आचार शास्त्र, ६३. विजय दिलानेवाली विद्याएँ, ६४. व्यायाम विद्या।

१४ विद्याएँ निम्नलिखित हैं :—

ब्रह्मज्ञान, रसज्ञान, कर्मकाण्ड, संगीत, व्याकरण, ज्योतिष, धनुर्विद्या, जलतरन, न्याय, कोक, अश्वारोहण, नाट्य, कृषि, वैद्यक।

अथवा

६ वेदांग = शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्ति, छन्द, ज्योतिष।

४ वेद = ऋक्, यजु, साम, अथर्वण तथा मीमासा; न्याय, धर्मशास्त्र, पुराण।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

**निस अँधियारी कारणै, चौरासी लख चंद।**
**[1]अति आतुर ऊदै किया, तऊ दिष्टि [2]नहिं मंद॥ १८॥**

शब्दार्थ—कारणै=अन्धकार दूर करने के लिए। निस अँधियारी = अज्ञानरूपी अन्धकार। मन्द = मूर्ख। आतुर=वेग से, जल्दी-जल्दी। ऊदै किया=उदित किया।

१. तिवारी—गुरु बिनु अति ऊदै भये, विचार० गुरु बिन येते उदय है। २ तिवारी—रहि, विचार०—सुद्रिष्टि हि।

व्याख्या—जैसे रात्रि के घोर अन्धकार को दूर करने के लिए चाहे बड़ी आतुरता से ८४ लाख चन्द्रमा उदित किये जायँ अर्थात् उनका प्रकाश पुंजीभूत किया जाय, तब भी जो निसर्गतः मन्द-दृष्टि है, उसको दिखलायी नही दे सकता, ठीक उसी प्रकार प्रकृति से ही ( मन्द ) अज्ञानी जीवों को चाहे लाखो शास्त्रों के उपदेश मिलें, तब भी उनकी आन्तरिक दृष्टि नही खुलती।

इसमें व्यञ्जना यह है कि आन्तरिक दृष्टि केवल गुरु के द्वारा खुल सकती है, शास्त्र के द्वारा नही।

अलंकार—विशेषोक्ति।

**भली भई जु गुर मिल्या, नातर[1] होती हानि[2]।**
**दीपक जोति[3] पतंग ज्यूं, पड़ता[4] आप निदान[5] ॥ १९॥**

शब्दार्थ—निदान=अन्ततः।

व्याख्या—यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे गुरु मिल गया, अन्यथा मेरी बड़ी हानि होती अर्थात् मेरा आध्यात्मिक पतन हो जाता। जैसे दीपक की ज्योति से आकृष्ट होकर अन्ततः पतंग जल मरता है, वैसे ही माया की चकाचौंध से आकृष्ट होकर मै भी अन्ततः विनष्ट हो जाता। इस साखी की दूसरी पंक्ति का अन्य पाठ इस प्रकार है :—

'दीपक दिष्टि पतंग ज्यूँ, पड़ता पूरी जाँणि।'

इसका अर्थ होगा—जैसे पतंग की दृष्टि में दीपक ही अत्यन्त आकर्षक वस्तु होती है, वैसे ही मैं भी मायारूपी दीपक के आकर्षण से विनष्ट हो जाता। इसको अच्छी तरह से जान लो अर्थात् इसमें कुछ भी संदेह नही।

अलंकार—उपमा।

**माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इवैं पडंत[6]।**
**कहै कबीर गुर ग्यान तैं,[7] एक आध उबरंत ॥ २० ॥**

शब्दार्थ—इवैं=इसी में। तैं=से। उवरंत=उबरता है, बचता है। भ्रमि-भ्रमि= मँडराकर, भ्रम में पड़कर।

व्याख्या—माया दीपक के समान है और नर पतंग के समान। जैसे पतंग दीपक के चाकचिक्य से आकृष्ट होकर, भ्रमवश मँड़रा-मँड़राकर उसमें निमग्न होकर विनष्ट हो जाता है, वैसे ही मनुष्य माया के आकर्षण से भ्रमवश विषयो को प्रिय समझकर उनकी ओर चक्कर काटते हुए, उनमें निमग्न होकर नष्ट हो जाता है। कबीर कहते है कि माया का आकर्षण इतना प्रबल है कि कोई एक-आध ही गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान से उससे बच सकता है।

---

१. ना० प्र०—नहीं तर। २. ना० प्र०—हाणि। ३ ना प्र—दिष्टि। ४ ना. प्र.—पड़ता पूरी जाँणि। ५. तिवारी—जानि। ६. तिवारी, मांहि। ७. ना० प्र०—थैं।

तुलसीदास ने भी कहा है—

दीप सिखा सम जुवति तन, मन जनि होसि पतंग।
भजहि राम तजि काम मद, करहि सदा सतसग॥
(मानस—३।४६)

अलंकार—सागरूपक

**सतगुरु बपुरा क्या करै, जे सिषही माँहै चूक।**
**भावै त्यौं[1] परमोधिए, ज्यूँ वंसि[2] वजाई फूक॥ २१॥**

शब्दार्थ—बपुरा=बेचारा। जे = यदि। चूक=भूल, त्रुटि। वसि=वंशी, बाँसुरी। भावै=जैसा चाहे। परमोधिए ले = अर्थ निकाल ले।

व्याख्या—सद्‌गुरु के साथ-ही-साथ शिष्य को भी एकनिष्ठ और श्रद्धालु होना चाहिए। बेचारा सद्‌गुरु क्या कर सकता है, यदि शिष्य में ही खोट है। ऐसा शिष्य अपने पूर्वग्रहों और वासनाओं के कारण गुरु के उपदेश से मनमाना अर्थ निकाल लेता है। जैसे वंशी में कोई इच्छानुसार राग बजा लेता है, वैसे ही वह शिष्य गुरु के उपदेश से मनचाहा अर्थ निकाल लेता है। गुरु का वास्तविक प्रभाव दोषग्रस्त शिष्य पर नही पड़ता।

अलंकार—उदाहरण।

**संसै खाया सकल जग[3], संसा [4]किनहूँ न खद्ध।**
**जे बेधे[5] गुरु अष्षिरां,[6] तिनि संसा चुनिचुनि[7] खद्ध॥ २२॥**

शब्दार्थ—संसा=संशय। अष्षिरा=उपदेश द्वारा।

व्याख्या—आध्यात्मिक जीवन में श्रद्धा का प्रथम स्थान है। जो प्रत्येक विषय में संशय रखता है, वह आध्यात्मिक जीवन में उन्नति नही कर सकता।

कबीर कहते है कि संशय ने समस्त जगत् को खा लिया है अर्थात् उससे कोई नही बचा है, किन्तु संशय को कोई न खा सका अर्थात् कोई भी ऐसा व्यक्ति नही है जो सशय पर पूरा अधिकार प्राप्त कर ले। जो गुरु के उपदेशो से विद्ध है, वे ही संशय को चुन-चुनकर खा डालने में समर्थ होते है।

टिप्पणी—'जे बेधे गुरु अष्षिरा' मे प्राचीन कर्मवाच्य प्रयोग है। इसका अन्वय है—'जो गुरु अष्पिरां बेधे' अर्थात् जो गुरु के अक्षरो से बेधे गये है, विद्ध हुए है।

गीता में भी कहा गया है—'संशयात्मा विनश्यति।'

---

१. ना० प्र०—त्यूँ प्रमोधि ले, गुप्त—परमोधि ले। २. तिवारी, गुप्त—वासि। ३. ना० प्र०—जुग। ४ हनु०—संशय काहु। ५. हनु०—बधे। ६. हनु०—अक्षरा। ७. ना० प्र०—चुणि-चुणि।

चेतनि चौकी बैंसि[1] करि, सतगुरु दीन्ही[2] धीर।
निरभै होइ निसंक भजु,[3] केवल कहै कबीर॥ २३॥

शब्दार्थ—चेतनि=ज्ञान। वैसिकरि=वैठकर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि ज्ञान की चौकी पर वैठकर सद्गुरु ने धैर्य वँधाया और यह कहा कि निर्भय और निःशंक होकर तू अकेले परमात्मा को भज।

अलंकार—अनुप्रास।

सतगुर मिल्या त का भया, जे मनि पाड़ी[4] भोल।
[5]पांसि विनंठा कप्पड़ा, क्या करै विचारी चोल॥ २४॥

शब्दार्थ—चोल=मजीठ। विनंठा=विनष्ट। भोल=भूल, भ्रम। मनि=मन में ( प्राचीन सप्तमी प्रयोग )। पांसि=(सं० पांशु)=धूल।

व्याख्या—सद्गुरु मिला भी तो क्या हुआ, यदि मन में ( मौलिक ) भूल पड़ी हुई है अर्थात् यदि मन अत्यन्त मलिन है। यदि पांशु अर्थात् धूल से कपड़ा मलिन होकर नष्ट हो गया है तो मंजीठ वेचारी क्या कर सकती है अर्थात् उस पर रंग कैसे आ सकती है ?

टिप्पणी—मंजीठ एक प्रकार की लता होती है, जिसकी जड़ो और डंठलो को उवालकर लाल रंग निकाला जाता है।

अलंकार—दृष्टान्त।

बूड़ा[6] था पै ऊबरा, गुरु की लहरि चमंकि[7]।
भेरा[8] देख्या जरजरा, (तव) ऊतरि पड़े फरंकि॥ २५॥

शब्दार्थ—लहरि = कृपा, मौज, ज्ञान की तरंग। चमंकि = चमकी, प्रकाशित हुई। भेरा = एक तरह की नाव, भेला। जरजरा = जीर्ण। फरंकि = अलग होकर, फड़ककर। पै = किन्तु।

व्याख्या—मैं वाह्याचार तथा कर्मकाण्डरूपी नाव पर चढ़कर भवसागर को पार करना चाहता था। इससे मैं डूबनेवाला ही था, किन्तु गुरु की अनुग्रह-तरंग चमकी या प्रकाशित हुई, जिससे मैं वच गया। मैंने यह देख लिया कि मेरी कर्मकाण्डरूपी नौका जर्जर है। यह हमें भवसागर के पार नही ले जा सकती। यह तो हमें डुवो ही देगी। वस, फड़ककर उस नाव से उतर पड़ा अर्थात् कर्मकाण्डरूपी साधन को छोड़कर गुरु के द्वारा वताये गये मार्ग का अनुगमन किया।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

---

१. विचार, युगला०—वैठि के। २. युगला० ना० प्र०—दीन्हौं। ३. ना० प्र०—भजि। ४. विचार०—मन परिगा। ५ विचार०—कपास विनाया कापडा। ६. ना० प्र०—वूडे थे परि ऊवरे। ७ विचार, हनु०, युगला०—चमक्क। ८. तिवारी—जव भेरा देखा, हनु०, विचार०—वेडा देखा झाझरा, उतरी भया ( भयो ) फरक्क।

**गुरु गोविंद तौ[1] एक है, दूजा यहु[2] आकार।**
**[3]आपा मेट जीवत मरै, तौ पावै करतार॥ २६॥**

शब्दार्थ—आकार=उपाधि, शरीर। आपा = अहंता, खुदी। करतार=ईश्वर, कर्त्ता।

व्याख्या—गुरु और प्रभु ( गोविंद ) वस्तुतः एक ही है। दोनो मे केवल उपाधि-भेद है अर्थात् नाम-रूप का भेद है। यदि अपनी अहंता ( खुदी ) को मिटाकर कोई जीते ही मर जाय तो प्रभु का साक्षात्कार कर सकता है। जीव का अज्ञान की अवस्था में अहंता ( मैं-मेरा ) भाव ही जीवन है। शरीर रहते हुए 'मैं-मेरे' भाव का समाप्त हो जाना ही 'मरण' है। 'जीवति ही मरि जाय' का भाव यह है कि शरीर-प्राण रहते हुए 'मैं-मेरे' का भाव समाप्त हो जाय। कबीर ने अन्यत्र भी इसी प्रकार कहा है :—

ऊँचा तरुवर गगन फल, विरला पंछी खाय।
वा फल को तो वो चखै, (जो) जीवत ही मरि जाय॥

अलंकार—विरोधाभास।

**कबीर सतगुर ना मिल्या, रही अधूरी सीख[4]।**
**स्वाँग जती का पहिरि करि, घरि घरि माँगै भीख[5]॥ २७॥**

शब्दार्थ—सीख = शिक्षा। जती = (सं० यती), साधक, साधु। स्वाँग = वेश।

व्याख्या—कबीर कहते है कि यदि सद्गुरु नही मिला और शिक्षा अधूरी रह गई, तब शिष्य केवल साधु या संन्यासी का वेश बनाकर घर-घर भीख माँगता फिरता रहता है।

**सतगुर साँचा[6] सूरिवाँ[7], तातैं लोहि लुहार।**
**कसनी[8] दे कंचन किया, ताइ लिया ततसार॥ २८॥**

शब्दार्थ—सूरिवाँ = शूरवीर। तातै = तप्त, गरम। कसनी = कसौटी। ततसार = सारतत्त्व। ताइ लिया = मूँदकर रखा, सुरक्षित रखा।

व्याख्या—इस साखी मे सद्गुरु के लिए दो दृष्टान्त दिये गये है। पहले चरण में लोहार का और दूसरे चरण में सोनार का। लोहार लोहे को तप्त करके पीटकर इच्छानुसार मोड लेता है। कबीर कहते है कि सद्गुरु सच्चा शूर है, जो कि शिष्यरूपी लोहे को साधनारूपी अग्नि मे तप्त करके जैसा चाहता है, वैसा मोड लेता है। दूसरे चरण में सोनार का दृष्टान्त है। सोनार कसौटी पर कसकर सोने को परख लेता है, ठीक वैसे ही सत्गुरु शिष्य को साधना या नियमों की कसौटी पर कसता है और उसके भीतर जो सारतत्त्व निहित है, उसको प्रलोभनो और उपद्रवो से बचाकर सुरक्षित रखता है।

---

१ हनु०, विचार०, युगला०—दोउ। २. तिवारी, हनु०, विचार०, युगला०—सब। ३ अन्य प्रतियों में—आपा मेटैं हरि भजै, तब पावै दीदार। ४ ना० प्र०—सीष। ५ ना० प्र०—भीष। ६. तिवारी—मेरा. ७ हनु०, विचार०—सतगुरु तो ऐसा मिला। ८ ना० प्र०—कसणी।

टिप्पणी—'ताइ लेना' का अर्थ है—किसी वस्तु को घड़े आदि में मूँदकर सुरक्षित रखना, जिससे वह बाहर की वायु—धूल आदि से बचा रहे। यहाँ 'ताइ लिया' का लक्ष्यार्थ है—सुरक्षित रखना।

अलंकार—दृष्टांत।

**थापनि[1] पाई थिति भई[2], सतगुर दीन्हीं धीर।**
**कबीर हीरा बनिजिया[3], [4]मानसरोवर तीर॥ २९॥**

शब्दार्थ—थापनि = स्थापना, गुरु द्वारा शिष्य की पुष्टि। थिति = शांति, स्थिरता। धीर = धैर्य। बनिजिया = व्यापारी।

व्याख्या—सद्गुरु ने अपने अनुग्रह और उपदेश से धैर्य प्रदान किया, जिससे स्वरूप में निष्ठा दृढ़ हो गयी। कबीर अब मानसरोवर अर्थात् चैतन्य के तट पर ज्ञान-रत्न का संग्राही व्यापारी हो गया है। वह बाहरी साधनाओं से हटकर अन्तर्मुखी साधना करने लगा है।

यदि 'हीरा बनजिया' समस्त पद लिया जाय तो अर्थ होगा—हीरे का व्यापारी। यदि 'हीरा बनजिया' अलग-अलग लिया जाय तो 'बनजिया' क्रियापद हो जायेगा और अर्थ होगा—हीरे का व्यापार। इससे मूल भाव में कोई अन्तर नही आता है।

यहाँ 'हीरा' ज्ञान का प्रतीक है। 'मानसरोवर' में मानसरूपी सरोवर की व्यंजना है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति

**निहचल[5] निधि मिलाइ तत, सतगुर साहस धीर।**
**निपजी मैं साझी घना[6], बाँटे[7] नहीं कबीर॥ ३०॥**

शब्दार्थ—निहचल = अक्षय। निधि = कोष, (प्र० अ०)—परमानन्द। तत = तत्व, (प्र० अ०) जीवात्मा। निपजी = उत्पन्न हुआ। साझी = भागीदार। घना = अनेक। मैं = मे

व्याख्या—सद्गुरु ने साधना में साहस और धैर्य देकर जीवात्मारूपी तत्व को अक्षय परमानन्द में संयुक्त कर दिया। उस उत्पन्न हुए आनन्द को बांटने के लिए अनेक भागीदार खड़े हो गये। किन्तु कबीर उसे बांट नही सकते, क्योंकि साक्षात्कार प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपनी अनुभूति का विषय है। वह अविभाज्य है, दूसरो को बाँटा नही जा सकता।

बौद्ध साधक नागार्जुन ने भी 'तत्त्व' का लक्षण बताते हुए उसे 'अपर प्रत्ययं' कहा है, जिसका अर्थ है—वह प्रत्यय या अनुभूति जो दूसरो को कोई दे नही सकता।

---

१. ना० प्र०—थापणि। २ गुगला०—थिर भया। ३. ना० प्र०—बणिजिया। ४. गुगला०—मीन सरोवर। ५. विचार०, गुगला०—निश्चय निधी। ६ ना० प्र०—घणाँ। ७ विचार०, गुगला०—बाँटनहार।

**चौपड़ि माँडी चौहटै, अरध उरध बाजार[1]।**
**कहै[2] कबीरा राम जन, खेलौ सन्त विचार ॥ ३१ ॥**

शब्दार्थ—चौपडि = चौसर ( सं०—चतुस्सारि ) एक प्रकार का खेल जो बिसात पर चार रंगो की चार-चार गोटियो और तीन पासो से दो मनुष्यो में खेला जाता है। माँड़ी = मंडित किया, सजाया। चौहटै = चौराहे पर। अरध = अधः, नीचे। उरध = ऊर्ध्व, ऊपर।

व्याख्या—यहाँ त्रिकुटी को 'चौहट' कहा है जो कि दोनो भौहो के मध्य मे है। उससे ऊपर के चक्रो को 'उरध' कहा गया है और नीचे के चक्रो को 'अरध' द्वारा संकेतित किया गया है। इस त्रिकुटी में आज्ञाचक्र है। आज्ञाचक्र के खुलने पर ऊपर नीचे के मार्ग खुल जाते है। कबीरदास कहते है कि इस त्रिकुटी पर साधनारूपी चौसर बिछायी गयी है और उसके ऊपर-नीचे बाजार लगा हुआ है। 'बाजार' जीवनोपयोगी वस्तुओं के क्रय-विक्रय का स्थल होता है। इन चक्रों के खुलने से परिपूर्ति अथवा सिद्धि का मार्ग खुल जाता है। परन्तु रामजन अर्थात् रामभक्त कबीर ने अपने शिष्यो को यह संकेत दिया है कि इस चौसर को सावधानी से खेलो अर्थात् हठयोग द्वारा प्रतिपादित कुंभक आदि कष्टसाध्य साधनाओ के चक्कर में न पड़कर सरल मार्ग 'सुरति शब्द योग' की डोर पकड़ो तो तुममें वही सिद्धि आ जाएगी, जो कुंभक, प्राणायाम आदि द्वारा प्राप्त होती है।

यहाँ 'राम जन' कबीर का भी विशेषण हो सकता है और 'सन्त' का भी। यदि 'सन्त' का विशेषण लिया जाय तो अर्थ होगा—राम के भक्त संत जन विचार कर खेलो। किंतु 'खेलो सन्त विचार' पृथक् वाक्याश है, इसलिए 'राम जन' को कबीर का विशेषण मानना अधिक समीचीन होगा।

टिप्पणी—गोरखनाथ ने तान्त्रिक साधना द्वारा इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इस प्रकार उपदेश दिया है:—

अरध उरध बिचि धरी उठाई, मधि सुंनि में बैठा जाई।
मतवाला की संगति आई, कथंत गोरखनाथ परम गति पाई ॥ ७८ ॥
( गोरखबानी, पृ० २८ )

इसका भाव यह है कि अधः अर्थात् नीचे जानेवाली अपानवायु और ऊर्ध्व अर्थात् ऊपर जानेवाली प्राणवायु को बीच में उठाकर रखा अर्थात् केवल कुंभक किया और 'मधि सुंनि' ( मध्य शून्य ) अर्थात् ब्रह्मरंध्र में जा बैठा। वहाँ मतवाले शिव को संगति मिली। गोरखनाथ कहते है कि इस प्रकार हमें परमगति प्राप्त हो गयी।

---

१ तिवारी—बाजारि। २. तिवारी—सतगुर सेती खेलता, कबहुँ न आवै हारि।

कबीर ने भी ऊपर-नीचे के चक्रों की बात कही है, किन्तु कबीर की विशेषता यह है कि सिद्ध और नाथ सम्प्रदायों की तान्त्रिक साधना द्वारा जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, वे कबीर के अनुसार उनके भक्तिपूर्ण 'सुरति शब्द योग' से ही प्राप्त हो सकती हैं, जिसमें कुम्भक आदि कष्टसाध्य साधनाओं की आवश्यकता नहीं रहती।

**पासा पकड़ा[1] प्रेम का, सारी किया सरीर।**
**सतगुर दाँव बताइया, खेलै दास कबीर॥ ३२॥**

शब्दार्थ—सारी = चौसर, यहाँ 'सारी' चौसर के उस कपड़े के लिए आया है, जिसे बिसात कहते हैं। इसी पर चौसर खेला जाता है। पासा = हाथीदांत या हड्डी के उँगली के बराबर छः पहले टुकड़े, जिनके पहलों पर बिन्दियाँ बनी होती हैं और जिन्हें चौसर के खेलने में खेलाड़ी बारी-बारी फेंकते हैं। जिस बल ये पड़ते हैं उसी के अनुसार बिसात पर गोटियाँ चली जाती हैं और अन्त में हार-जीत होती है।

व्याख्या—३१वीं साखी के भाव के क्रम में कबीरदास कहते हैं कि कबीर ने प्रेम की गोटी पकड़ी है और शरीररूपी बिसात पर वह सद्गुरु द्वारा बताये गये दाँव से चौसर खेल रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि सद्गुरु का मार्ग प्रेम का मार्ग है।

अलंकार—सांगरूपक।

**सतगुर हम सूँ[2] रीझि करि, कहा[3] एक परसंग[4]।**
**बरसा[5] बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग॥ ३३॥**

शब्दार्थ—परसंग = प्रसंग, रहस्य की बात।

व्याख्या—सद्गुरु ने प्रसन्न होकर हमसे एक रहस्य की बात बतलायी, जिससे प्रेम का बादल इस प्रकार बरसा कि हम उसमें भींग गये।

अलंकार—रूपक।

**कबीर बादल प्रेम का[6], हम परि बरस्या[7] आइ।**
**अंतरि भीगी[8] आतमाँ, हरी भई बनराइ॥ ३४॥**

शब्दार्थ—बनराइ = वनराजि।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि सद्गुरु के बताये हुए मार्ग से प्रेम का बादल उमड़कर हमारे ऊपर बरसने लगा। हमारा अन्तरात्मा भीग गया और जीवनरूपी वनराजि हरी हो गयी।

अलंकार—रूपक।

---

१. ना० प्र०—पकड्या। २. तिवारी, विचार०, युगला०—सौं। ३. ना० प्र०—एक कह्या, विचार० युगला०—कह्यो एक। ४. ना० प्र०—प्रसंग। ५. ना० प्र०—बरसया। ६. युगला०—को। ७ ना० प्र०—बरष्या। ८ युगला०—भीजी।

पूरे सूँ परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि।
निर्मल कीन्ही आत्माँ, ताथैं सदा हजूरि॥ ३५॥

शब्दार्थ—मेल्या = फेंक दिया, निकल गया। ताथैं = इस कारण। हजूरि = उपस्थिति, विद्यमानता, साक्षात्, आमना-सामना। पूरे = पूर्ण, ब्रह्म। परचा = परिचय।

व्याख्या—गुरु-कृपा से मेरा पूर्ण अर्थात् ब्रह्म से परिचय हो गया और मैंने अपने सब दुःख झाड़कर दूर फेंक डाले अर्थात् मेरे सभी कष्ट जाते रहे। मेरा आत्मा निर्मल हो हो गया। मेरी पूर्ण शुद्धि हो गयी। इसलिए अब मुझे ब्रह्म का साक्षात्कार सदैव विद्यमान रहता है।

●

## ( २ ) सुमिरन को अंग

कबीर कहता जात है,[१] सुनता[२] है सब कोइ।[(अ)]
राम कहें भल होइगा, नहिं[३] तर भला न होइ॥ १॥

शब्दार्थ—नहि तर = नही तो, अन्यथा।

व्याख्या—कबीरदास कहते हैं कि मैं कहता जाता हूँ अर्थात् बराबर कहता रहा हूँ और सभी मेरी बात सुनते भी हैं, किन्तु मेरे उपदेश के अनुरूप कोई आचरण नही करता। मेरा कहना यही है कि प्रभु के स्मरण से ही कल्याण होगा और किसी प्रकार से कल्याण नहीं हो सकता।

कबीर कहै मैं कथि गया, कथि गये[४] ब्रह्म महेस।
राम नाम[५] ततसार है, सब काहू उपदेस॥ २॥

शब्दार्थ—कथि = कह। ततसार = सारतत्त्व।

व्याख्या—कबीर कहते है कि ब्रह्मा और शिव ने सारे संसार को एक मुख्य उपदेश दिया है और मैं भी वही कहता हूँ कि राम-नाम ही वास्तव में सार वस्तु है। यह उपदेश सबके लिए है अर्थात् बिना वर्ण, जाति, सम्प्रदाय और लिंग के भेद के राम की भक्ति का अधिकार सबको है।

तत्त तिलक तिहूँ लोक मैं, रामनाम[६] निज सार।
जन कबीर मस्तक[७] दिया, सोभा अधिक[८] अपार॥ ३॥

शब्दार्थ—तत्त = तत्त्व। तिलक = श्रेष्ठ। सार = निचोड़। जन = भक्त।

व्याख्या—तीनो लोकों में श्रेष्ठ तत्त्व रामनाम है और वही अपना भी सार है। भक्त कबीर ने अपने मस्तक पर उसको धारण कर लिया और इससे उनके जीवन में अपार शोभा आ गयी।

'तिलक' शब्द में यह व्यञ्जना है कि वह सर्वश्रेष्ठ है और सारे जीवन की शोभा भी उसी रामनाम से है। उसके बिना जीवन निस्सार है। तिलक मस्तक के शोभा की वस्तु है और वह अपने विश्वास का प्रतीक भी।

---

१. ना० प्र०—हूँ। २. ना० प्र०—सुणता। ३. तिवारी—नातर।

(अ) —कहता हूँ कहि जात हूँ, सुनता है सब कोय।
सुमिरन से भल होयगा, ना तर भला न होय॥ १३२॥ (हनु०)—(गुलाल० ९८)

४. ना० प्र०—गया। ५ ना० प्र०—नाँव। ६. ना० प्र०—नाँव। ७. तिवारी—मस्तकि।
८. तिवारी—अनंत।

भगति भजन हरि नाँव है, दूजा दुक्ख अपार।
मनसा वाचा कर्मना,[१] कबीर सुमिरन[२] सार॥ ४॥

शब्दार्थ—कर्मना = कर्म से। मनसा = मन से। वाचा = वचन से।

व्याख्या—प्रभु की भक्ति और उनके नाम का भजन ( जप ) यही वस्तुतः सार है और सब बातें अपार दु.ख है। कबीर का यह कहना है कि मन, वचन और कर्म से प्रभु का स्मरण ही जीवन का सार है।

अलंकार—यथासंख्य।

कबीर सुमिरन[३] सार है, और सकल जंजाल।
आदि अंत सब[४] सोधिया, दूजा देखौं[५] काल[६]॥ ५॥

शब्दार्थ—सोधिया = शोध किया, खोजा।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि प्रभु का स्मरण ही जीवन का सार है और सब बातें बन्धन में डालने वाली हैं। मैंने आदि-अन्त सब कुछ छानकर देख लिया है। प्रभु के नाम के अतिरिक्त, अन्य सभी वस्तुएँ विनाशकारी काल ही है।

चिंता[७] तौ हरि[८] नाँव की, और न चितवै[९] दास।
जे कछु चितवैं राम[१०] बिन, सोइ काल की पास[११]॥ ६॥

शब्दार्थ—चिंता = चिंतन। चितवै = चिंतन करना। पास = पाश, बंधन।

व्याख्या—दास कबीर कहते हैं कि मैं तो केवल हरि नाम का चिन्तन करता हूँ और किसी वस्तु का चिन्तन नही करता। जो लोग राम को छोड़कर और कुछ चिन्तन करते हैं, वह चिन्तन काल के जाल के समान बन्धन और मृत्यु में फँसाने वाला होता है।

पँच[१२] सँगी पिव पिव[१३] करै, छठा जु सुमिरै मंन[१४]।
आई सूति[१५] कबीर की, पाया राम रतंन[१६]॥ ७॥

शब्दार्थ—पंच सँगी = पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, जो जीव की संगिनी है। जु = जो। सूति=स्वाति। रतन = मुक्ता रूपी रत्न।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मेरी पाँचों इन्द्रियाँ उसी प्रकार से अपने प्रिय प्रभु की रट लगाये हुए हैं, जैसे चातक स्वाति नक्षत्र की आशा में 'पिउ पिउ' रटता रहता है और मेरी जो छठी इन्द्रिय मन है, वह उसी प्रभु का निरन्तर स्मरण करता रहता है। कबीर

---

१. ना० प्र०—क्रमनाँ। २. ना० प्र०—सुमिरण। ३. ना० प्र०—सुमिरण। ४. हनु०—मध; विचार०, युगला०—मधि। ५ हनु०, विचार०-देखा। ६. युगला०-ख्याल। ७. ना० प्र०—च्यंता। ८ हनु०, विचार०—सतनाम। ९. ना० प्र०—चिंता। १०. हनु०, विचार०, युगला०—नाम। ११. हनु०, विचार०, युगला०—फास। १२ तिवारी, विचार०—पाँच संगि, हनु०—पाँच सखी। १३. तिवारी—पिउ पिउ, हनु०—पिय पिय। १४. हनु०—मन्न। १५. हनु०, विचार०, युगला०—सुरति। १६. हनु०—रतन्न।

सीप के समान है, जिसमें स्वाति के बूँद गिरते है, तब वह राम रूपी मुक्ता-रत्न को पाकर निहाल हो जाते हैं ।

टिप्पणी—( १ ) भारतीय दर्शन के अनुसार इन्द्रियाँ छः हैं—पाँच वाह्येन्द्रियाँ—नेत्र, कर्ण, घ्राण, स्पर्श और रसना तथा छठवाँ मन है । इनमें से कबीर ने पाँचों इन्द्रियों को 'पंच सँगी' बताया है और छठवें के लिए कहा है—'छठा जु सुमिरै मंन'। पाँच इन्द्रियाँ चातक के समान 'पिउ पिउ' करती रहती हैं और मन जो आन्तरिक इन्द्रिय है, वह प्रिय का स्मरण करता रहता है। यह एक सुन्दर रूपक है जिसमें इन्द्रियों को चातक के समान बताया गया है, कबीर अपने को सीप के समान बताते हैं और राम की प्राप्ति मुक्ता के समान बतायी गयी है। चातक 'पिउ पिउ' को रट लगाये रहता है, वैसे ही पाँचों इन्द्रियाँ अपने प्रिय प्रभु की रट लगाये रहती हैं और छठी इन्द्रिय मन प्रभु का स्मरण करता रहता है। हृदय सीप के समान है। उस स्मरण से स्वाति का बूँद कबीर के हृदय रूपी सीप में गिरता है और वह राम रूपी मुक्ता-रत्न में परिणत हो जाता है। कबीर उसको पाकर निहाल हो जाते है ।

( २ ) साँगरूपक अलंकार ।

( ३ ) तुलनीय—

> विरह जगावै दरद को, दरद जगावै जीव ।
> जीव जगावै सुरति को, पंच पुकारै पीव ॥ ( दादू )

**मेरा[1] मन सुमिरै राम को,[2] मेरा[3] मन रामहि आहि ।**
**अब मन रामहि ह्वै रहा,[4] सीस नवावौं[5] काहि ॥ ८ ॥**

व्याख्या—मेरा मन राम का स्मरण करते-करते राममय हो गया । ऐसी स्थिति में अब मैं किसको नमस्कार करूँ ? भाव यह है कि जीव और परमात्मा का, साधक और साध्य का भेद ही समाप्त हो गया है तो नमस्कार किसको किया जाय ?

अलंकार—तद्‌गुण ।

**तूँ तूँ करता[6] तू भया, मुझ[7] मैं रही न हूँ ।**
**वारी फेरी बलि गई,[8] जित देखौं[9] तित तूँ ॥ ९ ॥**

शब्दार्थ—वारी = वारना, वलिहारी जाना । फेरी = भाँवरी, चक्कर । बलिगई = न्योछावर होना ।

---

१. हनु०—मम । २. ना० प्र०—कूँ । ३. हनु०—मम । ४. ना० प्र०—रह्या । ५ हनु०—नमाऊँ युगला०—नवाऊँ । ६. हनु०—करते ७ हनु०—तुझमें रहा न हूँय, युगला०—तुझमें रही न हूँ। ८. तिवारी—वारी तेरे नाउँ परि, हनु०,—विचार०—वारी तेरे नाम पर, युगला०—वारी तेरे नाम की ९. विचार, युगला०—देखूँ ।

व्याख्या—'तू तू' याद करते हुए मैं स्वयं 'तू' हो गया। मुझमें मेरापन न रह गया अर्थात् मेरा अहंभाव समाप्त हो गया। मैं पूर्ण रूप से तेरे ऊपर न्यौछावर हो गया हूँ और अब जिधर देखता हूँ, उधर तू ही तू दिखलाई देता है अर्थात् सारा जगत् ब्रह्ममय हो गया है।

दूसरी पंक्ति का अन्य पाठ इस प्रकार मिलता है—'वारी तेरे नाउँ पर'। इसका भी अर्थ वही है कि मैंने तेरे नाम पर अपने को न्यौछावर कर दिया।

'वारी फेरी बलि गई' का एक दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है—वारी फेरी अर्थात् ससार में चक्कर काटने रहना, आवागमन, 'बलिगई' बल गया, जल गया, नष्ट हो गया। मेरा पृथक् भाव जाता रहा। संसरण समाप्त हो गया। अब जिधर देखता हूँ, तू ही तू दिखलाई देता है।

अलंकार—तद्गुण।

**कबीर[1] निरभै राम जपु[2], जब लगि दीवै बाति।**
**तेल घटै[3] बाती बुझै[4], (तब) सोवैगा[5] दिन राति॥ १०॥**

शब्दार्थ—निरभै = निर्भय, निडर। दीवै = दीपक में (प्र० अ०) शरीर। बाति= वर्तिका, वत्ती (प्र० अ०) प्राण। तेल = (प्र० अ०) सामर्थ्य।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जब तक शरीर रूपी दीपक में प्राण रूपी वर्तिका विद्यमान है अर्थात् जब तक जीवन है, तब तक निर्भय होकर राम नाम का स्मरण करो। जब तेल घटने पर वत्ती बुझ जाएगी अर्थात् शक्ति क्षीण होने पर जब जीवन समाप्त हो जाएगा, तब तो तू दिन-रात सोएगा ही अर्थात् मृत हो जाने पर जब तेरा शरीर निश्चेतन हो जाएगा, तब तू क्या स्मरण करेगा?

अलंकार—अन्योक्ति।

**कबीर सूता क्या करै, जागि[6] न जपै मुरारि।**
**इक दिन[7] सोवन होइगा, लम्बे पाँव[8] पसारि॥ ११॥**

शब्दार्थ—मुरारि = मुर + अरि, मुर नामक दैत्य को मारनेवाले कृष्ण अर्थात् भगवान। सूता = अज्ञान रूपी निद्रा। जागि = प्रबुद्ध होकर।

व्याख्या—कबीर जीव को चेतावनी देते हैं कि हे जीव! तू अज्ञान-निद्रा में सोते हुए क्या कर रहा है? जग कर अर्थात् इस निद्रा को त्याग कर भगवान का स्मरण कर। एक दिन तो तुझे पैर फैलाकर चिर निन्द्रा में मग्न होना ही है।

अलंकार—वक्रोक्ति, पर्यायोक्ति।

---

१. हनु०—विचार०—कबिर, युगला०—कबिरा। २. हनु०—विचार०—नाम जपु, ना० प्र०—राम जपि ३. ना० प्र०—घट्या हनु०—घटै ४ ना० प्र०—बुझी ५. हनु०—विचार०—सोवोगे, युगला०—तब सोवेंगे। ६.—युगला०—जागे जपो, हनु०—विचार०—जागी जपो ७. अन्य प्रतियों में—दिना है सोवना, ना० प्र०—एक दिना भी सोवणां ८ तिवारी—लाम्बे गोड

कबीर सूता क्या करै, काहे न देखै जागि।
जाका सँग[1] तैं बीछुरा[2], ताही के संग लागि ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—बीछुरा=बिछुड़ गया, वियुक्त हो गया। तैं=तू।

व्याख्या—कबीरदास कहते हैं कि हे जीव! मोह-निद्रा में अभिभूत होकर तू क्या कर रहा है? जागकर तू तथ्य को क्यों नहीं देखता? जिस प्रभु के साथ से वियुक्त होकर तू जीव बन गया है, पुनः उसी के साथ क्यों नही लगता? अर्थात् नः उसी से क्यों नही संयुक्त हो जाता? अनेक योनियों में भ्रमण करते हुए अज्ञानवश जीव का प्रभु से वियोग हो जाता है। वह अपने को उनसे पृथक् समझने लगता है। ज्ञान रूपी जाग्रतावस्था के आने से जीव पुनः अपने वास्तविक आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

टिप्पणी—ईश्वर और जीव के सम्बन्ध में गो० तुलसीदास के विचार तुलनीय हैं:—

ईश्वर अंश जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो मायावस भयो गोसाईं। बँध्यो कीर मर्कट की नाईं॥

अलंकार—पर्यायोक्ति।

कबीर सूता क्या करै, उठि[3] किन[4] रोवै दुक्ख।
जाका वासा गोर मैं[5], सो क्यों सोवै[6] सुक्ख ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—गोर (फा०)=क़ब्र। वासा=निवास।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि तू अज्ञान-निद्रा में सोता हुआ क्या कर रहा है? जागकर अपने स्वामी के समक्ष अपना दुःख क्यों नहीं रोता? एक दिन जिसको क़ब्र में रहना ही है, वह क्यों चैन से सो रहा है? उसे सचेत होकर प्रभु की शरण में जाना चाहिए।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास।

कबीर सूता क्या करै, गुन गोविंद के[7] गाइ।
तेरे सिर पर[8] जम[9] खड़ा, खरच[10] कदे का खाइ ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—कदे=(सं०) कदा, कभी का, बहुत दिनों से। जम=मृत्यु, यमराज। खरच खाइ=खाना खरचना एक मुहाविरा है।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे जीव! तू अज्ञान-निद्रा में सोया हुआ क्या कर रहा है? तू प्रभु का गुणगान क्यों नही करता है? तेरे सिर पर यमराज खड़ा है। वह न जाने कब से धीरे-धीरे मृत्यु लोक के सभी प्राणियों की आयु को खर्चा करके खाता जा

---

१. युगला०—हनु०—विचार०—संगते। २. ना० प्र०—बीछड़िया। ३. युगला०—हनु०—विचार०—ऊठि न रोवो ४. ना० प्र०—न ५ युगला०—हनु०—विचार०— में। ६. युगला०—क्या सोवै, ना०–प्र० क्यूँ सोवै। ७. युगला०—गुण गोविंद का, हनु०–विचार०–गुन सतगुरु का। ८. ना० प्र०–परि ९. हनु०–यम। १०. युगला०–खुरच।

रहा है। तू भी काल-ग्रस्त हो जाएगा, बचेगा नही। इसलिए जीवन रहते हुए सचेत होकर भगवान का स्मरण कर।

टिप्पणी—एक अन्य साखी में कबीर ने ठीक यही बात इस प्रकार कही है:—

झूठे सुख कौं सुख कहैं, मानत हैं मन मोद।
खलक चबीणा काल का, कुछ मुख मैं कुछ गोद॥

**कबीर सूतां कया करै, सूताँ होइ[1] अकाज।**
**ब्रह्मा का आसन डिगा,[2] सुनत[3] काल की गाज॥ १५॥**

शब्दार्थ—सूतां = सोने से। गाज = गर्जन।

व्याख्या—कबीर चेतावनी देते है कि हे मनुष्यो! तुम मानव जीवन पाकर भी चेतते नही और परम पुरुषार्थ के प्रति जागृत नही होते। तुम सोते हुए क्या कर रहे हो? इसका भाव यही है कि अपने भीतर जो प्रत्यक् चैतन्य है, उसके प्रति उदासीन रहना ही सोना है। सोने से अर्थात् परम पुरुषार्थ के लिए प्रयत्नशील न होने से तुम्हारा जीवन व्यर्थ हो जायगा, क्योकि मानव योनि ही ऐसी है जिसमें जीव साधना के द्वारा परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। काल तुम्हारे सिर पर नाचता है। तुम व्यर्थ में साधना को टालते जाते हो। सोचते हो कि वृद्धावस्था में भजन करेंगे। तुम्हे यह पता नही है कि काल के चक्कर में कब आ जाओगे? काल के गर्जन से तो ब्रह्मा का भी आसन डिग जाता है।

टिप्पणी—प्रत्येक ब्रह्माण्ड का एक अधिष्ठाता ब्रह्मा होता है और उसके अधिष्ठातृत्व की भी एक निश्चित अवधि होती है। वह भी काल के ग्रास में आ जाता है। फिर मानव की क्या बिसात है?

अलंकार—अर्थान्तरन्यास।

**केसौ कहि कहि कूकिए, नाँ सोइय[4] असरार।**
**राति[5] दिवस कै कूकनैं,[6] कबहुँक[7] लगै पुकार॥ १६॥**

शब्दार्थ—असरार = (अरबी-इसरार) हठपूर्वक। कूकनै = पुकारना। कबहुँक = सम्भवतः कभी। केसौ = केशव, प्रभु।

व्याख्या—प्रभु को निरन्तर आर्त्त स्वर से पुकारते रहो। हठपूर्वक लगातार घोर निद्रा में न पड़े रहो। दिन-रात की पुकार से, सम्भव है, कभी सुनवाई हो जाय और तुम्हारी पुकार लग जाये।

'असरार' शब्द अरबी के 'इसरार' का तद्भव है। इसका अर्थ है—हठा यहाँ हठपूर्वक। सम्भव है यह शब्द 'असराढ' का अपभ्रंश हो जिसका अर्थ होता है—घोर, भयानक।

---

१. युगला०–हनु०–विचार०–सूते होय २. ना० प्र०–आसण खिस्या, युगला०–हनु०–विचार०–को आसन ड़िगो। ३. ना० प्र०–सुणत, युगला०–हनु०–विचार०—सुनी। ४. ना० प्र०–सोइयै। ५. ना० प्र०–रीति। ६. ना० प्र०–कूकणैं, हनु०, विचार०—कूकते। ७. ना० प्र०—मत कबहूँ।

कहीं-कहीं 'मत कवहूं लगै पुकार' पाठ मिलता है। इसमें 'मत' 'मकु' का विगड़ा रूप है, जिसका अर्थ है—शायद।

टिप्पणी—'कवहुँक लगै पुकार' में एक सुन्दर व्यञ्जना है। कचहरी में जो प्रार्थी होता है उसके मुकदमें की पेशी के समय चपरासी द्वारा पुकार लगायी जाती है कि अमुक व्यक्ति उपस्थित हो तो आ जाये। अतः यहाँ 'पुकार' में बुला लेने की व्यञ्जना है।

**जिहि[1] घटि प्रीति न प्रेम रस, फुनि[2] रसना नहिं[3] राम।**
**ते नर इस[4] संसार में, उपजि षये[5] बेकाम॥ १७॥**

शव्दार्थ—घटि = घट में, हृदय में, शरीर में। फुनि = पुनि, पुनः। षये = क्षये, नष्ट हो गये। रसना = रस लेनेवाली इन्द्रिय अर्थात् जिह्वा। वेकाम=व्यर्थ।

व्याख्या—जिनके हृदय में न प्रेम है, न प्रेम का आस्वाद और जिनकी जिह्वा पर राम नाम भी नही है, वे मनुष्य इस संसार में व्यर्थ पैदा होकर नष्ट होते हैं।

**कवीर प्रेम न चाषिया, चषि न लीया साव।**
**सूने घर का पाहुनाँ[6] ज्यूँ आया त्यूँ जाव॥ १८॥**

शव्दार्थ—साव = स्वाद। पाहुना = अतिथि।

व्याख्या—कवीर कहते हैं कि जिसने प्रेम नही चखा अर्थात् प्रभु के प्रेम का अनुभव नहीं किया और चखकर उसका स्वाद नहीं लिया उसका इस संसार में जन्म लेना और मर जाना सूने घर में अतिथि के आने-जाने के समान है। जैसे कोई मेहमान यदि ऐसे घर पर आता है जिसमें कोई रहता ही नही तो वह जैसे आता है वैसे ही उलटे पाँव वापस जाता है! उसे न कुछ खाने को मिलता है, न उसका स्वागत-सत्कार होता है, उसी प्रकार जो ईश्वर से प्रेम नही करता है, वह इस संसार में जैसे आया है वैसे ही चला जाता है। मानव जीवन से कुछ लाभ नही उठाता।

अलंकार—दृष्टान्त।

**पहिलै[7] बुरा कमाइ करि[8], बाँधी विष[9] की पोट।**
**कोटि[10] करम फिल[11] पलक में, (जव) आया[12] हरि की ओट[13]॥ १९॥**

शव्दार्थ—पोट = पोटली, गठरी। ओट = शरण। फिल = फेंक देना, ढकेल देना।

व्याख्या—पहले अर्थात् पूर्व जन्म में अनेक पाप कर्म करके जीव ने जो विष की गठरी वांध रखी है, प्रभु की शरण में जाने पर वह उसको क्षण भर में फेंक कर शुद्ध हो जाता है, चाहे वे कर्म करोड़ों की संख्या में क्यों न हो। कर्म तीन प्रकार के होते

१. हनु०, विचार०—जा घट। २. हनु०, विचार—पुनि। ३. ना० प्र०—नहीं। ४ तिवारी—आइ, हनु०, विचार०—पसु। ५. तिवारी०—खये, हनु०, विचार०—मरे। ६. ना० प्र०—पाहुणाँ। ७. ना० प्र०—पहली, युगला०—पहले ८. हनु०—के, युगला०—कै। ९ युगला०—विपय। १०. हनु०—करै। ११ हनु०—फल फिरे। १२. युगला०—आयो। १३ ना० प्र०—वोट।

है—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। संचित कर्म का जो परिणाम इस जीवन में प्रारम्भ हो गया है उसे प्रारब्ध कर्म कहते हैं। प्रारब्ध कर्म भोगने से ही नष्ट होते हैं। संचित कर्म में अनेक ऐसे दुष्कर्म पड़े हुए हैं जिनका परिणाम अभी प्रारम्भ नही हुआ है। वे सब प्रभु की शरण में आने पर नष्ट हो जाते हैं। इसी भाव को कबीर ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—'कोटि करम फिल पलक में।' उन संचित कर्मों का भोग अब जीव को नही करना पडेगा। क्रियमाण कर्म वह है जो मनुष्य इस जीवन में कर रहा है। संचित कर्म पूर्व जन्म के होते हैं, क्रियमाण इस जीवन के। प्रभु की शरण में आने से अवशिष्ट संचित कर्म तो नष्ट हो जायेंगे ही, वह बुरे क्रियमाण कर्म भी न करेगा, क्योंकि उसके जीवन का लक्ष्य ही बदल गया है।

**कोटि क्रम पेलै पलक मै,[1] जे रंचक आवै नाउँ।**
**अनेक जुग जो पुन्नि करै,[2] नहीं राम[3] बिन ठाउँ॥ २०॥**

शब्दार्थ—क्रम = कर्म। पेलै = फेंक देता है, ढकेल देता है। जे = यदि। रंचक = थोड़ा भी। पुन्नि = पुण्य। ठाउँ = स्थान।

व्याख्या—यदि प्रभु का तनिक भी नाम-स्मरण किया जाये तो वह पूर्व जन्म के करोड़ो दुष्कर्मों को क्षण भर में ढकेल कर नष्ट कर सकता है। किन्तु प्रभु-भक्ति के बिना मनुष्य चाहे अनेक युगो तक पुण्य करे, उसको कोई ठौर-ठिकाना नही मिल सकता है।

'नही राम बिन ठाउँ' का साधारण अर्थ ऊपर दिया गया है। किन्तु इसमें एक सुन्दर व्यञ्जना भी है कि पुण्य करने से जीव में शुद्धता आ सकती है। उसके फलस्वरूप उसे स्वर्ग आदि प्राप्त हो सकता है, किन्तु 'ठाउँ' अर्थात् स्वरूप में स्थिति राम की भक्ति के बिना नही प्राप्त हो सकती।

अलंकार—चपलातिशयोक्ति।

**जिहि[4] हरि जैसा जानियां[5], तिनकौं[6] तैसा लाभ।**
**ओसों[7] प्यास न भाजई[8], जब लगि धसै न आभ॥ २१॥**

शब्दार्थ—ओसो = ओस से। भाजई = भागता है, चला जाता है। आभ = ( सं०—आप ) जल, पानी।

व्याख्या—प्रभु को जिसने जिस प्रकार पहचाना है, उसी प्रकार उसको लाभ प्राप्त होता है। जब तक प्यासा पानी में डुबकी नही लगाता, तब तक केवल ओस चाटने से प्यास नही जाती।

---

१ तिवारी—कोटि करम फिल फलक में, युगला०—कोटि कर्म फिरे पलक में, हनु०—कोटि कर्म पल-पल कटे। २. तिवारी—जुग अनेक जो पुनि करैं, हनु०—अनेक जन्म जु पुण करै। ३. तिवारी, हनु०, युगला०—नाम। ४ तिवारी—जिन। ५ ना० प्र०—जाणियां। ६. ना० प्र०—तिनकूँ, हनु०—ताको। ७ तिवारी— ओसां, हनु०—ओसे, गुप्त—वोसां। ८ हनु०—भागई।

इस साखी में व्यन्जना यह है कि नाना प्रकार के देवताओं के रूप में जो प्रभु को जानता है उसको जीवन में पवित्रता का लाभ हो सकता है, किन्तु उसके भीतर जो अविद्या की ग्रन्थि है जिसके कारण उसमें वासना या तृष्णा पैदा होती रहती है जो कि उसे कोटि-कोटि योनियों में भ्रमण कराती रहती है, वह अविद्या की ग्रन्थि और उसके परिणामस्वरूप तृष्णा नही जा सकती। जिसने प्रभु को सर्वव्यापी राम या ब्रह्म के स्वरूप में पहचाना है उसी की अविद्या-ग्रन्थि छिन्न होती है और उसके फलस्वरूप तृष्णा नष्ट होती है।

विभिन्न देवताओ की उपासना ओस चाटने के समान है। सारशब्द के रूप में प्रभु को पहचानना अगाध जलपान के समान है। इसी से तृष्णा नष्ट होगी।

अलंकार—निदर्शना।

**राम पियारा[1] छांडि करि, करै आन का जाप।**
**वेस्या[2] केरा पूत ज्यौं[3], कहै कौन सौं[4] बाप॥ २२॥**

शब्दार्थ—पूत = पुत्र। कौन सौं = कौन सा।

व्याख्या—जो परम प्रिय परमात्मा राम को छोड़कर अन्य देव-देवी का जप करता है, वह वेश्या के पुत्र के समान है, जो अपने वास्तविक पिता को नही जानता। वस्तुतः परमात्मा ही सबका पिता है, अन्य कोई नही।

अलंकार—उपमा।

**कबीर आपन[5] राम कहि, औरन[6] राम कहाइ।**
**जिहि[7] मुखि राम न ऊचरै,[8] तिहि मुख फेरि[9] कहाइ॥ २३॥**

शब्दार्थ—ऊचरै = उच्चारण होना, कहना।

व्याख्या—कबीर कहते है कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं राम का जप करना ही चाहिये, उसे औरों से भी 'राम' कहलवाना चाहिये। जो व्यक्ति राम नाम का उच्चारण नही करता है, उससे वार-वार कहलाना चाहिये। वह कभी न कभी इसके महत्त्व को समझेगा और राम का जप करने लग जायेगा।

**जैसे माया मन रमै, यौं[10] जे राम रमाइ।**
**( तौ ) तारा मंडल वेधि कै,[11] जहाँ[12] के सो तहँ जाइ॥ २४॥**

व्याख्या—जिस प्रकार जीव का मन माया में रमण करता है, उसी प्रकार यदि उसका मन राम में रमण करे तो वह नक्षत्र खचित आकाश को भी भेदकर जहाँ से आया है वही पहुँच सकता है अर्थात् ब्रह्म में लीन हो सकता है।

---

१. हनु०—नाम पियूं का। २. ना० प्र०—वेस्वाँ। ३ ना० प्र०—ज्यूँ। ४ ना० प्र०—सूँ। ५. ना० प्र०—आपणें। ६ ना० प्र०—औंरां। ७ अन्य प्रतियों में—जा। ८ अन्य प्रतियों में—नीसरै। ९. अन्य प्रतियों में—राम। १०. ना० प्र०—यूँ। ११. ना० प्र०—छाँड़िकरि। १२. तिवारी—सो अमरापुर जाइ।

लूटि सकै तौ लूटि[१] लै, राम नाम को[२] लूटि ।
फिर पाछे[३] पछिताहुगे, यहु तन जैहै छूटि[४] ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—तन = शरीर ।

व्याख्या—मानव शरीर ही एक ऐसी योनि है जिसमें साधना संभव है । मानव के भीतर सब तत्व विद्यमान हैं । यहाँ यह अवसर मिलता है जिससे वह तन, प्राण, मन सबसे प्रभुका स्मरण और साधना कर सकता है । इसी योनि में राम नाम की लूट है । कबीर कहते है कि इस योनि को पाकर राम नाम को लूटो अर्थात् उनका निशिदिन स्मरण करो । जब यह शरीर छूट जाएगा तो यह आध्यात्मिक साधना संभव न हो सकेगी और तब पछताओगे कि एक ईश्वर प्रदत्त अवसर को गँवा दिया ।

लूटि सकै तौ लूटियौ,[५] राम नाम भंडार ।
काल कंठ तैं[६] गहेगा, रूँधै दसों दुवार[७] ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—भंडार = निधि । रूँधै = अवरुद्ध ।

व्याख्या—राम नाम का अक्षय भाण्डार अवश्य यथाशक्य लूट लो । जब काल तुम्हारे कंठ को दबोचेगा, तब शरीर के दसों द्वार अवरुद्ध हो जायेंगे । उस समय तुम चेतना-शून्य हो जाओगे और राम नाम का स्मरण कैसे कर सकोगे ?

टिप्पणी—दस द्वार से तात्पर्य शरीर के दस छिद्रों से है । वे है—ब्रह्मरंध्र, दो कान, दो नेत्र, दो नासिका विवर, एक मुख, गुदामार्ग, मूत्रमार्ग ।

लंबा मारग दूरि घर, विकट पंथ बहु मार[८] ।
कहौ संतौ[९] क्यों[१०] पाइए, दुर्लभ हरि[११] दीदार ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—विकट = दुस्तर । मार = बटमार, डाकू । दीदार ( फा० ) = दर्शन ।

व्याख्या—इस साखी में कबीर ने एक सुन्दर रूपक के द्वारा अपने भाव को व्यक्त किया है । पथिक का घर बहुत दूर है और मार्ग केवल लम्बा ही नही है, दुस्तर भी है । मार्ग में बहुत से बटमार भी मिलते हैं । ऐसी स्थिति में अपने निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचना अत्यन्त दुर्लभ है । घर पहुँचने के समान प्रभु की प्राप्ति अपना लक्ष्य है । अनेक योनियो में भ्रमण करने पर कही जीव को यह अवसर मिलता है कि वह प्रभु की ओर अग्रसर हो । इसलिए मार्ग को लम्बा कहा गया है । माया के कारण यह मार्ग अत्यन्त दुस्तर भी है । राग-द्वेष, लोभ, मोह आदि बटमार है जो साधक-पथिक की आध्यात्मिक-यात्रा में अनेक विघ्न उपस्थित करते हैं । कबीर कहते हैं कि हे संतो ! कहो, ऐसी स्थिति

---

१. ना० प्र०–लूटियौ । २. ना प्र०–है । ३ ना० प्र०–पीछे हो । ४ अन्य प्रतियों में—प्राण जाहिंगे छूटि । ५ हनु०, विचार०—कहँ कबिर तूँ लूटि ले, युगल०–कह कबीर लूटि ले । ६. हनु०, विचार०—को जब गरे, युगला०–जब गहेगा । ७ अन्य प्रतियों में—रोकै दसहूँ द्वार । ८ हनु०—भार । ९. विचार०, युगला०–सत । १० ना० प्र०—क्यूँ । ११ विचार०—गुरु ।

में कोई अपने लक्ष्य तक कैसे पहुँचेगा ? ऐसी दशा में प्रभु का दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है। इसलिए चेत जाओ और गुरु की सहायता से सरल मार्ग से विघ्नों से बचते हुए अपने लक्ष्य को प्राप्त करो।

अलंकार—तृतीय विभावना की ध्वनि।

**गुन[1] गाए, गुन[2] ना कटै, रटै न, राम बिवोग[3]।**
**अह[4] निसि हरि ध्यावै[5] नहीं, क्यों[6] पावै द्रुलभ[7] जोग ॥ २८ ॥**

शब्दार्थ—गुन = कीर्तन-भजन। गुन = त्रिगुणात्मक बन्धन। बिवोग = वियोग। अहनिसि = दिन-रात। ध्यावै = सुरति लगाना। द्रुलभ = दुर्लभ, कठिन।

व्याख्या—प्रभु का केवल गुणगान करने से अर्थात् केवल यह कहने से कि वह सर्वव्यापी है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है और कीर्तन-भजन करने से प्रकृति का त्रिगुणात्मक बन्धन नहीं कट सकता। यदि व्यक्ति हृदय से उसका स्मरण न करता रहे तो राम अर्थात् प्रभु से वियोग बना रहेगा। जो उसमें दिन-रात सुरति नहीं लगाता, वह प्रभु से उस संयोग को कैसे प्राप्त कर सकता है, जो अत्यन्त दुर्लभ है।

अलंकार—यमक, वक्रोक्ति।

**कबीर कठिनाई खरी, सुमिरताँ[8] हरि नाम[9]।**
**सूली ऊपरि नट[10] विद्या,[11] गिरै[12] त नाहीं ठाम[13] ॥ २९ ॥**

शब्दार्थ—खरी = बड़ी, अधिक। विद्या = कला। ठाम = स्थान, सहारा।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि प्रभु के नाम स्मरण करने अर्थात् वास्तविक भक्ति के मार्ग में बड़ी कठिनाई है। यह कठिनाई उसी प्रकार की है जैसे सूली के ऊपर नट द्वारा दिखलायी जाने वाली कला, जिसमें यह भयावह स्थिति बनी रहती है कि यदि वह वहाँ से गिरा तो फिर उसके बचने का कोई सहारा नहीं है।

इस साखी में कबीर ने भक्ति की साधना में जो सबसे बड़ी कठिनाई है, उसकी ओर संकेत किया है। यों तो तन्त्र; हठयोग आदि की साधनाओं के समान भक्ति में आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध आदि की यन्त्रणा नहीं है। ज्ञानयोग के समान प्रखर बुद्धि की भी भक्ति में आवश्यकता नहीं है। परन्तु सच्ची भक्ति की सबसे बड़ी शर्त है—अहं का पूर्णरूपेण त्याग, खुदी का खात्मा। यह नहीं हो पाता और इसके न होने से यदि केवल नाम जप होता रहे तो भक्ति का वास्तविक ध्येय नहीं प्राप्त होता। इसीलिए कबीर कहते हैं कि भक्ति नट के शूली पर खेलने के समान है। 'शूली पर खेल' में अहं के विनाश

---

१. ना० प्र०—गुण। २. ना० प्र०—गुण। ३. विचार०, युगला०—नाम वियोग। ४. विचार०, युगला०—अहि। ५ विचार०, युगला०—ध्यायो। ६. ना० प्र०—क्यूँ। ७. विचार—दुरलभ। ८. युगला०, विचार०—सुमिरत हरि को नाम। ९. तिवारी—नाउँ। १ तिवारी—खेलना। ११. युगला०, विचार०—विधा, सायरा। १२. ना० प्र०—गिरूँ। १३. तिवारी—ठाउँ।

की ओर ही संकेत है। इसी खेल का जो पूर्णरूप से निर्वाह नही कर पाता, वह भक्ति के चरम लक्ष्य से पतित हो जाता है।

तुलसीदास ने भी कहा है :—

रघुपति-भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई।
( विनय पत्रिका-पद १६७ )

अलंकार—दृष्टान्त।

**कबीर राम ध्याइ[1] लै, जिभ्या[2] सौं करि मंत[3]।**
**हरि सागर जिनि बीसरै, छीलर देखि अनंत[4] ॥ ३० ॥**

शब्दार्थ—मंत = मन्त्र। छीलर = छिछला तालाव, पोखरा।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जिह्वा से तो राम का मन्त्र जपते रहो और चित्त से उनका ध्यान करते रहो। मन्त्र जपना प्राण की क्रिया है, ध्यान मन की क्रिया है। प्राण और मन दोनो प्रभु में लगा दो। प्रभु सागर के समान हैं, अन्य अनन्त देव-देवियाँ छिछले तालाव के समान हैं। छिछले तालाव रूपी देव-देवियों के चक्कर में पड़कर महासागर के समान प्रभु को मत भुला दो। राम अन्य देव-देवियों की तुलना में सागर के समान है।

अलंकार—रूपक, दृष्टान्त।

**कबीर राम रिझाइ लै, मुखि अमृत गुण गाइ[5]।**
**फूटा नग ज्यों[6] जोड़ि मन, संधिहि[7] संधि मिलाइ ॥ ३१ ॥**

शब्दार्थ—मुखि = मुख से। अमृत = ( i ) जो मृत नही है अर्थात् अमर। ( ii ) जो दूसरों को अमर कर देता है। नग = मणि। संधि = अवकाश, दरार, मिलने की जगह।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे जीव ! तू उस अमर तत्त्व का गुणगान कर, जो अमृत के समान औरों को भी अमर कर देता है। इस प्रकार उस प्रभु का गुण गाकर तू उसे अपनी ओर आकृष्ट कर ले। अपने मन को प्रभु में उसी प्रकार मिला दे, जैसे जौहरी फूटे हुए नग को संधि से संधि मिलाकर जोड़ देता है।

टिप्पणी—यहाँ नग या मणि की उपमा में सिद्धों की परम्परा के एक अवशेष की झलक है। सिद्धो की साधना में परमतत्त्व को 'वज्र' और चित्त को 'मणि' के समान माना गया है।

अलंकार—उपमा।

---

१. युगला०—रिझायलै। २. हनु०—मन करि प्रेम प्रतीत, युगला०—जिह्वा। ३. युगला०—मित्त। ४. युगला०—अनित्त, हनु०—अनीत। ५, हनु०—मन ही में गुण गाइ। ६. ना० प्र० —ज्यूँ जोरि। ७. ना० प्र०—संधे।

कबीर चित्त चमंकिया,[१] चहुँ[२] दिस लागी लाइ।
हरि[३] सुमिरन[४] हाथौं घड़ा, वेगे[५] लेहु बुझाइ ॥ ३२ ॥
—( ६७ )

शब्दार्थ—चमंकिया = चमक गया अर्थात् तप्त हो गया। लाइ = आग।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि इस संसार में चारों ओर विषय वासना रूपी आग लगी हुई है। हे जीव! उसके ताप से तेरा चित्त तप्त हो उठा है। परन्तु तू घबड़ाता क्यों है? प्रभु के स्मरण रूपी पावन जल से भरा हुआ घट तेरे हाथ में है अर्थात् तू प्रभु का स्मरण करने की स्थिति में है। उस घड़े से तू विषय-वासना रूपी आग को शीघ्र ही बुझा ले।

अलंकार—सांग रूपक।

●

---

१. गुप्त०—चंचल किया, विचार०—चंचल भया। २. तिवारी०—दहुँ। ३. विचार०—गुरु। ४. ना० प्र०—सुमिरण हाथूँ। ५. हनु०, विचार०, गुप्त०—लीजै वेगि।

# ( ३ ) बिरह को अंग

संदर्भ—साधारणतः जीव अपने को अपने में ही पूर्ण समझता है। परन्तु एक ऐसी स्थिति आती है, जब वह अपने को अपूर्ण अनुभव करने लगता है। उस स्थिति में अपूर्ण पूर्ण के लिए व्याकुल हो उठता है, अंश अपने को अंशी से वियुक्त देखकर आतुर हो उठता है। यही विरह की स्थिति है। विरह का अर्थ है—विशेष रूप से रहित होने की अनुभूति। तब उसके हृदय में अंशी या पूर्ण से मिलन की आग भड़क उठती है। उसी स्थिति का वर्णन इस 'अंग' में किया गया है। यहाँ 'जीव' को विरहिणी नायिका माना गया है।

> राती[1] रूनी बिरहिनी,[2] ज्यौं बच्चों को[3] कुंज।
> कबीर अन्तर प्रगट्यो, बिरह अग्नि को पुंज[4] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—राती = रात भर। रूनी = रोती रही। कुंज = क्रौंच पक्षी। पुंज = ढेर या समूह।

व्याख्या—इस साखी में जीव की उपमा विरहिणी से दी गई है। विरहिणी अपने प्रिय के वियोग में रात भर उसी प्रकार रोती रही, जैसे क्रौंच पक्षी अपने बच्चों के वियोग में रोता रहता है। कबीर कहते हैं कि विरह रूपी अग्नि पुंज अपने भीतर भभक उठा अर्थात् विरह वेदना जग गई।

टिप्पणी— ( i ) कहीं-कहीं 'बच्चों को' के स्थान पर 'बंचौं को' पाठ मिलता है। इसका अर्थ होगा—जैसे क्रौंच पक्षी अपने प्रिय से वंचित होने पर रोता है।

( ii ) दूसरी पंक्ति का अन्य पाठ इस प्रकार है :—

'कबीर अन्तर प्रजल्या, प्रगट्या बिरहा पुंज।' इससे अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता।

अलंकार—उपमा, रूपक।

> अम्बर कुंजाँ कुरलियाँ,[5] गरजि भरे[6] सब ताल।
> जिन तें[7] गोविंद बीछुटे[8], तिनकौं[9] कौन हवाल ॥ २ ॥

---

१. ना० प्र०—रात्यूँ। २. ना० प्र०—विरहनी। ३. ना० प्र०—ज्यूँ वंची कूँ, गुप्त०—ज्यूँ वच्चा कौं, युगला०—ज्यूँ रविचांकू। ४. ना० प्र०—कबीर अंतर प्रजल्या, प्रगट्याविरहा पुंज। ५. हनु०—विचार०—कुंज कुरलाइया, युगला०—अमर कुंज उर लाइया ६ हनु०—विचार०—युगला०—भरा ७. ना० प्र० जिनिथैं ८. तिवारी—जिनतैं साहिब बीछुरा, युगला०—विचार०—बीछुरा ९. ना० प्र०—तिनके कौण, हनु०—विचार०—तिनका कौन।

शब्दार्थ—अम्बर = आकाश। कुंजा = क्रौंच पक्षी। कुरलियाँ = चीखने लगे। गरजि = गुंजायमान करते हुए। जिन तें = जिनसे।

व्याख्या—आकाश में क्रौंच पक्षी अपनी प्रिया की विरह-वेदना से रो रहा है। इस व्यथा से उसने सब तालों को गुंजायमान करते हुए अपने अश्रुजल से उनको भर दिया है। जब केवल एक रात्रि के वियोग से एक पक्षी की यह अवस्था हो जाती है तो उस जीव का क्या हाल होगा, जो अनेक जन्मो से प्रभु से विछुड़ा हुआ है।

टिप्पणी—क्रौंच पक्षी को हिन्दी में 'कुंजा', 'कुंज', या 'कुररी' कहते है। विरह वेदना के आधिक्य की व्यञ्जना अथवा विलाप के लिए इसका क्रन्दन साहित्य में कवि-रूढ़ि जैसा बन गया है। तुलसी ने सीता के विलाप की मर्म-वेदना को व्यक्त करने के लिए क्रौंच को ही उपमान रूप में प्रस्तुत किया है—'विलपत अति,कुररी की नाईं।' कबीर की इस साखी से बिलकुल मिलता-जुलता एक दोहा 'ढोला मारू रा दूहा' में भी मिलता है—

> राति जु सारस कुरलिया, गुंजि रहे सब ताल।
> जिणकी जोड़ी बीछड़ी, तिणका कवण हवाल ॥५३॥

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा।

> **चकई बिछुरी रैनि की,[1] आइ मिली परभाति।**
> **जे जन बिछुटे राम सौं,[2] ते दिन मिले न राति[3] ॥ ३ ॥**

शब्दार्थ—परभाति = प्रभात, प्रातःकाल।

व्याख्या—कवि समय है कि चकवा-चकवी रात को अलग रहते हैं और दिन होने पर मिल जात है। कबीर कहते है कि चकवी जो रात्रि में चकवे से वियुक्त रहती है, प्रातःकाल होते ही अपने प्रिय से मिल जाती है। परन्तु बेचारा जीव जो प्रभु से वियुक्त हो गया है, वह न तो रात को मिल पाता है और न दिन को।

इसमें व्यञ्जना यह है कि चकवी में तो वियोग की वेदना रहती है, परन्तु अज्ञानी जीव में वियोग की वेदना ही नही होती। फिर संयोग कहाँ से हो?

अलंकार—व्यतिरेक

> **बासुरि[4] सुख नाँ रैनि[5] सुख, ना सुख सुपिनै[6] माँह।**
> **कबीर[7] बिछुड़े[8] राम सौं[9], नाँ[10] सुख धूप न छाँह ॥ ४ ॥**

शब्दार्थ—बासुरि = बासर, दिन। रैनि = रात्रि। सुपिनै = स्वप्न में।

---

१. ना० प्र०—चकवी बिछुटी रैणि की २. तिवारी—विचार०—युगला०—जो नर बिछुरे राम सौं ३ विचार—दिवस मिले नहिं राति। ४ हनु०—विचार०—युगला०—बासर ५ ना प्र०—ना रैणि, अन्य प्रतियों में—नहिं रैनि ६. हनु०—विचार०—युगला०—सपना ७ हनु०—विचार०—युगला०—जो नर बिछुरे राम सों ८. ना० प्र०—बिछुटया ९. ना० प्र०—सूँ १०. हनु०—तिनकौ

व्याख्या—अंश जब अंशी से वियुक्त हो जाता है, जुज़ जब कुल से अलग हो जाता है तो स्वभावतः उसे तब तक चैन नही मिल सकता, जब तक अंश अंशी से, जुज़ कुल से मिल न जाय। कबीर कहते हैं कि जीव जो अंश है और राम जो अंशी हैं, उसकी यही गति है। राम से बिछुड़ने पर उसे न दिन में चैन है, न रात में। उसे स्वप्न में भी सुख नही प्राप्त हो सकता। उसे न धूप में सुख है और न छाया में। जीव अपने अंशी से बिछुड़कर इधर-उधर सुख को टोहता रहता है। परन्तु उसे सुख मिलता नही। वह जिसे सुख समझता है वह भी दुःख में परिणत हो जाता है। उसे वास्तविक सुख अपने अंशी या राम से मिलने पर ही मिल सकता है।

विरहिनि ऊभी पंथ सिरि,[1] पंथी बूझै[2] धाइ।
एक सबद[3] कहि पीव का, कबर[4] मिलैंगे आइ॥ ५॥

शब्दार्थ—ऊभी = खडी है। पंथ सिरि = पंथ के सिरे पर, रास्ते के छोर पर। पंथी = पथिक। कबर = क + बर ( बार )—किस दिन।

व्याख्या—इस साखी में विरहिणी जीवात्मा का प्रतीक है और पंथी साधक या गुरु का प्रतीक है। जैसे विरहिणी रास्ते के छोर पर खड़ी हुई प्रत्येक पथिक से पूछती है कि मेरे प्रियतम का कोई संदेश बता दो। वह कब आकर मिलेंगे ? वैसे ही जीव संसार-रूपी पथ पर खड़ा हुआ प्रत्येक साधक या संत से पूछता रहता है कि मेरे प्रियतम राम का कोई संदेश बता दो कि उनसे मेरा मिलन कब होगा ?

टिप्पणी—जीव की सासारिक स्थिति में, चाहे वह कितना ही सुख-ऐश्वर्य से सम्पन्न क्यो न हो, एक विचित्र अभाव तथा अपूर्ति की टीस बनी रहती है। जिनमें यह वेदना अधिक होती है, वे शास्त्र, शास्त्री, साधक, संत आदि से पूछते रहते है कि इस वियोग का अंत कब होगा ? जिनमें वेदना तीव्र नही होती, वे भी एक अनंत, अक्षय आनन्द की खोज में लगे रहते हैं। सासारिक भोग से उनकी भी पूर्ण तृप्ति नही होती। वे एक भोग के अनन्तर दूसरे भोग से चिपटते रहते हैं। परन्तु उन्हें यह पता नही चलता कि अक्षय सुख कैसे मिलेगा ? चाहते वे भी अक्षय सुख ही है। यही अक्षय आनन्द प्रियतम का संदेश है।

बहुत दिनन की जोवती,[5] बाट तुम्हारी राम।
जिव[6] तरसै तुझ[7] मिलन को[8], मन नाहीं बिसराम[9]॥ ६॥

शब्दार्थ—जोवती = प्रतीक्षा करती। बाट = ( सं०-वाट ) = मार्ग।

---

१. विचार०, युगला०—सिर। २. विचार०, हनु०, युगला०—पूछै. ३. विचार०—युगला०—सबद कहा। ४ विचार०—कबहिं। ५ विचार०—जोहती, युगला०—जो हती। ६ अन्य प्रतियों में—जिय। ७. अन्य प्रतियों में—तुम। ८. तिवारी—कौं, ना० प्र०—कूँ। ९ ना० प्र०—मनि नाहीं विश्राम।

व्याख्या—हे प्रभु ! मैं बहुत दिनों से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ। मेरा हृदय तुमसे मिलने के लिए व्याकुल है और मन में चैन नही है।

प्रत्येक जीव को एक विचित्र अभाव का अनुभव होता है। साधारण जीव इस अभाव को समझ नही पाते। प्रौढ जीवों की ही समझ में आता है कि यह अभाव अपने केन्द्र या मूल से वियुक्त होने का परिणाम है। वे ही विरह की वेदना का अनुभव करते हैं। विरह का अर्थ ही है—विशेष प्रकार से रहित हो जाना।

**विरहिन ऊठै भी पड़ै,[1] दरसन कारनि[2] राम।**
**मूवाँ पीछैं देहुगे[3], सो दरसन किहि काम[4] ॥ ७ ॥**

शब्दार्थ—मूवाँ = मरने पर। कारनि = लिए।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे राम ! तुम्हारे दर्शन के लिए तुम्हारे वियोग में विरहिणी उठने का प्रयत्न करती है, किन्तु वियोगजन्य दुःख से वह इतनी कृश एवं दुर्बल हो गई है कि उठने का प्रयत्न करने पर भी बार-बार पृथ्वी पर गिर पड़ती है। इसलिए यदि तुम उसके मरने के बाद दर्शन दोगे तो वह दर्शन किस काम का होगा ?

टिप्पणी ( १ ) 'ऊठै भी पड़ै' में 'भी' शब्द द्वारा एक विशेष बल ( force ) लाया गया है। भाव यह है कि विरहिणी की व्यथा इतनी तीव्र है कि वह विरह-वेदना में पृथ्वी पर पड़ी हुई पूरे तौर से उठ भी नही पाती। वह उठने का प्रयत्न करती है कि फिर गिर पड़ती है। इस प्रकार कबीर ने विरह की तीव्रता को सुन्दर रूप से व्यक्त किया है।

( २ ) इसमें एक व्यञ्जना यह भी है कि यदि जीते-जी प्रभु से मिलन हो जाय तो श्रेयस्कर है, यदि मरने के बाद मिलन हुआ तो किस काम का ? कबीर की दृष्टि में जीवन्मुक्ति विदेहमुक्ति से अधिक श्रेयस्करी है।

अलंकार—वक्रोक्ति।

**मूवाँ पीछैं जिनि मिलै[5], कहै कबीरा राम।**
**पाथर घाटा लोह सब[6], (तब) पारस कौने[7] काम ॥ ८ ॥**

शब्दार्थ—मूँवा पीछे = मरणोपरान्त। जिनि = मत। घाटा=घटित हो गया अथवा घट गया, समाप्त हो गया।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे राम ! मरणोपरान्त मत मिलो अर्थात् मरने के बाद तुम्हारे मिलने से क्या लाभ ? जब सब लोहा ही पत्थर हो जाय तो फिर पारस मिलने से क्या लाभ है ? ठीक इसी प्रकार जब साधक साधना-तपस्या करते-करते बिल्कुल निष्प्राण हो जाय, तब हे प्रभु ! यदि आप मिले भी तो क्या लाभ ? क्योंकि जो

---

१. तिवारी, हनु०, गुप्त०—विरहिन उठि उठि भुइं परै। २. तिवारी, हनु०—कारन। ३. तिवारी-मूएँ दरसन देहुगे, हनु०—मूये पीछे देहुगे। ४. तिवारी—सो आवै कौने काम। ५ तिवारी—हनु०, विचार०—मूएँ पीछैं मति मिलौ। ६ अन्य प्रतियों में—लोहा माटी मिलि गया। ७ ना० प्र०—कौणें, अन्य प्रतियों में—किहिं।

साधक तुम्हारे मिलन का इच्छुक था, वह ही अब केवल अस्थि-मास का ढेर रह गया है। जैसे यदि लोहा अपना सार-तत्व खो दे और पाषाणवत् हो जाय तो पारस से मिलने पर भी वह सुवर्ण नही हो पायेगा। इसलिए हे प्रभु ! इस जीवन में ही अपने दर्शन देने की कृपा करो।

टिप्पणी—(१) इस साखी की दूसरी पंक्ति के दो अर्थ हो सकते हैं। एक अर्थ में अन्वय इस प्रकार होगा—सब लोहा पाथर घाटा अर्थात् सारा लोहा पत्थर रूप में घटित हो गया अर्थात् उसमें लोहापन न रह गया। इस पंक्ति का दूसरा अर्थ यह हो सकता है—यदि सब लोहा पत्थर पर घिसते-घिसते घट जाय अर्थात् नि.शेष हो जाय तो फिर पारस मिला भी तो किस काम ? यदि लोहा ही समाप्त हो गया तो पारस किसे स्वर्ण बनायेगा। इस अर्थ में 'पर' शब्द की योजना करनी पड़ती है—सब लोह पाथर (पर) घाटा। दोनों अर्थो से भाव में कोई अन्तर नही आता है।

(२) इसमें विरह वेदना की अतिशयोक्ति व्यञ्जित है। यदि विरहिणी विरह में प्रतीक्षा करते-करते प्राण खो बैठे तो फिर प्रिय मिला भी तो क्या लाभ ? ठीक इसी प्रकार यदि साधक का सारा जीवन साधना में समाप्त हो गया और प्रभु का साक्षात्कार न हो सका तो बाद में प्रभु के साक्षात्कार का मूल्य ही क्या रह जायेगा ?

अलंकार—दृष्टांत।

**अँदेसौ नहि[१] भाजिसी[२], संदेसौ कहियाँ[३]।**
**कै हरि[४] आयाँ भाजिसी[५], कै हरि ही पासि गयाँ[६] ॥ ९ ॥**

शब्दार्थ—अँदेसौ = आशंका, चिंता। कहियाँ = कहने से। कै = या तो। आयाँ = आने से। भाजिसी = भाग सकती है। गयाँ=जाने से।

व्याख्या—विरहिणी की आशंका, चिंता और व्यथा केवल प्रिय का संदेश कहने से नही जा सकती। वह या तो प्रभु के आने से अथवा उस विरहिणी के प्रभु के पास जाने से ही जा सकती है अर्थात् जीव का विरहजन्य दु:ख केवल प्रभु-मिलन से ही जा सकता है, बातों से नही।

**आइ न सकौं[६] तुझ्झ पै, सकूँ न तुज्झ[७] बुलाइ।**
**जियरा यौंही लेहुगे, विरह तपाइ तपाइ ॥ १० ॥**

व्याख्या—विरहिणी कहती है कि हे प्रभु ! मेरे में यह सामर्थ्य नहीं है कि मैं तुम तक पहुँच सकूँ और न तो यही शक्ति है कि मैं तुम्हे अपने पास बुला लूँ। ऐसी स्थिति

---

१. ना० प्र०—अँदेसड़ा न। २ विचार०—भागसी। ३ तिवारी—कहियाह, हनु०—कँह आय, विचार०, युगला०—कहियाय। ४ हनु०—आए हरि। ५ विचार०, युगला०—भाग सों। ६. तिवारी०—गयाह, युगला०—गयाय, हनु०—पासे जाय। ६. ना० प्र०—सकौं तुझ पै, युगला०—सकिहौं तोहि पै, हनु०—सकौ ना तूझ पै। ७. ना० प्र० तुझ बुलाइ, हनु० युगला०—तुझे बुलाय।

में यदि तुम स्वयं मुझसे न मिलोगे तो यह विरह-व्यथा वैसी ही बनी रहेगी और इस बिरहाग्नि में तपा-तपाकर तुम मेरा प्राण ले लोगे।

**यह[1] तन जारौं[2] मसि करौं[3], ज्यूँ[4] धूवाँ जाइ सरग्गि[5]।**
**मति वै राम दया करैं, वरसि बुझावैं अग्गि[6] ॥ ११ ॥**

शब्दार्थ—जारौं=जला दूँ। मसि=स्याही, भस्म। ज्यूँ = जिससे। सरग्गि=स्वर्ग। मति = मकु, शायद, संभव है।

व्याख्या—विरहिणी कहती है कि विरह-व्यथा सही नही जाती। जी में आता है कि इस शरीर को जलाकर भस्म कर डालूँ जिससे धुआँ स्वर्ग तक पहुँच जाय। संभव है उस धुएँ को देखकर प्रभु दया करें और अपनी दर्शन-वर्षा से इस विरहाग्नि को बुझा दें।

तुलनीय—यह तन जारी मसि करूँ, धूवाँ जाइ सरग्गि।
मुझ प्रिय वद्दल होइ करि, वरसि बुझावै अग्गि ॥ १८१ ॥
—ढोला मारू रा दूहा

अलंकार—अतिशयोक्ति।

**यह तन जारौं[7] मसि करौं[8], लिखौं[9] राम का नाउँ।**
**लेखनि करौं[10] करंक की, लिखि लिखि राम पठाउँ ॥ १२ ॥**

शब्दार्थ—लेखनि=लेखनी, कलम। करंक = खोपड़ी, सिर की हड्डी।

व्याख्या—यह विरह-व्यथां सही नहीं जाती। जी करता है कि इस शरीर को जलाकर, उसकी भस्म से स्याही बनाऊँ और मस्तिष्क की हड्डी से लेखनी बना-बनाकर राम का नाम लिखकर उनके पास पहुँचाऊँ, जिससे वे समझ जायँ कि विरहिणी की क्या दशा है?

**कबीर पीर पिरावनी, पंजर[11] पीर[12] न जाइ।**
**एक जु पीर पिरीत की[13], रही कलेजे[14] छाइ ॥ १३ ॥**

शब्दार्थ—पिरावनी=पीड़ा देने वाली। पंजर=शरीर। जु=जो। पिरीत = प्रीति।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि सामान्यतया कोई भी पीड़ा कष्टकारक होती ही है और शरीर से वह पीड़ा जल्दी जाती नहीं, किन्तु प्रेम की पीड़ा अनूठी होती है। उसकी कसक कलेजे के अन्दर तक छा जाती है।

---

१. विचार०, युगला०—या। २. ना० प्र०—जालौं। ३. ना०, प्र०—करूँ। ४. हनु०—करौं धुआँ सो रंग। ५. विचार०, युगला०—सुरंग। ६. हनु०, विचार०, युगला०—अंग। ७. ना० प्र०—जालौं। ८. हनु०, विचार०—करूँ। ९. युगला०—लिखूँ। १०. ना० प्र०— लेखणि करूँ। ११. विचार०—पिंजर। १२. ना० प्र०—पीड। १३. ना० प्र०—एक ज पीड परीत की। विचार—पीर जो प्रीति। १४. ना० प्र०—कलेजा।

टिप्पणी—इसमें अन्य पीडाओं से प्रेम की पीड़ा की एक विशेषता को व्यञ्जित किया गया है। प्रेम की पीडा में अनूठापन यह है कि वह प्रिय लगती है।

संत चरनदास ने भी कहा है :

वह विरहिन बौरी भई, जानत ना कोइ भेद।
अगिन बरै हियरा जरै, भये कलेजे छेद॥

अलंकार—व्यतिरेक।

**चोट सताँनीं[1] विरह की, सब तन जरजर[2] होइ।**
**मारनहारा जानिहै,[3] कै जिहिं[4] लागी सोइ॥ १४॥**

शब्दार्थ—सताँनी = सताने वाली, कष्टदायिनी।

व्याख्या—विरह की चोट अत्यन्त कष्टदायिनी होती है। इससे समस्त शरीर जर्जर हो जाता है। इस चोट को चोट देने वाला अर्थात् प्रिय समझता है या जिसको वह चोट लगी है अर्थात् प्रेमी ही समझता है।

टिप्पणी—आध्यात्मिक प्रेम की एक बड़ी विचित्रता है। अपने भीतर जो साक्षि-चैतन्य है, कबीर ने जिसे 'राम' कहा है, वह जब यह देख लेता है कि जीव अब इस अवस्था में पहुँच गया है कि उसमें प्रेम उत्पन्न करने से वह दिन-प्रतिदिन प्रभु की ओर अग्रसर होता जायेगा, तब वह उसके भीतर विरह उत्पन्न कर देता है। कबीर ने उसी ओर संकेत किया है कि जिसने चोट लगायी है वह जानता है अथवा जिसे चोट लगी है, वह जानता है।

तुलनीय—हिरदय भीतर दौ बलै, धुवाँ न परगट होइ।
जाके लागी सो लखै, की जिन लाई सोइ॥
—कबीर

**कर कमान[5] सर साँधि करि, खैंचि जु मारा[6] माँहि।**
**भीतरि भिद्या सुमार ह्वै, जीवै कि जीवै नाँहि॥ १५॥**

शब्दार्थ—कमान = धनुष। साँधिकरि = सँधानकर, निशाना लगाकर। माँहि = मध्ये > माँझ > माँहि, भीतर। सुमार = सु + मार = अच्छा निशाना, सफल चोट।

व्याख्या—प्रियतम प्रभु ने हाथ में धनुष लेकर तीर का निशाना साधकर भीतर अथवा हृदय में जो चोट की है, वह सफल निशाना मर्म में समा गया है। इस चोट से आहत जियेगा या नहीं, इसमें सन्देह है अर्थात् इस चोट से उसका बचना कठिन है।

---

१. ना० प्र०—सताणीं, विचार०, युगला०—सतानै। २. युगला०—जंजर। ३. ना० प्र०—मारणहारा जाँणिहै। ४. विचार, युगला०—जिस। ५. ना० प्र०—कमाण। ६. ना० प्र०—मार्‌या।

टिप्पणी—प्रभु की यह चोट 'अहंता या खुदी' पर है, जिसको वह समाप्त करना चाहता है। 'अहं' के विनाश से ही प्रभु का वास्तविक साक्षात्कार हो सकता है। कबीर ने एक अन्य साखी में भी कहा है :—

पीया चाहै प्रेम रस, राखा चाहै मान।
एक म्यान में दो खड्ग, देखा सुना न कान॥

अलंकार—अन्योक्ति, संदेह।

**जबहीं मारा[1] खैंचि करि, तब मैं पाई जाँनि[2]।**
**लागी चोट मरम्म की, गई कलेजे छाँनि[3]॥ १६॥**

शब्दार्थ—मरम्म = मर्म। छाँनि = छेदकर।

व्याख्या—जब प्रियतम प्रभु ने प्रेम रूपी बाण खींचकर मारा, तब यह भान हुआ कि अब मुझे प्रभुमुखी अथवा प्रत्यङ्मुखी होना है। वह चोट मर्मभेदी है और कलेजे को छेदकर आरपार हो गयी है।

**सोरठा—जिहि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या।**
**तिहि सरि अजहूँ मारि, सर बिन सच पाऊँ नहीं॥ १७॥**

शब्दार्थ—सरि = सर या बाण से। सच = सुख, शान्ति, सत्य।

व्याख्या—जो प्रेम-बाण आपने कल मारा था, वह मेरे मन में जगह कर गया। वही बाण आज फिर मारिये। मेरा हृदय उस प्रेम-बाण के बिना सुख-शान्ति नही पाता। मेरी यही आकांक्षा है कि मेरे भीतर विरह-वेदना बनी रहे। उसके बिना मैं शान्ति-लाभ नहीं कर सकता।

'सच' सत्य का भी तद्भव हो सकता है। उस स्थिति मे अर्थ होगा कि विरह-वेदना के बिना सत्य का लाभ नही हो सकता।

अलंकार—उल्लास।

**बिरह भुवंगम तन बसै[4], मन्त्र न लागै[5] कोइ।**
**राम[6] बियोगी ना जिअै[7], जिअै[8] त बौरा[9] होइ॥ १८॥**

शब्दार्थ—भुवंगम = सर्प। त = तो।

व्याख्या—विरह रूपी सर्प शरीर के भीतर निवास करता है। उस पर किसी मन्त्र का उपचार सफल नहीं हो सकता। राम से वियुक्त जीव विरह-वेदना के कारण प्राण छोड़

---

१. ना० प्र०—जबहूँ मार्‌या। २. ना० प्र०—जाँणि। ३. ना० प्र०—छाँणि। ४, युगला०—डसा, हनु०—टँशा। ५. तिवारी—मानै। ६. युगला०—बिरह। ७. ना० प्र०—जिवै। ८. ना० प्र०—जिवै। ९. तिवारी—बउरा।

देता है या जीवित रहता है तो पागल-सा ही रहता है अर्थात् संसार की दृष्टि में वह पागल-सा हो जाता है। विषयों के प्रति उसकी कोई आसक्ति नहीं रह जाती।

अलंकार—रूपक।

> विरह भुवंगम पैसि करि[1], किया कलेजे[2] घाव।
> साधू[3] अंग न मोड़ही[4], ज्यौं[5] भावै त्यौं[6] खाव॥ १९॥

शब्दार्थ—पैसि करि = पैठकर, घुसकर। मोड़ही = मोड़ना, हटाना। ज्यौं भावै = जैसा चाहे।

व्याख्या—विरह रूपी सर्प ने भीतर घुसकर कलेजे में घाव कर दिया है। फिर भी प्रेमी-भक्त मुड़ता नहीं अर्थात् विरह से अलग नहीं होना चाहता। उस सर्प की जैसी इच्छा हो, वैसे ही खाता रहे अर्थात् प्रेमी को विरह प्रिय होता है। ज्यों-ज्यों विरह बढ़ता है, त्यों-त्यों वह मिलन के लिए उत्सुक होता है। इसलिए विरह इष्ट है, अनिष्ट नहीं।

अलंकार—रूपक, उल्लास।

> सब रग तंत[7] रबाब तन, विरह बजावै नित्त[8]।
> और न कोई सुनि[9] सकै, कै साईं कै चित्त[10]॥ २०॥

शब्दार्थ—रग = रगें। तंत्र = तन्त्री। रबाब (फा०) = वाद्य विशेष।

व्याख्या—विरही का शरीर रबाब वाद्य जैसा होता है और उसकी सारी रगें तन्त्रियों जैसी होती हैं। विरह उसको नित्य बजाता रहता है। परन्तु उस धुन (Tune) को दूसरा कोई नहीं सुन सकता। उसे प्रभु सुनते हैं, जिसके विरह में विरही व्याकुल होता है या विरही का चित्त ही सुन सकता है।

भाव यह है कि जीव को जब यह अनुभव होता है कि वह तत्त्व से पृथक् हो गया है, तब उसके हृदय में मिलन की एक विचित्र व्यग्रता उत्पन्न होती है। इस व्यग्रता से उसके सारे शरीर में एक वेदना का स्पन्दन होता रहता है जिसका अनुभव केवल वह विरही कर सकता है अथवा जिसके लिए वेदना होती है, वह जानता है।

रबाब—रबाब आधुनिक सरोद और सारंगी के मध्य का बाजा है। इसमें लगभग चार तार होते हैं। यह दो प्रकार का होता है—एक तो सारंगी के समान गज से बजाया जाता है, दूसरा जवा या त्रिकोण से बजाया जाता है। यह बाजा भारत में मुसलमानी काल में ईरान से आया।

अलंकार—सांग रूपक, विशेषोक्ति।

---

१ तिवारी, हनु०—पैठिकै, युगला०—परसि करि। २. तिवारी—करेजै। ३. हनु०, युगला०—विरही। ४. तिवारी, हनु०, युगला०—मोरही। ५ ना० प्र०—ज्यूँ। ६. ना० प्र०—त्यूँ। ७. तिवारी—तांति, हनु०, युगला०—ताँती। ८. हनु०, युगला०—नीत। ९. ना० प्र०—सुणि। १०. युगला०—की साईं की चीत।

**विरहा बुरहा जिनि[1] कहौ, विरहा है सुलतान[2] ।**
**जा[3] घट विरह न संचरै[4], सो घट सदा[5] मसान ॥ २१ ॥**

शब्दार्थ—बुरहा = बुरा । सुलतान = राजा, श्रेष्ठ । मसान = श्मशान ।

व्याख्या—विरह को बुरा मत कहो । विरह तुच्छ नही, श्रेष्ठ है । जीवन का राजाधिराज है । जिस हृदय में विरह का संचार नही होता, वह सदा श्मसान के समान है अर्थात् जिस व्यक्ति में विरह का भाव नही है, वह मृत समान है, निर्जीव है ।

तुलनीय—विरहा विरहा आखिये, विरहा है सुलतानु ।
फरीदा जिनु तनि विरह न उपजै, सो तणु जाणु मसाणु ॥
—शेख फरीद–गुरु ग्रन्थ साहब, पृ० १३७९ ।

**अँखियन तौ झांई परी,[6] पंथ निहारि निहारि[7] ।**
**जिभ्या मै छाला परा[8], राम पुकारि पुकारि[9] ॥ २२ ॥**

शब्दार्थ—झांई = अंधकार ।

व्याख्या—अपने प्रियतम की बाट देखते-देखते आँखो में अँधेरा छाने लगा है अर्थात् दृष्टि मंद पड़ने लगी है । राम को पुकारते-पुकारते जिह्वा में छाले पड़ गये हैं, पर अभी तक अपने स्वामी से मिलन नही हुआ है ।

**या तन का दिवला करूँ,[10] बाती मेलौं[11] जीव ।**
**लोहू सीचूँ तेल ज्यौं,[12] कब[13] मुख देखौं[14] पीव ॥ २३ ॥**

शब्दार्थ—दिवला = दीपक । लोहू = रक्त ।

व्याख्या—प्रिय के दर्शन के लिए एक दीपक चाहिए । दीपक में बत्ती और तेल की आवश्यकता होती है । मैं अपने प्रियतम के दर्शन के लिए इस शरीर का दीपक बनाऊँगा, जिसमें जीव बत्ती का काम करेगा और उस बत्ती को सीचने के लिए तेल के स्थान पर सारे शरीर का रक्त होगा । इस प्रकार इस दीपक को लिए हुए अपने प्रियतम की इस प्रतीक्षा में रहूँगा कि उसके दर्शन कब हो सकेंगे ?

अलंकार—सांग रूपक ।

---

१. हनु०—बूरा जनि, विचार०—विरहा मति । २. ना० प्र०—सुल्तिान । ३. ना० प्र०—जिह । ४ हनु०—हरि विरहा नहीं । ५ विचार—जान । ६. ना० प्र०–ॲपड़ियाँ झांई पड़ी । ७. विचार०–निहार निहार । ८. ना० प्र०–जीभड़ियां छाला पड़्या, विचार०—जिभ्या तौ छाला पड़ा । ९ विचार०—नाम पुकार पुकार । १०. ना० प्र०—इस तन का दीवा करौं, युगला०—या तन का दीवल करों । ११. हनु० विचार०–मेलूँ, ना० प्र०—मेल्यूँ । १२. ना० प्र०—लोही सींचौं तेल ज्यूँ । १३. हनु०, विचार०—तब । १४. हनु०, विचार०, युगला०—देखूँ ।

नैना नीझर लाइया[1], रहट वहै निस घाम[2]।
पपिहा[3] ज्यौं पिउ पिउ करौं[4], कबरे[5] मिलहुगे राम ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—नीझर = झरना। रहट = कुएँ से पानी निकालने का यंत्र, जिसमें बाल्टियो की एक माला पड़ी रहती है, ज्यो-ज्यो चरखी घूमती है, क्रमशः एक-एक बाल्टी से जल भर कर आता रहता है। घाम = धूप, यहाँ दिन का प्रतीक।

व्याख्या—नेत्रों से झरने के समान आँसुओ की अविरल धारा बहती रहती है। रात दिन लगातार उमड़-उमडकर आँसू का प्रवाह उसी प्रकार चलता रहता है जिस प्रकार से रहट से जल का अजस्र निष्क्रमण होता रहता है। पपीहे के समान मैं अपने प्रिय का 'पिउ पिउ' शब्द द्वारा स्मरण करता रहता हूँ। हे राम ! कब मिलोगे ?

कही कही पर 'निस जाम' पाठ है। तब अर्थ होगा—रातके पहर में। परन्तु 'निस घाम' पाठ अधिक समीचीन है, क्योंकि विरही का विरह दिन में बन्द नही रहता।

अलंकार—उपमा

अँखियाँ[6] प्रेम कसाइयाँ, लोग[7] जानैं दुखड़ियाँ[8]।
राम[9] सनेही कारने, रोइ[10] रोइ रतड़ियाँ[11]॥ २५ ॥

शब्दार्थ—कसाइयाँ = कषाय वर्ण, गेरुए रंग की अर्थात् रक्त वर्ण। दुखड़ियाँ = दुःख रही है। रतड़ियाँ = रक्त वर्ण, लाल हो जाना।

व्याख्या— मेरी आँखें प्रभु के प्रेमजन्य वियोग के कारण कषाय वर्ण अर्थात् लाल हो गई है। लोग समझते है कि आँखें आ गई है या दुःख रही है, इसीलिए लाल है। दूसरे लोगो को मेरी आन्तरिक वेदना का क्या पता ? वस्तुतः राम से स्नेह के कारण वियोग में रो-रोकर आँखें लाल हो गई है। यदि 'साई अपणें कारणें' पाठ लें तो अर्थ होगा—हे स्वामी ! आपके ही कारण ये आँखें रो-रोकर लाल हो गई है।

तुलनीय—

विरहिन कुरलै कुंज ज्यूँ, निस दिन तलपत जाइ।
राम सनेही कारनै, रोवत रैनि विहाइ ॥ ३१९ ॥

—दादू

अलंकार—भ्रान्तिमान्।

---

१ विचार०— नैनन तो झडिलाइया। २. ना० प्र०—जाम विचार०-निसुवास। ३. ना० प्र०—पपीहा ज्यूँ पिव पिव करौं। ४ विचार०—रटै। ५ ना०प्र०—कबरु, विचार०—पिया मिलन की आस। ६. ना० प्र०—अंपडियाँ। ७ तिवारी—जग जानै दुखडियांह, हनु०, युगला०—जिन जानी दुखडियाँ। ८. विचार०—दुखदाय। ९. ना० प्र०—साईं अपणैं कारणैं, विचार०—नाम सनेही कारने। १०. विचार०—रो रो रात विताय। ११. तिवारी—रातडियाँह।

**सोई आँसू साजनां[1], सोई लोक बिड़ाँहि[2]।**
**जो लोइन[3] लोंही चुवै, तौ जाँनौ[4] हेत हियाँहि[5] ॥ २३ ॥**

शब्दार्थ—साजना = ( सं० स्वजन ) साजन, प्रिय, अपना खास, परम प्रिय प्रभु। बिड़ांहि = बाहर निकलता है, व्यक्त होता है। लोइन = लोचन, नेत्र। लोही = रक्त। हेत = प्रेम। हियाँहि = हृदय में।

व्याख्या—आँसुओं से हृदय की आन्तरिक स्थिति का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। आँसू तो अपने स्वजन या प्रिय ( प्रभु ) के लिए भी निकलता है और वही आँसू लोक में साधारणत: अन्य किसी कारणवश भी निकलता है। यदि विरह की वेदना से आँखों से रक्त के आँसू बहे, तब समझो कि हृदय में सच्चा और घनिष्ठ प्रेम है।

**कबिरा हँसना[6] दूरि करि[7], रोवन सो करु चित्त[8]।**
**बिन रोए क्यों[9] पाइए, प्रेम पियारा[10] मित्त[11] ॥ २७ ॥**

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि तू हँसना दूर कर, रोने में मन लगा। बिना रोये प्रियतम मित्र कैसे मिल सकता है ?

'हँसने' में साधारण जीवन के हास-उल्लास की व्यञ्जना है और 'रोने' में विरह की व्यथा की व्यञ्जना है। विरही किसी प्रिय की याद में ही रोता है। इसलिए यह रोना प्रिय की अभीप्सा और अन्वेषणा का परिचायक है, जो कि साधना में नितान्त सहायक होता है।

अलंकार—काव्यलिंग

**जौ[12] रोऊँ तौ बल घटै, हँसौं तौ राम रिसाइ।**
**मनही माँहि बिसूरनाँ, ज्यूँ घुन काठहि खाइ ॥ २८ ॥**

शब्दार्थ—बिसूरना = ( सं०—विसूरण वि ( उपसर्ग ) + सूर ( धातु )—'सूर' और 'शूर' दोनों धातुएँ एक ही अर्थ में मिलती हैं। इनका अर्थ है—शोक करना, दुःखित होना या करना। 'वि' का अर्थ है—विशेष रूप से। ) हिन्दी में 'बिसूरना' शब्द सिसक-सिसक कर भीतर ही भीतर दुःख का अनुभव करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

व्याख्या—यदि रोता हूँ तो शक्ति क्षीण होती है। यदि हँसता हूँ तो अपना प्रियतम खिन्न होता है। इसलिए अच्छा तो यही है कि भीतर ही भीतर दुःख का अनुभव करता

---

१. ना० प्र०—सजणां। २. युगला० विचार०-बिडाय, गुप्त-बिडा। ३. ना० प्र०—लोइण, युगला० विचार०—लोचन। ४ ना० प्र०—जाणौं। ५ युगला० विचार०—हित आय। ६ ना० प्र०—कबीर हसणां। ७ अन्य प्रतियों में—करु,। ८ ना० प्र०—करि रोवण सौं चित्त, विचार०—रोने से करु चीत। ९ ना० प्र०—रोया क्यूँ। १० युगला०—पियारे। ११. विचार०—मीत। १२. अन्य प्रतियों में यह दोहा इस प्रकार है :—

हसूँ तो दुःख न वीसरूँ, रोऊँ तो बल घटि जाय।
मन ही माँहि विसूरना, ज्यों घुन काठहिं खाय ॥

रहूँ। दुःख ऊपर से किसी पर प्रकट न हो जैसे घुन ( कीड़ा ) भीतर ही भीतर काठ या लकड़ी को खा जाता है, ऊपर से किसी को पता नहीं चलता है।

टिप्पणी—( १ ) कबीर ने पहले कहा है कि रोने से मन लगाओ। यहाँ वह कहते है कि रोने से शक्ति क्षीण होती है। आपाततः इन दोनों में विरोध प्रतीत होता है, किन्तु कबीर का 'रोने' से तात्पर्य केवल विरह की तीव्र अनुभूति से है, दहाड़ मारकर चिल्लाने से नहीं। विरह की अनुभूति जितनी ही तीव्र होती है; वह उतनी ही आन्तरिक होती है, उसकी बाहरी अभिव्यक्ति कम होती है।

( २ ) 'हँसी तो राम रिसाइ' में व्यञ्जना यह है कि यदि साधारण लोगों के समान हास-उल्लास में पड़ा हुआ विषयों में अनुरक्त रहूँ तो अपना प्रियतम यह देखकर खिन्न होगा कि मैं अभी उसकी ओर उन्मुख नहीं हुआ।

अलंकार—उपमा।

हँसि हँसि कंत[१] न पाइए[२], जिनि पाया तिनि रोइ।
जो[३] हाँसेही हरि मिले, तौ नहीं दुहागनि कोइ[४] ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—दुहागनि = दुर्भाग्यवती ( सुहागिनि का विलोम )।

व्याख्या—हँसते-हँसते अर्थात् मौज उड़ाते हुए किसी ने अपने प्रियतम को नहीं पाया है। उसे जिस किसी ने पाया है उसने रोकर अर्थात् वियोग की व्यथा का अनुभव करके ही पाया है। यदि हँसने से ही प्रिय मिल जाय तो फिर संसार में कोई अभागिनी ही नहीं रह जायेगी अर्थात् प्रिय के प्रेम से वञ्चित नहीं रहेगी, क्योंकि मौज उड़ाने में या विषय-वासना में तो सभी जीव लगे रहते हैं। दुर्भाग्यनी वह है जिसका अपने प्रिय से मिलन न हो सके।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास।

हाँसी खैलौं[५] हरि[६] मिलै, कौन[७] सहै खर[८] सान।
काम क्रोध त्रिष्णाँ[९] तजै, ताहि मिलैं भगवान ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—खर = तीक्ष्ण। सान = ( सं० = शाण ) वह पत्थर जिस पर अस्त्रादि तेज किये जाते हैं।

व्याख्या—यदि हँसते-खेलते, विषय-वासनाओं में रमण करते हुए प्रभु मिल जायँ तो विरह-व्यथा की तीक्ष्ण सान पर कौन चढ़ेगा ? परन्तु वास्तविकता तो यही है कि वियोग की तीव्र अनुभूति के बिना संयोग की ओर कोई जाता नहीं। विरह-व्यथा इसलिए आवश्यक

---

१ युगला०—केतन। १. युगला०, हनु०, विचार०—पाइया। ३. गुप्त—ज, तिवारी—हाँसी खेला पिउ मिलै, युगला०—हाँसी खेलत हरि मिले। ४ युगला०—होय। ५. हनु०, विचार०, युगला०—खेलां। ६. विचार०—पिव। ७. ना० प्र०—कौण। ८. अन्य प्रतियों में—सुरसान, ना० प्र०—परसान। ९. अन्य प्रतियों में—तृष्णा।

है कि उससे मिलन की उत्कण्ठा वढ़ती है। प्रभु उसे ही मिल सकते है जो काम, क्रोध, और तृष्णा को त्याग देता है, न कि उसे जो इनमें अनुरक्त रहता है। 'हाँसी खेलौं' का भाव इन्ही में अनुरक्त रहना है।

पूत पियारो पिता कौं, गौंहनि लागा धाइ।
लोभ मिठाई हाथ दे, आपन गया भुलाइ॥ ३१॥

शब्दार्थ—गौहनि > गोहन = साथ, पास। आपन = अपनापन, सच्ची स्थिति।

व्याख्या—पिता का प्रिय पुत्र उसके साथ दौड़कर लग गया। पिता ने लोभ रूपी मिठाई उसके हाथ में देकर वहका दिया। परिणाम यह हुआ कि वालक उसी मिठाई मे रम गया और अपने आपको भूल गया।

टिप्पणी—इस साखी में कवीर इस तथ्य का संकेत कर रहे है कि पिता परमात्मा है पुत्र जीव है, मिठाई सांसारिक सुख का प्रलोभन है। जिस प्रकार पुत्र पिता से मिठाई पाकर भुलावे में आ जाता है, उसी में रम जाता है और पिता के साथ जाना भूल जाता है, उसी प्रकार जीव सांसारिक विषयों के भोग में अनुरक्त होकर अपनापन अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। वह अपने स्वरूप में नही रहता है। अपने स्वरूप मे रहना ही पिता के साथ रहना है और विषयों में अनुरक्त रहना पिता से, अपने स्वरूप से अलग हो जाना है।

अलंकार—अन्योक्ति।

डारी खाँड पटकि करि, अंतरि रोस उपाइ।
रोवत रोवत मिलि गया, पिता पियारे जाइ॥ ३२॥

शब्दार्थ—खाँड = मिठाई। उपाइ = उत्पन्न करके।

व्याख्या—जव पुत्र को यह वोध हुआ कि इस मिठाई के लोभ में पिता का साथ छूट गया है तो उसके भीतर खीझ उत्पन्न हुई और उसने झटककर मिठाई फेंक दिया और रोते-रोते पिता की ओर चला और उससे मिल गया।

टिप्पणी—जव जीव के भीतर यह भाव जगता है कि विषय-सुख के कारण ही उसका अपने प्रिय पिता से वियोग हो गया है, वह अपना वास्तविक स्वरूप भूल गया है तो वह विषयों से सर्वथा पराङ्मुख हो जाता है, वियोग की व्यथा का अनुभव करता है और अपने प्रिय पिता की ओर मुड़ता है तथा उससे मिल जाता है, अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

अलंकार—अन्योक्ति।

नैनाँ अंतरि आव तूँ[1], निस दिन निरखौं[2] तोंहि।
कव हरि दरसन देहुगे, सो दिन आवै मोंहि॥ ३३॥

---

१. ना० प्र०—आँचरूँ। २. गुप्त—राखौं, अन्य प्रतियों में—निरखूँ।

शब्दार्थ—निरषौं = देखूँ।

व्याख्या—हे प्रिय ! तू मेरी आँखों के भीतर समा जा, जिससे मैं तुझे दिन-रात देखता रहूँ। हे प्रभु ! वह दिन कब आयेगा, जब तुम मेरे लिए प्रत्यक्ष होगे ?

ना० प्र० की प्रति में 'नैनां अंतरि आँचरूँ' पाठ है। इसका अर्थ होगा—मैं अपनी आँखों के भीतर व्यवहार करता हूँ अर्थात् ध्यान करता हूँ। यह पाठ अधिक अच्छा नही है।

कबीर देखत दिन गया, निसि[1] भी देखत[2] जाइ।
विरहिन पिउ[3] पावै नहीं, जियरा तलपै[4] माइ॥ ३४॥

शब्दार्थ—माइ = मध्ये>मांहि, भीतर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि प्रियतम की प्रतीक्षा में, उनकी बाट देखते-देखते दिन बीत गया और उसी प्रकार रात भी बीत गयी। किन्तु बेचारी विरहिणी को प्रिय नही मिला। परिणाम यह हुआ कि उसका हृदय भीतर ही भीतर तड़पता रहता है।

अलकार—विशेपोक्ति।

कै विरहिन कौं[5] मीच दे, कै आपा दिखलाइ[6]।
आठ पहर का दाझनॉ[7], मोपै सहा[8] न जाइ॥ ३५॥

शब्दार्थ—कै = या। आपा = अपना स्वरूप। दाझना = दग्ध होना, संतप्त होना।

व्याख्या—हे प्रियतम ! इस विरहिणी को मृत्यु दे दो या अपना रूप दिखलाओ। विरह-व्यथा में दिन-रात आठो पहर का संतप्त होना, अब मुझसे सहा नही जाता।

विरहिन[9] थी तौ क्यों[10] रही, जली[11] न पिउ[12] के साथ[13]।
रहु रहु[14] मुगध[15] गहेलड़ी[16], अब[17] क्यों मींजै[18] हाथ॥ ३६॥

शब्दार्थ—मुगध = मुग्धा। गहेलड़ी = हठीली, पागल, गँवारिन।

व्याख्या—यहाँ कबीर साधना पथ पर अग्रसर व्यक्ति का रूपक मुग्धा नायिका से बाँधते हुए कहते है कि यदि तू सच्ची विरहिणी थी तो प्रिय के निमित्त क्यो न जल गयी ? ऐ मुग्धा, गर्विणी, पागल ! अब पछताने से क्या लाभ ?

यहाँ 'पिउ के साथ' का वाच्यार्थ है—पति के साथ क्यो नही जल गयी ? किन्तु भावार्थ यह है कि प्रीति के निमित्त क्यो नही जल गयी ?

ना० प्र० का पाठ इस प्रकार है :—

---

१. ना० प्र०—निस। २. तिवारी—निरखत। ३. ना० प्र०—विरहिण पिव। ४. तिवारी—तलपत। ५ ना० प्र०—कूँ। ६. हनु०, विचार०—आप आय। ७. ना० प्र० में—दाझणाँ। ८. ना० प्र०—सह्या। ९ ना० प्र०—विरहणि। १०. ना० प्र०—क्यूँ। ११. अन्य प्रतियाँ मे—जरी। १२ ना० प्र०—पीव। १३. ना०प्र०—नालि। १४ अन्य प्रतियों में—रहि रहि। १५ हनु०, युगला०—मूढ़ गहेलरी। १६ तिवारी—गहेलरी। १७. ना० प्र०—प्रेम न लाजूँ मारि। १८ तिवारी—लाजों।

विरहणि थी तौ क्यूँ रही, जली न पीव के नालि।
रहु रहु मुगध गहेलड़ी, प्रेम न लाजूँ मारि॥

इसका अर्थ इस प्रकार होगा :—

इसमें परकीया मुग्धा नायिका का रूपक है। 'नालि' पंजावी, मारवाड़ी भाषा का शब्द है। इसका अर्थ है—साथ।

'यदि तुझमें वास्तविक विरह था तो अपने प्रियतम के साथ क्यों न जल मरी ? ऐ मुग्धा, हठीली नायिका, ठहर। अपने प्रेम की अभिव्यक्ति को सांसारिक लज्जा से न दवा।

अलंकार—अन्योक्ति।

**हौं विरहा की लाकड़ी[1], समुझि समुझि धुँधुवाउँ[2]।**
**छूटि पड़ौं या[3], विरह तैं, जे[4] सारी ही जलि जाउँ॥ ३७॥**

शब्दार्थ—समुझि-समुझि = ( ला० अ० ) रह रहकर। धुँधुवाउँ=धीरे-धीरे जलना, सुलग-सुलगकर जलना, धुआँ देकर जलना। जे=यदि, जो। सारी ही=सम्पूर्ण।

व्याख्या—मैं विरह की वह गाँठ-गठीली लकड़ी हूँ जो शनैः शनैः रह रहकर धुआँ देती हुई सुलगती है। अच्छा होता, यदि मैं सम्पूर्ण रूप से एक वार ही जल जाती। इस प्रकार विरह-व्यथा से मुक्ति मिल जाती।

टिप्पणी—इस साखी में विरह-व्यथा की तीव्रता का प्रतिपादन हुआ ही है, साथ ही यह व्यञ्जना भी है कि यदि संसार के प्रति आसक्ति और अहंकार की ग्रन्थि मिट जाय और पूर्ण रूप से विरह की आग धधक उठे तो प्रभु-मिलन की सम्भावना ( Chance ) प्राप्त हो जाय। इसमें यह भी संकेत है कि लौकिक विरह में जलने के वाद मिलन सम्भव नही। किन्तु आध्यात्मिक विरह में जलकर ही अर्थात् अहं के पूर्ण विनाश के वाद ही, आपा के सर्वथा समाप्त होने पर ही प्रभु-मिलन का सुन्दर सुयोग प्राप्त होता है।

अलंकार—विरोधाभास।

**कवीर तन मन यों जला[5], विरह अगिनि सों[6] लागि।**
**मिरतक पीर न जानई[7], जानैगी वह[8] आगि॥ ३८॥**

शब्दार्थ—मिरतक=मृतक, मरा हुआ। पीर = पीड़ा।

व्याख्या—कवीर कहते हैं कि विरह की अग्नि से लगकर शरीर और इन्द्रियाँ यों जल गयी कि वे मृतक के समान हो गयी। वेचारा मृतक ( मुर्दा ) विरह की पीड़ा को क्या जान सकता है ? वह तो एक आन्तरिक अनुभूति है जो वाह्य इन्द्रियों और मन

---

१. विचार०, हनु०, युगला०—हूँ जु विरह की लाकडी। २. ना० प्र०—धुँधाउँ। ३. अन्य प्रतियों में—परूँ जो। ४. अन्य प्रतियों में—सगरी ही जलि जाय। ५. ना० प्र०—जल्या। ६ ना० प्र०—अगनि सूँ, हनु०—अग्नि सव लग्ग। ७. ना० प्र०—मृतक पीड न जाँणई, हनु०—मृतकपिण्ड नहिं जानई। ८. ना० प्र०—जाणैगी यहु, हनु०—जानैगा वह अग्ग।

के द्वारा नही जानी जा सकती। इस अनुभूति को वही आन्तरिक विरहाग्नि ही जान सकती है।

अलंकार—विरोधाभास, असंगति।

**बिरह जलाई मैं जलौं[1], जलती जलहरि[2] जाउँ।**
**मो देखा[3] जलहरि[4] जलै, संतौं[5] कहाँ बुझाउँ॥ ३९॥**

शब्दार्थ—जलहरि=जलधरी, जलाशय।

व्याख्या—मैं विरहाग्नि से जल गयी हूँ और जलाशय के निकट अपनी जलन बुझाने जाती हूँ, पर मुझे देखकर वेचारा वह जलाशय स्वयं जल उठता है। हे संतो! बताओ अब मैं कहाँ जाकर इसे बुझाऊँ?

टिप्पणी—यह साखी केवल विरहाग्नि की तीव्रता बताने के लिए लिखी गयी है। इसमें कोई अन्योक्ति नही है। इसी भाव का एक अन्य दोहा मिलता है:—

शीतकाल जलमध्य ते, निकसत भाप सुभाय।
मानो कोई विरहिणी, अब ही गई नहाय॥

अलंकार—तद्गुण।

**परबत परबत[6] मैं फिरा[7], नैन गँवाये[8] रोइ।**
**सो बूटी पाऊँ नहीं, जातैं जीवन[9] होइ॥ ४०॥**

शब्दार्थ—बूटी = औषध, दवा।

व्याख्या—मैं उस बूटी की खोज में पर्वत-पर्वत मारा फिरा जिससे मृतक तुल्य मैं जीवन प्राप्त कर सकूँ। बूटी प्रायः पर्वतों पर ही मिलती है। यहाँ 'पर्वत' में बड़े-बड़े साधकों और शास्त्रियों की व्यञ्जना है। भाव यह है कि मैं बड़े-बड़े साधकों और शास्त्रियो के पास दर-दर मारा फिरा और प्रिय-वियोग में रो-रोकर नेत्र भी खो दिये। परन्तु मुझे कोई भी वह सजीवनी बूटी न दे सका जिससे जीवन की प्राप्ति हो अर्थात् कोई भी वह मार्ग न बतला सका जिससे प्रभु-मिलन हो सके, जो ही वास्तविक जीवन है। प्रभु-मिलन के बिना यह जीवन मृत्यु के समान है। प्रभु-मिलन से ही बिरही को वास्तविक जीवन प्राप्त होता है।

अलंकार—अन्योक्ति।

---

१. हनु०, युगला०—जलूँ। २ हनु०, युगला०—जलहर। ३. ना० प्र०—देख्यॉ। ४. हनु०, युगला०, गुप्त—जलहर। ५. हनु०—सो तो। ६. ना० प्र०—परवति परवति। ७. ना० प्र०—फिर्‌या, युगला०—फिरूँ। ८ तिवारी—गवाया, युगला०—गवाऊँ। ९. युगला०—जासौं जीवन, ना० प्र०—जातैं जीवनि।

**फारि[1] पटोरा[2] धज करूँ, कामलिया[3] पहिराउँ।**
**जिहि जिहि भेषां[4] हरि मिलै, सोइ सोइ भेष कराउँ[5] ॥ ४१ ॥**

शब्दार्थ—पटोरा=रेशमी वस्त्र ( प्र० अ० ) भोग विलास की सामग्री। धज=टुकड़े, चिथड़े। कामलिया=कम्बल, योगियों का वस्त्र।

व्याख्या—मेरा हार्दिक संकल्प है कि मैं अपने रेशमी वस्त्रों को फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर डालूँ अर्थात् अपने भोग-विलास की सारी सामग्री को त्याग दूँ और कम्बल पहन लूँ अर्थात् योगी का बाना धारण करूँ। जिस किसी भी वेश में प्रभु मिलें, मैं उसे धारण करने को उद्यत हूँ।

**नैन हमारे बावरे[6], छिन छिन लोरैं तुज्झ[7]।**
**नाँ तूँ मिलै न मैं सुखी[8], ऐसी वेदन मुज्झ[9] ॥ ४२ ॥**

शब्दार्थ—लोरैं = लपकते है, उत्सुक होते है।

व्याख्या—मेरे ये बावरे नेत्र क्षण-क्षण मे तेरे प्रति लपकते हैं। किन्तु न तो तू मिलता है और न मैं सुखी हो पाता हूँ। इस कारण मुझे बड़ी तीव्र वेदना हो रही है।

इस साखी की प्रथम पंक्ति का ना० प्र० की प्रति मे यह पाठ है—नैन हमारे जलि गये, छिन-छिन लोड़ै तुझ।' यहाँ 'लोड़ै' का अर्थ है—आवश्यकता का अनुभव करना। तब अर्थ होगा—मेरे नेत्र प्रभु के वियोग में तप्त हो गये है। वे क्षण-क्षण उसकी आवश्यकता का अनुभव कर रहे हैं। दूसरी पंक्ति में 'सुखी' के स्थान पर 'खुसी' पाठ है। इससे भाव में कोई अन्तर नही आता।

**भेरा[10] पाया सरप[11] का, भौसागर के माँहि।**
**जे छाँड़ौं तौं बूड़िहौं[12], गहौं त डसिहै[13] बाँहि ॥ ४३ ॥**

शब्दार्थ—भेरा = बेड़ा। सरप = सर्प, साँप ( प्र० अ० ) प्रभु का प्रेम।

व्याख्या—संसार ऐसा भयंकर, विस्तृत और अथाह सागर है कि इसको पार करने का एकमात्र साधन प्रभु की प्रेम रूपी नौका है। परन्तु वह ऐसे सर्प के समान है जो विषय-वासना-युक्त सांसारिक जीवन को डस लेता है। यदि जीव उस प्रेमाश्रय को छोडता है तो भवसागर में उसका डूबना अवश्यंभावी है। यदि नही छोड़ता है तो उसके विषयानुरक्त जीवन का विनाश अवश्यंभावी है। विषयानुरक्त जीवन को त्यागने से ही प्रभु-प्रेम रूपी बेड़े द्वारा भवसागर पार किया जा सकता है।

---

१ ना० प्र०—फाडि पुटोला धज करौं। २. गुप्त—पटोला। ३. गुप्त—कम्बलडी, ना० प्र०—कामलडी। ४ हनु०, विचार०, युगला०—जिन-जिन भेषे। ५ अन्य प्रतियों में—सो सो भेष बनाउँ।

६. ना० प्र०—जलि गये। ७. ना० प्र०—लोड़ैं तुझ, हनु०—लागैं तुज्झ। ८. ना० प्र०—खुसी। ९. ना० प्र०—मुझ। १० ना० प्र०—भेला पाया श्रमसौ, युगला०—मेरै चढिया सरप कै। ११. गुप्त—स्रप। १२. ना० प्र०—डूबिहौं, हनु०—डूबसी। १३. ना० प्र०—डसिए।

टिप्पणी—इस साखी में 'गहाँ त डसिहै वाँहि' में एक सुन्दर व्यञ्जना यह है कि ईश्वरानुराग बहुत टेढ़ी खीर है। उसके बिना भवसागर पार नही किया जा सकता और उसके ग्रहण करने पर विषयानुराग का सर्वथा त्याग करना होगा। कबीर की चेतावनी यही है कि प्रभु-रति और विषय-विरति एक साथ ही होने से जीव भवसागर तर सकता है।

तुलसीदास ने भी कहा है:—

यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां।
वंदेऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशम् हरिं॥ ६॥
(मानस-बाल०)

अलंकार—साग रूपक।

रैंना[1] दूर बिछोहिया, रहु रे संख[2] म झूरि।
देवलि देवलि धाहड़ी[3], देसी[4] ऊगे सूरि॥ ४४॥

शब्दार्थ—रैंना = रात्रि में। बिछोहिया = वियुक्त हो गया। संष = शंख। म = मत, नही। झूरि = संतप्त, चिंतित। देवलि = देवालय, मन्दिर। ऊगे सूरि = सूर्य के उदय होने पर। धाहड़ी = नाद, ध्वनि। देसी = देगा।

वाच्यार्थ—हे शंख। तू रात्रि में अपने प्रिय समुद्र से वियुक्त हो गया है। तू शान्त रह, संतप्त मत हो, घबड़ा मत। सूर्य के उदय होने पर तू प्रत्येक देवालय में ध्वनि करेगा।

भावार्थ—यहाँ शंख को जीव, रात्रि को अज्ञान और सूर्य को ज्ञान के प्रतीक रूप में रखा गया है।

हे जीव! तू अज्ञान के अंधकार में अपने प्रियतम प्रभु से वियुक्त हो गया है, जैसे शंख रात्रि के अंधकार में अपने प्रिय रत्नाकर से लहरों द्वारा दूर फेंक दिया जाता है। जैसे सूर्योदय होने पर वही शंख फिर देवालयो में उल्लासपूर्वक ध्वनित होता है वैसे ही हे जीव! ज्ञान का प्रकाश होने पर तू भी दिव्य-भाव को प्राप्त होगा, परमात्मभाव को ध्वनित करने के योग्य बन जाएगा।

अलंकार—अन्योक्ति।

सुखिया सब संसार है, खायँ अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै॥ ४५॥
(११२)

व्याख्या—कबीर कहते है कि जिन जीवों ने वियोग का अनुभव नही किया है, वे आनन्द से खाते और सोते है अर्थात् सासारिक सुखों में लिप्त रहते हैं। परन्तु मुझ जैसे

१ तिवारी—रैनाड़ेर गुप्त०--रैंणाड़रा, हनु०, विचार०--युगला०--रनया राम छिपाड़यों २. ना०प्र०—सपम अन्य प्रतियो में—रहु रहु सख मझूर। ३ हनु०, विचार०, युगला०—धाहरी। ४. हनु०—विचार०—युगला०—दिवस न ऊगें सूर।

## ( ४ ) ग्यान विरह को अंग

'विरह को अंग' में रागात्मक विरह का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। 'ज्ञान विरह को अंग' में ज्ञानयुक्त विरह का वर्णन है। यह विरह रागात्मक विरह से कहीं अधिक श्रेयस्कर और प्रवल होता है।

दीपक पावक आँनिया[1], तेल भि[2] आना[3] संग।
तीन्यूँ मिलि करि[4] जोइया, (तव) उड़ि उड़ि पड़ैं[5] पतंग॥ १॥

शब्दार्थ—दीपक = ( प्र० अ० ) शरीर, जीव। पावक = अग्नि ( प्र० अ० ) ज्ञान-ज्योति। आनिया = ले आया। तेल = स्नेह ( प्र० अ० ) प्रेम। जोइया = योजित किया, युक्त किया। पतंग = पतिंगे ( प्र० अ० ) विषय वासना।

व्याख्या—ज्योति के लिए तीन तत्वों की आवश्यकता होती है—दीपक, आग और तेल। इसी प्रकार जीव में ज्ञान रूपी ज्योति तभी आ सकती है, जब गुरु जीव रूपी दीपक में ज्ञान रूपी अग्नि और प्रेम अथवा भक्ति रूपी तेल एकत्र कर तीनों को योजित कर दे। ऐसा होने पर फिर तो विषय-वासना रूपी पतिंगे स्वतः आ-आकर जल मरते हैं।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

मारा है जे मरैगा[6], विन सर थोथी भालि।
पड़ा[7] पुकारै व्रिछ तरि[8], आजि मरै कै काल्हि[9]॥ २॥

शब्दार्थ—सर = अनी। थोथी = छूँछी, कोरी, खाली। भालि = भाला। मारा है = अपनापन खोना।

व्याख्या—यदि गुरु ने केवल ज्ञान-विहीन विरह का वाण मारा है, तब भी शिष्य मरेगा अवश्य अर्थात् अपना आपापन या अहंभाव खोयेगा अवश्य, किन्तु उसकी वही दशा होगी जो उस मनुष्य की होती है जिसको अनी रहित छूँछे भाले की चोट लगती है। वह मरता अवश्य है, किन्तु किसी वृक्ष के नीचे पड़ा हुआ कराह-कराह कर कई दिन वाद मरता है। ठीक इसी प्रकार जिसमें केवल रागात्मक विरह है, वह भी आपापन खोएगा, किन्तु वहुत समय के वाद। जिसको ज्ञान संयुक्त विरह का वाण लगा है, वह शीघ्र ही आपापन खो देगा।

यहाँ पर 'विनु सर थोथी भाल' ज्ञान विहीन विरह का व्यञ्जक है।

अलंकार—विभावना।

---

१. ना० प्र०—आँणिया। २ ना०प्र०—भी। ३. ना०प्र०—आणां। ४ अन्य प्रतियों में—तीनौं मिलि कै। ५ अन्य प्रतियों में—परैं। ६ युगला०—मारा है मरि जायगा। ७ युगला०—मरा पुकारै वृक्षतर। ८. गुप्त—तलि। ९. युगला० कै काल।

हिरदै[1] भीतरि दौं बलै[2], धुवाँ न परगट होइ[3]।
जाके लागी सो लखै, कै जिहि[4] लाई सोइ[5] ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—दौ = दावाग्नि, विरह की आग। बलै = जलै, जलती है। लाई = लगाई। सोइ = वही।

व्याख्या—हृदय के भीतर विरह की आग जलती है, किन्तु उसे कोई दूसरा नही जान पाता। आग को उसके चिह्न धुआँ से जाना जाता है। विरह की आग में धुआँ नहीं है। अतः इस आग का दूसरा कोई अनुमान नही कर सकता। इस आग का तो वही प्रत्यक्ष कर सकता है जिसको वह लगी हो अथवा वह जानता है जिसने उसे लगायी हो।

अलंकार—विशेषोक्ति, विभावना, व्यतिरेक।

झल[6] ऊठी झोली जली[7], खपरा फूटिम फूटि।
जोगी था सो रमि गया[8], आसनि[9] रही विभूति ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—झल = ज्वाला, आग (प्र० अ०) ज्ञान-विरह की अग्नि। झोली = थैली, जिसमें योगी या साधक वस्त्रादि वस्तुएँ रखता है, (प्र० अ०) संचित कर्म। खपरा = खप्पड़, भिक्षापात्र (प्र० अ०) क्रियमाण कर्म। फूटिम फूट = टूट-फूट गया। रमि गया = ब्रह्म में मिल गया। आसनि = आसन पर। विभूति = खाक़, राख, भस्म।

संदर्भ—अध्यात्मशास्त्र का प्राचीन विश्वास रहा है कि ज्ञान रूपी अग्नि सभी कर्मो को भस्म कर देती है। गीता में कहा गया है—ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते-ऽर्जुन। (४।३७) भगवान् अर्जुन से कहते हैं—'ज्ञान रूपी आग सभी कर्मों को भस्म कर देती है। कबीर की इस साखी में यही भाव प्रतिध्वनित हुआ है :—

व्याख्या—ज्ञान रूपी आग प्रज्वलित हुई, उसमें योगी के सारे संचित कर्मों की झोली जल गयी और क्रियमाण कर्म रूपी भिक्षापात्र भी टूट-फूट गया अर्थात् अब उसका भी योगी पर कोई प्रभाव न रहा। उसके भीतर जो तत्त्व साधना कर रहा था, वह अपने परमस्वरूप अर्थात् ब्रह्म में मिल गया। अब उसके आसन पर केवल भस्म रह गया अर्थात् वह साधक अपने पुराने रूप में न रह गया। उसका अवशेष मात्र प्रतीक रूप में कहने-सुनने को रह गया।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

---

१. ना० प्र०—हिरदा। २. युगला०—धौं जली, हनु– दव दरै। ३. ना० प्र०—हनु०—धूवाँ प्रगट न होइ। ४. गुप्त०—जिनि, युगला०—जिस। ५. हनु०—होय। ६. युगला०—झाल उठी। ७. हनु०—झाल उठी सारा जला। ८. हनु०—हंसा योगी रम गया। ०. ना० प्र०—आसणि।

**आगि[1] जु लागी नीर मँहि,[2] कांदौ[3] जरिया झारि।**
**उत्तर[4] दखिन[5] के पंडिता, मुए[6] विचारि बिचारि ॥ ५ ॥**

शब्दार्थ—आगि = ( प्र० अ० ) विरहाग्नि। नीर = जल ( प्र० अ० ) मानस। कांदौ = कर्दम, कीचड़ ( प्र० अ० ) मनोविकार। झारि = सम्पूर्णतया।

व्याख्या—पानी में आग लग गयी और उसका कीचड़ सम्पूर्णतया जल गया। उत्तर-दक्षिण के पंडित अर्थात् चारों ओर के शास्त्री विचार कर हार गये पर इसका रहस्य किसी की समझ में न आया।

टिप्पणी–यह कबीर की उलटवाँसी है। इसमें स्पष्ट विरोधाभास है। पहला वैचित्र्य यह है कि जल में आग लगी है। दूसरा वैचित्र्य यह है कि आग जल में लगी है परन्तु जलता कीचड है। इसका भाव यह है कि जब ज्ञान-विरह की आग मानस रूपी नीर में लगती है, तब उसमे निहित विकार या वासनाएँ ( कीचड़ ) पूर्णतया भस्म हो जाती है। कीचड़ के जलने में एक व्यञ्जना यह भी है कि जैसे कीचड़ जल में सबसे नीचे रहता है वैसे ही मानस के सबसे नीचे वाले तल अर्थात् अवचेतन में जो दूषित संस्कार और वासनाएँ रहती हैं, वे भस्म हो जाती है। उत्तर-दक्षिण अर्थात् चारों ओर के शास्त्री लोग जिनका ज्ञान केवल पोथी तक सीमित है, सोच-सोचकर रह गये, किन्तु इसका मर्म उनकी समझ में न आया।

अलंकार—असंगति।

**दौं[7] लागी सायर[8] जला, पंखी बैठे आइ[9]।**
**दाधी[10] देह न पालवै[11], सद्गुरु गया लगाइ ॥ ६ ॥**

शब्दार्थ—दौ = दावाग्नि, ज्ञान-विरह की अग्नि। सायर = सागर ( प्र० अ० ) मानस। पंखी = पक्षी, ( प्र० अ० ) हंस, जीवात्मा। दाधी = दग्ध हुई, जली हुई। देह = शरीर ( प्र० अ० ) विलग वैयक्तिक सत्ता। पालवै = पल्लवित होना, पनपना।

व्याख्या—सद्गुरु ने ज्ञान-विरह की आग लगा दी। मानस-सरोवर जल गया। भवसागर मिट गया। अब हंस रूपी शुद्ध जीव ऊपर स्थित हो गया अर्थात् वासनाओ और पृथक् वैयक्तिक सत्ता से विमुक्त हो गया। पृथक् वैयक्तिक सत्ता रूपी देह दग्ध हो गयी। अब वह पुन. नही पनप सकती अर्थात् अपना पृथक् आपापन का भाव सदा के लिए जाता रहा। अब वह पुनः पल्लवित न हो सकेगा।

अलंकार—अन्योक्ति।

---

१. ना० प्र०—अगनि। २ ना० प्र०—मै। ३ ना० प्र०—कान्दू जलिया। ४. युगला०—उत्तर दिशि का पण्डिता। ५. ना० प्र०—दषिण। ६. ना० प्र०—रहे ७. हनु०—धौं लागी सायर जली। ८. ना० प्र०—साइर जल्या। ९ हनु०—पक्षी जलिया आय, ना० प्र०—पषी। १०. हनु०—दाझे जीव न पालु है। ११. गुप्त—पल है।

गुरु[१] दाधा[२] चेला जला[३], बिरहा लागी आगि।
तिनका बपुरा ऊवरा[४], गलि पूरे कै लागि॥ ७॥

शब्दार्थ—दाधा = दग्ध किया, जलाया। तिनका = तृण ( प्र० अ० ) क्षुद्र चेला। बपुरा = बेचारा। ऊवरा = उद्धार हो गया। गलि पूरे कैं लागि = पूर्ण के गले लगकर।

व्याख्या—गुरु ने विरह की आग लगायी। उस आग में चेला जल गया अर्थात् उसके भीतर पूर्ण रूप से विरह की वह आग व्याप्त हो गई। साधारणतः आग लगने से तिनका भस्म हो जाता है। परन्तु विरह की आग ऐसी होती है जिससे बेचारे क्षुद्र चेले रूपी तिनके का उद्धार ही हो जाता है, क्योंकि उस विरह से उसका पूर्ण से आलिंगन हो जाता है।

अलंकार—विरोधाभास, विशेषोक्ति।

अहेड़ी[५] दौ[६] लाइया, मिरग[७] पुकारे रोइ।
जा बन में क्रीला करी[८], दाझत है बन सोइ॥ ८॥

शब्दार्थ—अहेरी = शिकारी ( प्र० अ० ) गुरु। दौ = आग, ज्ञान-विरह की आग। लाइया = लगाया। मिरग = हिरन ( प्र० अ० ) वासनासक्त जीव। क्रीला = क्रीड़ा, खेल-कूद ( प्र० अ० ) भोग विलास। दाझत = जल रहा है। बन = जंगल ( प्र० अ० ) मनो-देहात्मक क्षेत्र ( Psycho-Physical existence )

व्याख्या—शिकारी आखेट के लिए बन में आग लगाता है, जिससे मृग अपने स्थान से बाहर निकलते हैं। तब शिकारी उनका शिकार करता है। उस वन को छोड़ने से मृगों में यह वेदना उठती है कि जिस वन में वे आनन्दमय जीवन व्यतीत करते थे, उनके देखते वही वन जल रहा है।

इसी प्रकार गुरु रूपी शिकारी शिष्य के मनो-देहात्मक वन में ज्ञान-विरह की आग लगाता है और वह वासनासक्त जीव रूपी मृग चिल्ला-चिल्लाकर रोता है कि जिस विषय-वासना रूपी वन में भोग कर रहे थे, वह अब जल रहा है अर्थात् नष्ट हुआ जा रहा है।

टिप्पणी—इस साखी में व्यञ्जना यह है कि जब जीव की विषयासक्ति समाप्त होने लगती है, तब उसे एक विचित्र रागात्मक धक्का लगता है कि जिसमे वह अभी तक विहार कर रहा था, वह अब किस प्रकार नष्ट हो रहा है। मृग और आसक्ति-मुक्त जीव में केवल अन्तर यह है कि मृग को वन का मोह बना रहता है, परन्तु आसक्ति-मुक्त जीव को एक क्षण के लिए धक्का-सा लगता है, किन्तु बाद में उसे विचित्र प्रकार की शांति का अनुभव होता है।

---

१. युगला०—जल दाझा चीखल जला, मिरहा लागी आगि। २ तिवारी—दाझा, हनु०—डाढा। ३. ना० प्र०—जल्या। ४. ना० प्र०—तिणका वपुडा ऊवर्‌या। ५. युगला०—अहेरी धौ। ६. हनु०—सर। ७. ना० प्र०—मृग। ८. युगला०—जा वन में की लाकडी, हनु०—जिस वन हम क्रीडा किया।

पांनीं मांहीं परजली[1], भई[2] अपरबल[3] आगि।
बहती सरिता[4] रहि गई, मच्छ[5] रहे जल त्यागि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—पानी = जल (प्र० अ०) विषयासक्त मानस। परजली = प्रज्वलित हुई। अपरबल = प्रबल। सरिता = नदी (प्र० अ०) प्रवहमान इन्द्रियाँ। मच्छ = मछली (प्र० अ०) जीवात्मा।

व्याख्या—जब गुरु ने ज्ञान-विरह की आग लगाई तो प्रबल ज्वाला उठी और विषयासक्त मानस प्रज्वलित हो गया। इन्द्रियों का कार्य समाप्त हो गया और जीवात्मा रूपी मत्स्य ने विषय-वासना रूपी जल को छोड़ दिया।

अलंकार—अन्योक्ति।

समुन्दर[6] लागी आगि, नदियाँ जलि कोइला भईं।
देखि[7] कबीरा जागि, मंछी रूखा[8] चढ़ि गईं ॥ १० ॥
—(१२२)॥

शब्दार्थ—समुन्दर=सागर (प्र० अ०) विषयासक्त मानस। नदियाँ = (प्र० अ०) इन्द्रियाँ। मंछी = (प्र० अ०) जीवात्मा। रूखा = वृक्ष (प्र० अ०) सहस्रार।

व्याख्या—विषयासक्त मानस में ज्ञान-विरह की आग लग गई, फलतः नदी रूपी इन्द्रियाँ भी, जो कि विषयों को लाकर मानस-सागर में प्रविष्ट करती हैं, उस मानस-सागर के जलने पर, स्वयं जलकर भस्म हो गईं। कबीर कहते हैं कि सचेत होकर देख, जीवात्मा अब सहस्रदल कमल पर पहुँच गया अर्थात् उसका ब्रह्म से मिलन हो गया। उसकी भौतिकता नष्ट हो गई।

●

---

१. ना० प्र०—पांणीं माहै प्रजली। २. युगला०—रई अपरबल। ३. ना० प्र०—अप्रबल। ४. ना० प्र०—सलिला, तिवारी-सलिता। ५ ना० प्र०—मंछ। ६. ना० प्र०—समन्दर। ७. युगला०—उठा। ८. ना० प्र०—रूपां, युगला०—बिरछा।

## ( ५ ) परचा को अङ्ग

**कबीर तेज अनंत का, मानों[1] सूरज सेनि[2]।**
**पति संगि जागी सुन्दरी, कौतुक[3] दीठा[4] तेनि ॥ १ ॥**

शब्दार्थ—परचा = परिचय, पहिचान। अनंत = परम ज्योति, प्रभु, परमात्मा। सेनि = श्रेणी। कौतुक = रहस्य, वैचित्र्य। तेनि = उसके द्वारा।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि अनंत अर्थात् परमात्मा की ज्योति इतनी प्रबल है मानो सूर्य की श्रेणी उदय हुई हो। परन्तु इस ज्योति का अनुभव सबको नही होता। जो जीव मोह-निद्रा में सोता नही रहता, परमात्मा के साथ जागता रहता है, उसी के द्वारा यह रहस्य देखा जाता है।

टिप्पणी—प्रत्येक जीव तीन अवस्थाओ मे रहता है—जाग्रत्, स्वप्न और सुपुप्ति। जाग्रत् अवस्था में उसको स्थूल जगत् का बोध होता रहता है। उसमें मन, बुद्धि, अहंकार, पंच-ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच-कर्मेन्द्रियाँ और पंच-प्राण कार्य करते रहते है। स्वप्नावस्था में स्थूल जगत् का बोध नही रहता है, केवल संस्कार-जन्य कल्पना का अवगम होता रहता है। स्वप्नावस्था में कर्मेन्द्रियो और ज्ञानेन्द्रियों का कार्य बन्द हो जाता है, केवल मन, बुद्धि, अहंकार कार्यशील रहते हैं। सुपुप्ति अवस्था मे मन का भी कार्य बन्द हो जाता है। सत्व और रज भी दब जाते है, केवल तमस् का प्राबल्य रहता है। अतः इस अवस्था में जीव प्रगाढ़ निद्रा में पड़ जाता है। इन तीन अवस्थाओं की पृष्ठभूमि मे एक ऐसी अवस्था है जो अनन्त-ज्योति आत्मा की अवस्था है। इसमे कभी निद्रा नही होती। यह पूर्वोक्त तीनों अवस्थाओ का साक्षी है। इसी की ज्योति को कबीर ने 'अनन्त की ज्योति' कहा है। सुषुप्ति में प्रत्येक जीव अज्ञान की निद्रा में पड़ा रहता है। यह अज्ञान या मोह भावात्मक है। उसकी अपनी एक स्थिति है, जैसा कि निम्न अनुभव से स्पष्ट है, जो कि प्रत्येक व्यक्ति सोकर जागने पर करता है—'सुखमहमस्वाप्सम् न किञ्चिदवेदिषम्' अर्थात् मैं सुखपूर्वक सोया और मुझे कुछ का भी बोध नही रहा। यही 'कुछ का' बोध न होना अज्ञान है अर्थात् सुपुप्ति में अज्ञान रहता ही है। परन्तु जिस जीव को तुरीय या आत्मा का बोध नहीं रहता, वह जाग्रत् अवस्था में भी मोह-निद्रा में पड़ा हुआ है। जगत् के सभी प्राणी इसी मोह-निद्रा में हैं। जिनको तुरीय या आत्मा का बोध बना रहता है, वे सदा जाग्रत् है। इसी बात को गीता में कहा गया है—'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' अर्थात् जो प्रत्येक प्राणी के लिए रात्रि है, उसमें योगी या संयमी जागता रहता है।

---

१. ना० प्र०—मानौं ऊगी सूरज सेणि। २. युगला, विचार०, हनु०—सैन। ३. ना० प्र०—कौतिग। ४. युगला०, विचार०, हनु०—देखा नैन।

कबीर ने इसी तथ्य का संकेत इस साखी में किया है। जिनको तुरीय अवस्था का परिचय हो जाता है, वे सभी अवस्थाओ में उस साक्षि-चैतन्य का अनुभव करते रहते हैं। और जैसे वह सदा जाग्रत् है, वैसे ही वे जीव भी सभी अवस्थाओ में जाग्रत् रहते है अर्थात् परमात्मा से अपना वियोग किसी भी अवस्था में नही समझते। इसी बात को कबीर ने कहा है—'पति संग जागी सुन्दरी, कौतुक दीठा तेनि' अर्थात् साक्षि-चैतन्य या आत्मा के साथ जो जीव जागता रहता है, वही इस आनन्दमय रहस्य का अनुभव करता है।

यहाँ 'पति' तुरीय साक्षि-चैतन्य के लिए प्रयुक्त हुआ है और 'सुन्दरी' जीव के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'दीठा तेनि' प्राचीन हिन्दी का कर्मवाच्य प्रयोग है। इसका अर्थ है—उसके द्वारा देखा गया।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

**कौतुक दीठा देह विन, रवि ससि विना उजास।**
**साहिब सेवा मांहि है, वेपरवाँही दास॥ २॥**

शब्दार्थ—उजास = प्रकाश, उजाला। वेपरवाँही = निश्चिन्त।

व्याख्या—इस विचित्र परिचय के दो विचित्र लक्षण है—एक तो मैं प्रत्यक्ष रूप से देख रहा हूँ, परन्तु उसका कोई देह या आकार नही है। निराकार का साक्षात्कार ही परिचय का स्वरूप है। दूसरा वैचित्र्य यह है कि वह एक अद्भुत ज्योति है, परन्तु वहाँ न सूर्य है न चन्द्र। सच बात तो यह है कि सूर्य और चन्द्र भी उसी ज्योति से प्रकाशित हैं।

'साहिव सेवा मांहि है'—के दो अर्थ हो सकते है—(१) साहिब सेवा में ही है अर्थात् स्वामी सेवा से ही मिलता है। (२) दास साहिव सेवा मांहि है अर्थात् दास स्वामी की सेवा में लगा हुआ है। अत: वह वेपरवाही अर्थात् निश्चिन्त है।

अलंकार—विभावना।

**पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।**
**कहिबे[1] कौ सोभा नहीं, देखे[2] ही परमान[3]॥ ३॥**

शब्दार्थ—उनमान = अनुमान। परमान = प्रमाण।

व्याख्या—परब्रह्म के प्रकाश का क्या अनुमान लगाया जा सकता है? अनुमान, प्रत्यक्ष, उपमान आदि साधन तो लौकिक या मायिक जगत् के हैं। उसका साक्षात्कार इन किसी भी साधनो के क्षेत्र में नही हैं। उसका सौंदर्य अनिर्वचनीय है। उसका प्रमाण केवल अपरोक्षानुभूति ही है।

अलंकार—वक्रोक्ति।

---

१. ना० प्र०—कहिए कूँ, हनु०. विचार०—कहिबे की। २ ना० प्र०—देख्या। ३ ना० प्र०—परवान।

**अगम अगोचर गमि नहीं, जहाँ[1] जगमगै[2] जोति।**
**तहाँ[3] कबीरा बन्दगी, पाप पुन्नि[4] नहिं छोति ॥ ४ ॥**

शब्दार्थ—अगम=पहुँच के बाहर। अगोचर = इन्द्रियातीत। गमि=पहुँच। जगमगै= प्रकाशित हो रही है। बन्दगी = प्रणत। छोति = छूत, स्पर्श।

व्याख्या—जो ज्योति जगमगा रही है, जिस परिचय ( साक्षात्कार ) का कबीर ने अनुभव किया है, वह मन, वचन से परे है। वह इन्द्रिय का विषय नही है। वहाँ किसी भी मायिक या लौकिक साधन का प्रवेश नही है। जिस परम 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' के सामने कबीर प्रणत है, वह स्थिति पाप-पुण्य से भी परे है। पाप-पुण्य तो अहं को लेकर होता है। वह अहं से परे है। अतः वहाँ पाप-पुण्य का क्या प्रश्न हो सकता है? वह तो पाप-पुण्य से परे हैं ही, उसका जो साक्षात्कार करता है, वह भी उससे तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। अतः वह भी पाप-पुण्य से परे हो जाता है। मुण्डकोपनिपद् में कहा गया है:—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं,
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय,
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥
( ३।१।३ )

'जिस समय द्रष्टा सुवर्णवर्ण और ब्रह्मा के भी उत्पत्तिस्थान उस जगत्कर्ता ईश्वर को देखता है, उस समय वह विद्वान् पाप-पुण्य दोनों को त्यागकर निर्मल हो, अत्यन्त समता को प्राप्त हो जाता है।

**हदे[5] छाँड़ि बेहदि गया, हुवा निरन्तर वास।**
**कवँल जु फूला फूल बिनु, को निरखै[6] निज दास ॥ ५ ॥**

शब्दार्थ—हदे = सीमा, ससीम। बेहद = असीम। निरन्तर = शाश्वत, देश-काल के व्यवधान से रहित।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैं ससीम को पारकर असीम मे पहुँच गया और वहाँ मेरी शाश्वत स्थिति हो गई। वहाँ मैंने अनुभव किया कि बिना किसी फूल के एक कमल खिला हुआ है। उसको प्रभु-भक्त के सिवाय कौन देख सकता है?

अलंकार—विभावना।

---

१. ना० प्र०—तहाँ। २. हनु०—विचार०—झिलमिली, युगला०—झिलमिल। ३. ना० प्र०—जहाँ। ४. ना० प्र०—पुन्य। ५. गुप्त—हद। ६. ना० प्र०—निरषै।

कबीर मन मधुकर भया, करै[1] निरन्तर वास।
कमल[2] जुफूला नीर बिनु, को[3] देखै निज दास ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—मधुकर = भ्रमर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि उस कमल को देखकर मेरा मन भ्रमर के समान हो गया और वहीं निरन्तर मँडराता रहा। बिना जल के फूले हुए उस अद्‌भुत कमल को प्रभु-भक्त के सिवाय कौन देख सकता है ?

उपर्युक्त दोनों साखियों में प्रयुक्त 'को' के दो अर्थ हो सकते हैं—( i ) कौन देख सकता है ? ( ii ) कोई प्रभु का दास ही देख सकता है। दोनों का भाव एक ही है।

अलंकार—विभावना।

अन्तरि कँवल प्रकासिया, ब्रह्म वास तहँ होइ।
मन भँवरा तहँ[4] लुबधिया, जानैगा[5] जन कोइ ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—लुबधिया = लुब्ध हो गया। जन = भक्त।

व्याख्या—हृदय के भीतर कमल प्रकाशित हो रहा है। वहाँ ब्रह्म का निवास है। मन रूपी भ्रमर उस कमल पर लुब्ध होकर उसमें रमण करता रहता है। इस रहस्य को कोई प्रभु का भक्त ही जान सकता है।

अलंकार—रूपक

टिप्पणी—दहर ( सूक्ष्म ) पुण्डरीक में आत्मा की अनुभूति ( परिचय )।

इन तीनों सखियो ( ५, ६, ७ ) में कबीर ने आत्मा के रूप में ब्रह्म के साक्षात्कार (परिचय) का बहुत सुन्दर चित्र अंकित किया है। दुर्भाग्यवश व्याख्याकारो ने इसे ठीक से नही समझा है। वे 'कवँल' शब्द से भ्रान्त हो गये हैं और उसे 'सहस्रार कमल' समझ लिया है। कबीर ने स्पष्ट रूप से कहा है—'अन्तर कवँल प्रकासिया, ब्रह्म वास तहँ होइ' अर्थात् वह कमल भीतर प्रकाशित हो रहा है। सहस्रार कमल सिर के ऊपरी भाग ब्रह्मरंध्र के पास होता है। उसे कबीर 'अँतर कँवल' कैसे कहते ? कबीर ने यहाँ उस परम तथ्य का परिचय दिया है जिसको छान्दोग्य उपनिषद् ने 'दहर विद्या' कहा है। उसी परिप्रेक्ष्य में इन तीनों साखियों का अर्थ लेना समीचीन होगा।

इन साखियों से यह स्पष्ट है कि कबीर को परम गुह्य तथ्य का परिचय हुआ था। इस प्रकार के परिचय का वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् ( ८।१ से ८।५ तक ) में इन शब्दों में मिलता है :—

( १ ) 'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति।' ( ८।१ )

---

१. ना० प्र०—रह्या, हनु०—युगला०—किया। २. ना० प्र०—कँवल ज फूल्या जलह बिन, विचार०—कमल खिला है नीर बिनु। ३. तिवारी०—विचार०—हनु०— निरखै कोइ, युगला०—निरखेंगे निज। ४. तिवारी०—जहँ। ५. ना० प्र०—जाणैंगा।

( २ ) तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वावविजिज्ञासितव्यमिति स ब्रूयात । ( ८।२ )

( ३ ) यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति । ( ८।३ )

( ४ ) तं चेदब्रूयुरस्मिँश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वं समाहितं सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैतज्जरा वाप्नोति प्रध्वँसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति । ( ८।४ )

( ५ ) स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता एषा आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः.......... ! ( ८।५ )

( १ ) उपनिषद् ने शरीर को 'ब्रह्मपुर' कहा है, क्योंकि इसमें ब्रह्म का निवास रहता है। छान्दोग्य उपनिषद् के आठवें अध्याय के प्रथम खण्ड में पहले यह बतलाया गया है कि इस ब्रह्मपुर अर्थात् शरीर में एक ऐसा वेश्म ( निलय ) है जो कि सूक्ष्म पुण्डरीक अर्थात् कमल के समान है। वह वेश्म अत्यन्त सूक्ष्म तत्व का बना है,' जो इन्द्रियातीत है। उसके भीतर सूक्ष्म आकाश है। उस आकाश के जो भीतर है, उसी को खोजो। उसी को जानने की चेष्टा करो।

इसमें दो शब्द मननीय हैं—दहर और पुण्डरीक। 'दहर' शब्द का अर्थ है—सूक्ष्म। यह शब्द दह ( दीप्तौ ) + र के योग से बना है। 'दह' शब्द का अर्थ—दहन करना अर्थात् जलाना और दीप्ति या प्रकाश दोनों है। अतएव 'दहर' का अर्थ हुआ = सूक्ष्म प्रकाश वाला। 'पुण्डरीक' का अर्थ हैं—कमल। जिस प्रकार स्थूल, पार्थिव हृदय कमल के आकार का होता है उसी प्रकार उदर को वक्षस्थल से पृथक् करने वाली पेशी ( Diaphragm ) के नीचे जो छोटा सा गर्त है, उसके अन्तर में कमल के आकार का सूक्ष्म वेश्म ( Space ) है। उसके भी भीतर एक सूक्ष्म आकाश है। वहाँ एक अद्भुत ज्योति दहकती रहती है। उसी को उपनिषद् ने 'दहरं पुण्डरीकं वेश्म' कहा है। इसी को कबीर ने कहा है—अन्तर कँवल प्रकासिया।'

वस्तुतः वह कमल नहीं है, किन्तु कमल के आकार का सूक्ष्म वेश्म है। इसी को कबीर अपनी विरोधाभासमयी वाणी में कहते हैं—'कमल जु फूला फूल बिनु' और 'कमल जु फुला नीर बिनु।'

( २ ) यदि शिष्य गुरु से पूछे कि ब्रह्मपुर में सूक्ष्म कमल रूपी वेश्म के भीतर जो सूक्ष्म आकाश है, वहाँ क्या विद्यमान है जिसका हम अन्वेषण करें और जिसको जानने की चेष्टा करें ? तो गुरु को कहना चाहिए :—

(३) जैसे ऊपर आकाश है, वैसे ही सूक्ष्म हृदय के भीतर आकाश है। उसके भीतर स्वर्ग ( द्यौ ) और पृथ्वी, अग्नि और वायु, सूर्य और चन्द्र तथा विद्युत् और नक्षत्र स्थित

हैं। जो कुछ इस लोक मे है और जो नही भी है, वह सब सम्यक् प्रकार से इसमें स्थित है। भाव यह है कि जो कुछ ब्रह्माण्ड में है, आत्मा उस सबका योनि है।

(४) यदि शिष्य आचार्य से कहे कि इस ब्रह्मपुर में सब समाहित है, तब सम्पूर्ण भूत (प्राणो और तत्व) और समस्त कामनाएँ भी सम्यक् प्रकार से स्थित होनी चाहिए, तो जिस समय यह वृद्धावस्था को प्राप्त होता है अथवा नष्ट हो जाता है, उस समय क्या शेष रह जाता है?

(५) इसके उत्तर में आचार्य को कहना चाहिए कि इस देह की जरावस्था से ब्रह्म अथवा आत्मा जीर्ण नही होता। इसके (शरीर के) वध से उसका नाश नहीं होता। यह दहराकाश स्थित आत्मा सत्य है। इसमें सम्पूर्ण कामनाएँ सम्यक् प्रकार से स्थित है। यही वास्तविक आत्मा है। वह सब पापो से मुक्त है। वह जराहीन, मृत्युहीन, शोकहीन, भोजनइच्छा-रहित, पिपासा-शून्य, सत्यकाम और सत्य-संकल्प हैं।

मानव के अन्तस् मे जो अप्राकृत कमलवत् स्थान है वही आत्मा का वेश्म है। इसी का संकेत कबीर ने इन साखियो में अपनी उलटवाँसी शैली में किया है और स्पष्ट रूप से कहा है कि 'ब्रह्मवास तहँ होइ।'

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है:—

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः।
परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम्॥
(१०।८७।१८)

अर्थात् हे अनन्त! ऋषियो के सम्प्रदायों में जो स्थूल दृष्टि वाले हैं, वे आपके उदर अर्थात् मणिपूरचक्र में रहने वाले ब्रह्म रूप की उपासना करते है। किन्तु अरुणवंशी मुनिजन हृदय में रहने वाले उस दहर संज्ञक आकाश रूप ब्रह्म की उपासना करते है जिससे सब ओर जाने वाली नाडियाँ निकलती है।

श्रीधर स्वामी ने इसकी टीका करते हुए लिखा है—'आरुणयस्तु साक्षात् हृदयस्थं दहरं सूक्ष्ममेवोपासते' अर्थात् अरुणवंश वाले हृदय में स्थित साक्षात् सूक्ष्म ब्रह्म या आत्मा की उपासना करते हैं।

कठोपनिषद् में इसी हृदयस्थ अन्तरात्मा को प्रत्यगात्मा कहा गया है और अरविन्द घोष ने इसे (Psychic Being) कहा है।

**सायर[1] नाहीं सीप नहिं,[2] स्वाति बूँद भी नाँहि।**
**कबीर मोती नीपजै, सुन्नि सिखर[3] गढ़[4] माँहि॥ ८॥**

---

१ हनु०, विचार०, युगला०—सीप नहीं सायर नहीं। २. ना० प्र०—बिन। ३. ना० प्र०—सिपर, विचार०—सखर। ४. विचार०, युगला०—घट।

शब्दार्थ—सायर = सागर। मोती = ( प्र० अ० ) प्रकाश ज्ञ। नीपजै = उत्पन्न होता है। सुन्नि सिखर = सहस्रार। गढ़ माँहि = शरीर के भीतर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि वहाँ न तो सागर है न सीप है और न स्वाति-बूँद अर्थात् मोती के उत्पन्न होने के जितने अपेक्षित कारण हैं, उनमें से एक भी विद्यमान नही है, फिर भी इस शरीर के भीतर शून्य शिखर अर्थात् सहस्रार में मोती उत्पन्न हो रहा है अर्थात् एक अद्भुत ज्योति का दर्शन हो रहा है। भाव यह है कि जब कुण्डलिनी उत्थित होकर सहस्रार में मिलती है, तब ज्योति का साक्षात्कार होता है।

अलंकार—विभावना।

**घट माँहैं[1] औघट लह्या[2], औघट माँहैं[3] घाट।**
**कहि कबीर परचा[4] भया, गुरू दिखाई बाट॥ ९॥**

शब्दार्थ—घट = शरीर। औघट = ( सं०—अवघट्ट ) विकट मार्ग। घाट = लक्ष्य, गन्तव्य स्थान। बाट = मार्ग।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि गुरु ने मार्ग दर्शन किया। फलस्वरूप इस शरीर में ही मैंने एक विकट मार्ग का अनुभव किया और उस विकट मार्ग से ही घाट अर्थात् अपने लक्ष्य को प्राप्त किया; वहाँ मुझे सत्य का साक्षात्कार हुआ।

टिप्पणी—'अवघट घाट' में कुण्डलिनी के जागरण का संकेत है, जो कि मूलाधार चक्र से उठकर अन्य चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रार में जा मिलती है। वहाँ सत्य का साक्षात्कार होता है। यह विकट मार्ग है, जो कि गुरु के निर्देशन से ही पार किया जा सकता है। मूलाधार चक्र भौतिक जगत् है। सहस्रार कमल आध्यात्मिक जगत् है। उसमें से आत्म-ज्ञान की ज्योति निकला करती है।

अलंकार—विरोधाभास।

**सूर समाना[5] चाँद मैं, दुहूँ[6] किया घर एक।**
**मन का चेता[7] तब भया, कछू पूरबला लेख[8]॥ १०॥**

शब्दार्थ—सूर = सूर्य ( प्र० अ० ) सूर्यनाड़ी, पिंगला, दाहिनी नाड़ी। चाँद = ( प्र० अ० ) चन्द्र नाड़ी, इडा, बायी नाड़ी। दुहूँ = दोनो। घर एक = सुषुम्ना मे। चेता = चाहा हुआ, वाञ्छित। पूरबला = पूर्व जन्म का। लेख = लिखा हुआ।

व्याख्या—जब सूर्य नाडी ( पिंगला ) चन्द्र नाड़ी ( इडा ) में समा जाती है अर्थात् सुषुम्ना में चलने लगती है, तब मन का वाञ्छित फल मिल जाता है। यह पूर्व जन्म के पुण्य का ही परिणाम है।

---

१. अन्य प्रतियों में—मैं। २. अन्य प्रतियों में—पाइया। ३. विचार०, हनु०, युगला०—माँही। ४. विचार०—परिचय। ५ ना० प्र०—समाँणाँ चंद मैं, हनु०—चद मँह। ६ ना० प्र०—दहूँ, अन्य प्रतियों में—दोऊ। ७. ना० प्र०—च्यंता, हनु०—चिता तब गया। ८. हनु०, विचार०, युगला०—पुरब जनम का लेख।

**पिंजर[1] प्रेम[2] प्रकासिया, अंतरि[3] भया उजास।**
**मुखि[4] कस्तूरी महमहीं, बानी[5] फूटी बास ॥ १४ ॥**

शब्दार्थ—अन्तरि = हृदय मे, भीतर में ( प्राचीन हिन्दी का अधिकरण कारक का प्रयोग )। उजास = प्रकाश। मुखि = मुख में ( प्राचीन हिन्दी का अधिकरण कारक का प्रयोग ) महमही=सुगन्ध करने लगी।

व्याख्या—हृदय में प्रेम का प्रकाश हो गया और भीतर ही भीतर वह सारा प्रकाश छा गया। मुख में कस्तूरी जैसी सुगंध आने लगी और वाणी से उसकी सुगंध फूट निकली।

यहाँ पर 'सुगंध' लाक्षणिक प्रयोग है। भगवान का साक्षात्कार होने पर जीव का प्रत्येक शब्द प्रेम-रस-सिक्त और सुवासित हो उठता है। इसी को कबीर ने 'कस्तूरी हमही' द्वारा व्यक्त किया है।

**मन लागा उनमन्न सौं[6], गगन पहूँचा जाइ[7]।**
**चाँद बिहूँना चांदिना[8], अलख[9] निरंजन राइ ॥ १५ ॥**

शब्दार्थ—गगन = सहस्रार। बिहूँना = विहीन, रहित। चाँदिना = चाँदनी, प्रकाश। अलख = अलक्ष्य, जो दिखाई न दे। निरंजन = (१) अंजन = कालिमा, काजल। निरंजन = कालिमा रहित, प्र० अ० = त्रिगुणातीत, निर्गुण। (२) अंजन = व्यक्तीकरण, निरंजन=अव्यक्त।

व्याख्या—मेरा मन एक संकल्प-विकल्पात्मक अवस्था के ऊपर राम के मन में मिल गया। वह सहस्रदल कम ? पर पहुँच गया। वहाँ मैंने एक विचित्र प्रकाश का अनुभव किया, जो कि बिना चन्द्र ।ा के ही चाँदनी जैसा शीतल और स्निग्ध था। मैंने वही उस त्रिगुणातीत, निर्गुण, निराकार सत्ता का साक्षात्कार किया है जो कि स्थूल इन्द्रियों की पहुँच से परे है।

टिप्पणी—(१) उन्मन वह अवस्था है, जहाँ चंचल संकल्प-विकल्पात्मक मन शान्त हो जाता है और इससे एक उच्चतर चेतना का आविर्भाव होता है। यह उन्मन का साधारण अर्थ है। परन्तु कबीर अपने ढंग से उन्मन' को प्रायः 'उनके मन' अर्थात् 'राम के मन' के अर्थ में लेते हैं।

(२) सहस्रदल स्थूल शरीर के शीर्ष के ऊपर आकाश में स्थित है, जो कि स्थूल इन्द्रियो से परे है। वह एक ज्योति-पुञ्ज है जिसमें कमल के सहस्र दल की प्रतीति होती है। यतः यह सहस्रार कमल शीर्ष के ऊपर आकाश में स्थित है। अतः इसे 'गगन'

---

१. तिवारी०–पजरि। २. हनु०—पीर। ३ हनु०, युगला०—अतर ४ युगला०—सुख करि सती महल में। ५. ना० प्र०–वाणीं। ६. हनु०, विचार०, युगला०–उनमनि सो मन लागिया। ७ युगला०—गगनहि पहुँचा जाइ। ८ ना० प्र०–देख्या चन्द्र विहूँणां चांदिणां ९. ना० प्र०–तहाँ अलख।

कहा गया है।

(३) अंजन का अर्थ है—कालिमा। निरंजन वह है, जिसमें कोई कालिमा न हो। यहाँ कालिमा या अंजन से तात्पर्य 'त्रिगुण' से है। अतः निरंजन त्रिगुणातीत, निर्गुण सत्ता के लिए प्रयुक्त हुआ है।

अलंकार—विभावना।

**मन लागा उनमन्न सो[1], उनमन मनहि[2] विलग।**
**लौंन विलंगा पानियाँ[3], पानीं[4] लौंन विलग॥ १६॥**

शब्दार्थ—उन्मन्न = उनका मन अर्थात् प्रभु का मन (कबीर का विशेष अर्थ में प्रयोग), भागवती चेतना। विलग = वि (उपसर्ग, विशेष रूप से) लग गया अर्थात् भली प्रकार लग गया। लौंन = नमक।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मेरे संकल्प-विकल्पात्मक मन ने अपना स्वभाव छोड़ दिया और भागवत मन में उसी प्रकार से लीन हो गया जैसे नमक और जल मिलकर एक हो जाते हैं।

अलंकार—निदर्शना।

**पानी[5] ही तैं हिम[6] भया, हिम[7] ह्वै गया बिलाइ।**
**जो कुछ था सोई[8] भया, अब कछु[9] कहा न जाइ॥ १७॥**

शब्दार्थ—हिम = बर्फ। बिलाइ = विलीन हो जाना।

व्याख्या—एक ही तत्व की दो अवस्थाएँ हैं—सूक्ष्म अवस्था-जल और स्थूल अवस्था—बर्फ। मानव के भीतर जो साक्षि-चैतन्य है, जो चिन्मात्र है, वह पानी क समान है। वही चिन्मात्र अन्तःकरण से परिसीमित होकर चिदाभास अर्थात् जीव का रूप ग्रहण करता है। यह चिदाभास हिम अर्थात् बर्फ के समान है, क्योंकि जल की अपेक्षा में यह स्थूल है। जैसे बर्फ गलकर फिर पानी की अवस्था में आ जाती है, वैसे ही अन्तःकरण में जो चिदाभास है, वह फिर लीन होने पर चिन्मात्र हो जाता है अर्थात् जीव ब्रह्म के रूप में आ जाता है। जीव का जो मूल स्वरूप था, उसी में अब वह रूपान्तरित हो गया। (मन के इस रूपान्तरण को गौड़पादाचार्य ने 'अमनीभाव' कहा है)। इसलिए अब उसके विषय में क्या कहा जाय? क्योंकि कोई नई वस्तु नहो पैदा हुई है!

---

१. हनु०-विचार०-युगला०-उनमनि सो मन लागिया। २ हनु०-विचार-युगला०-नहीं विलंगि। ३. ना० प्र०-लूँण विलगा पाणियाँ। ४. ना० प्र०—पाँणी लूणाँ विलग। ५. ना० प्र०-पाणीं। ६. युगला०-हेम। ७. तिवारी०-विचार०-हिम ही, हनु०-हिमहि, युगला०-हेमहि। ८. युगला०-सोही। ९ ना० प्र०-कछू कह्या।

**भली भई जु भै[1] पड्या, गई दसा[2] सब भूलि।**
**पाला गलि पानी[3] भया, ढुलि[4] मिलिया उस कूलि॥ १८॥**

शब्दार्थ—जु = जो। भै पड़ी = हो गई ('भू' धातु से निष्पन्न)। दसा = सांसारिक दशा। पाला = बर्फ, हिम। कूलि = किनारा, (प्र० अ०) प्रभु।

व्याख्या—यह बहुत अच्छा हुआ कि मैं अपनी सांसारिक दशा को भूल गया और वास्तविक स्वरूप में परिणत हो गया। यह वैसे ही है जैसे हिम गलकर पानी हो जाता है और लुढ़क कर किनारे के जल से मिल जाता है।

यहाँ जीव का दृष्टान्त हिम से दिया गया है और कूल का दृष्टान्त प्रभु से।

अलंकार—दृष्टान्त।

**चौहटै चिंतामणि[5] चढ़ी, हाड़ी मारत हाथि।**
**मीराँ मुझसूँ[6] मिहर करि, इब[7] मिलौं न काहू साथि॥ १९॥**

शब्दार्थ—चौहटै = चौरस्ता (प्र० अ०) इडा, पिंगला, सुषुम्ना का संगमस्थल, यह दोनों भौंहों के मध्य का स्थान है जिसे त्रिकुटी कहते हैं। 'चौहट्ट' इसी का प्रतीक है। चिंतामणि = सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाला कल्पित मणि (प्र० अ०) ब्रह्म साक्षात्कार, राम से मिलन। मीराँ = (अ०–मीर = अमीर का लघु रूप = अग्रगण्य) मेरे मालिक। मिहर (फा०) = दया, करुणा! इब = अब। हाडी = डाकू।

सामान्य अर्थ—मैं बाजार जा रहा था, वहाँ चौरस्ते पर चिन्तामणि मिल गया, परन्तु पास में खड़े हुए डाकू हाथ मारने लगे। हे दयालु! मेरे ऊपर दया करो। मैं इन सबों के चक्कर में न पड़ सकूँ।

प्रतीकार्थ—जीवन-यात्रा में मैं उस चौरस्ते पर पहुँच गया हूँ जहाँ प्रभु से मिलन हो गया है। परन्तु भीतर स्थित काम, क्रोध, मोह आदि डाकू मेरी उस अमूल्य निधि को झपट्टा मारकर छीन लेना चाहते हैं। हे दयालु प्रभु! मेरे ऊपर दया करो जिससे अब मैं इन सबों के चक्कर में न पड़ूँ।

अलंकार—अन्योक्ति।

**पंखि[8] उड़ानी गगन कौं[9], पिण्ड[10] रहा परदेस।**
**पानी पीया चंचु विनु[11], भूलि गया यहु[12] देस॥ २०॥**

---

१. युगला०–विचार०–भय परी, हनु०–भू पडी। २. युगला०–विचार०–दिसा। ३. ना० प्र०–पाणीं। ४. हनु०–विचार०–ढूलि मिला। ५. हनु०–विचार०–युगला०–चिंतामनि पाई चौहटै। ६. हनु०–विचार०–युगला०–मुझ पर। ७. हनु०—विचार०—मिला न। ८. ना०—पंषि, हनु०—युगला०—पक्षि। ९ ना० प्र०—कूँ, हनु०—युगला०—को। १०. ना०प्र०–प्यंड रह्या। ११. ना० प्र०—पाणी पीया चंच विन, हनु०—युगला०—पानी पीया चोंच विनु। १२. हनु०—युगला०—वह।

शब्दार्थ—पंखि = पक्षी ( प्र० अ० ) जीवात्मा । गगन = आकाश ( प्र० अ० ) सहस्रार । पिण्ड = शरीर । पानी = जल ( प्र० अ० ) आध्यात्मिक आनन्द । चंचु=चोच ( प्र० अ० ) इन्द्रियाँ ।

व्याख्या—जीव रूपी पक्षी ( हंस ) कुण्डलिनी के सहारे सहस्रार तक उड़ गया अर्थात् उसने सहस्रार पद मे परमतत्व का साक्षात्कार कर लिया और यह भौतिक शरीर अपने स्थान पर यो ही पड़ा रहा, जो कि अब उस जीव के लिए परदेश-सा हो गया है। पहले जब जीव को परमतत्व का अनुभव नही था, तब उसके लिए शरीर ही स्वदेश था और परमतत्व परदेश। अब परमतत्व स्वदेश हो गया और शरीर परदेश हो गया। उसने इन्द्रियो के बिना ही आनन्द रस का पान किया और सांसारिक दशा को भूल गया अर्थात् इससे अब उसकी आसक्ति जाती रही।

अलंकार—विभावना, विरोधाभास।

**पंखि[1] उड़ाँनी गगन कौं[2], उड़ी[3] चढ़ी असमान।**
**जिहि सर मंडल भेदिया, सो सर लागा[4] कान ॥ २१ ॥**

शब्दार्थ—असमान = आकाश ( प्र० अ० ) शून्य । सर = बाण ( प्र० अ० ) अनाहत नाद । मंडल = आकाश ( प्र० अ० ) सहस्रार । जिहि = जिस ।

व्याख्या—जीवात्मा रूपी पक्षी ( हंस ) सहस्रदल तक उड़ गया और शून्य में स्थित हो गया। जो अनाहत नाद रूपी बाण गगन-मण्डल मे व्याप्त है, वह स्पष्ट रूप से कानों को लग गया अर्थात् सुनाई पड़ने लगा। नाद-ब्रह्म का ज्ञान हो गया।

अलंकार—अन्योक्ति।

**सुरति समानो[5] निरति मैं, निरति रहो निरधार।**
**सुरति निरति परचा[6] भया, तब खूले स्यंभ दुवार[7] ॥ २२ ॥**

शब्दार्थ—सुरति = प्रेमानुरक्त ध्यान और स्मरण। निरति = निरतिशय रूप से नाद ब्रह्म में लय । निरधार = निरावलम्ब । स्यंभ दुवार = शम्भु द्वार, ब्रह्मरंध्र ।

व्याख्या—सुरति अर्थात् नाद का प्रेमानुरक्त स्मरण और ध्यान निरति में लीन हो गया। निरति चरमावस्था है। वह किसी आश्रय पर स्थित नही है। वह निराधार रहती है। जब सुरति को निरति का परिचय हुआ अर्थात् जब निरति की अवस्था पर प्रेमानुरक्त चित्त पहुँच गया, तब शम्भु का द्वार खुल गया अर्थात् प्रभु का साक्षात्कार हो गया।

---

१ ना० प्र०—पंषि। २ ना० प्र०—कूँ। ३. हनु०—युगला०—उडिके चढि। ४ हनु०—युगला०—लाया। ५ ना० प्र०—समाँणी। ६ हनु०—वि०—परिचय। ७ तिवारी०—तब खुलि गयासिंधु दुवार, युगला०—तब खुली सिंधु द्वार, त्रि०—खुल गया सिंधु दुवार, हनु०—खुल गौ शम्भु द्वार।

सुरति समानी[1] निरति मैं, अजपा माँहै[2] जाप।
लेख समानां[3] अलेख[4] मैं, यौं[5] आपा माँहै[6] आप ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—अजपा = सहज भाव से जप, मुख से बिना उच्चारण किया हुआ जप। लेख = जो लखा या देखा जा सके, प्रत्यक्ष, साकार। अलेख = अप्रत्यक्ष, निराकार। आपा = आत्मा। आप = अहं, खुदी।

व्याख्या—साधना की प्रगति मे साधक स्थूल से सूक्ष्म, शब्द से अशब्द, प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष, साकार से निराकार, ससीम से असीम, अहंकार से निरहंकार की ओर बढ़ता चला जाता है और जब वह अशब्द, निराकार, अप्रत्यक्ष और निरहंकार अवस्था पर पहुँचता है, तब उसे ब्रह्म-तत्व का वास्तविक परिचय अर्थात् साक्षात्कार होता है। इसी तथ्य को कबीर ने इन शब्दो में व्यक्त किया है कि साधना की अंतिम अवस्था में सुरति निरति में लीन हो जाती है, सोच्चार जप निरुचार अवस्था मे परिणत हो जाता है, साकार निराकार में परिणत हो जाता है और इसी प्रकार खुदी या आपा अपने वास्तविक स्वरूप ( आत्मा ) मे परिणत हो जाता है। यही परिचय की अन्तिम अवस्था है।

आया था संसार में[7], देखन[8] कौं बहु रूप।
कहै कबीरा संत हो,[9] परि[10] गया नजरि अनूप ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—नजरि=दृष्टि मे। अनूप=अनुपम, परम तत्व।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे संतो ! मैंने संसार में अनेक रूप देखने के लिए जन्म लिया था, परन्तु इन्ही रूपो के भीतर अनुपम तत्व, जो अरूप है, मेरी दृष्टि मे पड़ गया अर्थात् मुझे अनुपम तत्व का साक्षात्कार हो गया।

अलंकार—विरोधाभास की ध्वनि।

अंक भरे भरि भेटिया[11], मन नहि बाँधै धीर।
कहै कबीर वह[12] क्यौ मिलै, जब लगि दोइ सरीर ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—दोइ सरीर = ( प्र० अ० ) द्वैत भाव।

व्याख्या—प्रियतम के दर्शन होने पर मैंने उसका प्रगाढ आलिंगन किया, किन्तु फिर भी मन को तृप्ति नही हुई। कबीर कहते है कि जब तक द्वैत भाव बना हुआ है, तब तक वह पूर्ण रूप से कैसे मिल सकता है ?

यहाँ पर 'दोइ सरीर' का प्रतीकार्थ है—द्वैत भाव। प्रियतम सशरीर नही है। प्रभु का परिचय होने पर भी जब तक देहात्म-भाव बना रहता है अर्थात् इस देह के कारण

१. ना० प्र०—समोंणां। २. हनु०—विचार०—युगला०—माहीं। ३. ना० प्र०—समाणाँ। ४ हनु०—विचार०—अलख। ५. ना० प्र०—यूँ। ६. हनु०—विचार०—युगला०—माहीं। ७. ना० प्र०—मै। ८ ना० प्र०—देपण। ९ ना० प्र०—हौं। १०. ना० प्र०—पडि। ११. ना० प्र०—मन मै नाँहीं धीर। १२. ना० प्र०—ते क्यूँ।

पृथक् भाव बना रहता है, तब तक प्रभु से पूर्ण मिलन नहीं हो सकता। जब देहात्म-भाव विलीन हो जाता है, तभी पूर्ण मिलन होता है।

तुलनीय— तू तू करता तू भया, मुझ मे रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखूँ तित तूँ ॥

**सचु[1] पाया सुख ऊपजा[2], दिलदरिया भरपूरि[3]।**
**सकल पाप सहजैं[4] गये, साँईं[5] मिला[6] हजूरि ॥ २६ ॥**

शब्दार्थ—सचु=सच, सत्य। ऊपजा = उत्पन्न हुआ। दरिया (फा०)=सागर (इसका प्रधान अर्थ सागर और गौण अर्थ 'नदी' होता है)। सहजैं = अनायास, स्वतः। हजूरि=सामने।

व्याख्या—जब प्रभु से आमने-सामने मिलन हुआ तब सत्य का परिचय हुआ। फलतः आनन्द उमड पड़ा, हृदय रूपी सागर प्रेम और आनन्द के जल से लबालब भर गया और सारे पाप स्वतः विलीन हो गये।

अलंकार—रूपक।

**धरती गगन पवन[7] नहिं होता, नहिं[8] तोया नहिं[9] तारा।**
**तब हरि हरि के जन हते[10], कहै कबीर विचारा[11] ॥ २७ ॥**

शब्दार्थ—तोया = तोय, जल। तारा = नक्षत्र ( प्र० अ० ) ज्योति, अग्नि। हते = थे। विचारा = विचारपूर्वक।

व्याख्या—कबीरदास विचारपूर्वक कहते हैं कि सृष्टि के पूर्व पृथ्वी, आकाश, पवन, जल, अग्नि ये पाँचों तत्त्व नही थे। उस समय केवल हरि और उनके भक्त ( जीव ), अंशी और अंश ही थे।

**जा दिन किरतम[12] नां हता, नहीं हाट नहिं बाट[13]।**
**हुता[14] कबीरा राम जन, जिन देखा औघट घाट[15] ॥ २८ ॥**

शब्दार्थ—किरतम = कृत्रिम, बनावटी। हता = था। हाट-बाट ( मुहाविरा ) = बाजार ( प्र० अ० ) संसार। औघट = ( सं० अवघट्ट ) विकट मार्ग। घाट = लक्ष्य, गन्तव्य स्थान।

---

१ युगला०—सुचि। २ ना० प्र०—ऊपनाँ। ३ ना० प्र०—अरु दिल दरिया पूरि। ४. हनु०, युगला०—सहजे गया। ५ ना० प्र०—जब साईं, हनु०—साईं मिले हजूर, त्रि०—साहिब मिलै हजूर। ६ ना० प्र०—मिल्या। ७ युगला०, विचार०—पवनै नहीं, हनु०—धरती पवन नहीं हता, नहीं नवो अवतार। ८ ना० प्र०—नहीं। ९ ना० प्र०—नहीं, विचार०, युगला०—नहीं होत तिथि वार। १० युगला०, विचार०—तब हरि के हरिजन हुते, हनु०—तब हरिजन के हरि हते। ११ युगला०, विचार०, हनु०—विचार। १२. ना० प्र०—कृतमनां हुता। १३ ना० प्र०—होता हट न पट, तिवारी—होता हाट न बाट १४. युगला०, विचार०, हनु०—हता कबीरा संत जन। १५. ना० प्र०—जिनि देखै औघट घट, हनु०—जिन दिखलाई बाट।

व्याख्या—जिस समय यह कृत्रिम स्थान नही था अर्थात् सृष्टि नही हुई थी, संसार रूपी बाजार नही था, उस समय केवल राम का भक्त आदि गुरु कबीर था, जिसको लक्ष्य तक पहुँचने के कठिन और दुर्गम मार्ग का परिचय था।

**थिति पाई मन थिर भया, सतगुरु करी सहाइ।**
**अनिन कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवन राइ॥ २९॥**

शब्दार्थ—थिति = प्रतिष्ठित हो जाना। अनिन = अनन्य, अद्वितीय। तनि = तन में, शरीर में, भीतर। आचरी = संचारित हो रही है, क्रियाशील हो रही है। राइ = राजा।

व्याख्या—सद्गुरु ने मेरी सहायता की। उनकी कृपा से मैं तत्त्व में प्रतिष्ठित हो गया और मेरा मन अब स्थिर हो गया है, उसकी चंचलता जाती रही। मेरे भीतर अनन्य चरितार्थ हो गया और हृदय में भगवान त्रिभुवनपति विराजमान हो गए।

टिप्पणी—इस साखी मे 'अनिन' और 'आचरी' दो बहुत ही महत्त्वपूर्ण और व्यञ्जक शब्द हैं। अन् + अन्य = अनन्य वह है जिसके सिवाय कोई दूसरा है ही नही। यहाँ 'अनिन कथा' मे तत्पुरुष समास है—अनन्य की कथा अर्थात् अद्वितीय प्रभु की कथा। यहाँ 'आचरी' का अर्थ है—चरितार्थ हो गया, वास्तविकता का रूप धारण कर लिया। 'अनिन कथा तनि आचरी' का अर्थ यह है कि अद्वितीय अब मेरे लिए केवल कथामात्र नही रह गया, वह अब वास्तविकता के रूप में मेरे भीतर चरितार्थ हो गया, मेरे रोम-रोम मे बस गया है।

**हरि संगति सीतल भया[1], मिटी मोह की ताप[2]।**
**निस बासुरि सुखनिधि[3] लहा, (जब[4]) अंतरिप्रगटा[5] आप॥ ३०॥**

शब्दार्थ—संगति = तादात्म्य, मिलन। निसि बासुरि = दिन रात। आप = आत्मा।

व्याख्या—अन्तर मे आत्म-साक्षात्कार होने पर प्रभु से तादात्म्य हो गया, मोह की ज्वाला मिट गई और मैं निरंतर आनन्द-निधि का अनुभव कर रहा हूँ।

**तन भीतरि मन मानियाँ, बाहरि कहा[6] न जाइ।**
**ज्वाला तैं[7] फिरि जल भया, बुझी[8] बलंती लाइ[9]॥ ३१॥**

शब्दार्थ—मानियाँ=स्वीकार कर लिया। बलंती = जलती हुई। लाइ=आग।

---

१. हनु०—हिरा पाय शीतल भया, युगला०—हरि पाया शीतल भया। २ तिवारी, युगला०—मिटा मोह तन ताप, हनु०-मिटि जु तन का ताप। ३. ना० प्र०-सुख निध्यलह्या हनु०-सुख निन्द लह। ४. युगला० हनु० 'जब' नहा है। ५ ना० प्र०—प्रकट्या, हनु०—प्रगटे। ६ तिवारी०-कतहुं, हनु०-कहूँ न लाग, युगला०-कबहुं न लाग। ७. हनु०-तो। ८. हनु० बूझो जलती आग। ९. युगला०-आग।

व्याख्या—साक्षात्कार होने पर मेरे मन में पूर्ण निश्चय हो गया, संशय सर्वदा के लिए विलीन हो गया। उस स्थिति का मैं शब्दों में वर्णन नहीं कर सकता। मोह की ज्वाला जल में परिणत हो गयी अर्थात् उसका पूर्ण शमन हो गया। वह जलती हुई मोह की आग पूर्ण रूप से बुझ गयी अर्थात् परिचय द्वारा पूर्ण शान्ति आ गयी।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

**तत पाया तन बीसरा[1], जब मनि धरिया ध्यान[2]।**
**तपनि[3] गई सीतल भया, जब सुन्नि[4] किया असनान ॥ ३२ ॥**

शब्दार्थ—तत=तत्व। बीसरा=भूल गया। मनि=मन में। सुन्नि=ब्रह्मरंध्र पर स्थित सहस्रदल कमल, शून्य-चक्र।

व्याख्या—जब मैंने मन में अपने प्रियतम का निरन्तर ध्यान किया अर्थात् जब प्रभु में बराबर सुरति लगाए रहा, तब तत्व का साक्षात्कार हो गया और शरीर की सुध-बुध जाती रही अर्थात् देहाध्यास ( देहात्म-भाव ) मिट गया। जब मैंने शून्य में स्नान किया तब मोह का ताप मिट गया और शीतलता अर्थात् शांति का अनुभव हुआ।

टिप्पणी—(१) सुन्नि—इस संदर्भ में 'सुन्नि' का अर्थ है—ब्रह्मरंध्र पर स्थित सहस्रदल कमल। इसका दूसरा नाम है—शून्य चक्र। मन के शान्त होने पर साधक उस अवस्था को प्राप्त होता है जिसमें आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ का बोध नहीं रह जाता है। इसका दूसरा नाम है—सहज में स्थित होना अथवा केवलावस्था, निर्गुण का परिचय।

(२) अस्नान—स्नान करने में एक सुन्दर व्यंजना है। स्नान करने से शरीर में शीतलता आ जाती है। शून्य में 'अस्नान' करने के बाद ताप-त्रय मिट जाता है और सर्वथा शीतलता आ जाती है।

**जिनि[5] पाया तिनि सुगहगह्या[6], रसनाँ लागी स्वादि।**
**रतन निराला पाइया, जगत ढंढोल्या[7] बादि ॥ ३३ ॥**

शब्दार्थ—सुगह=( सं० सुग्रह ) अच्छी तरह पकड़कर। गह्या=पकड़ रखा। रसना=जिह्वा। बादि=व्यर्थ।

व्याख्या—जिन्होंने परम तत्व को प्राप्त किया, उन्होंने उसे जकड़कर पकड़ रखा है अर्थात् पूर्ण रूप से हृदय में प्रतिष्ठित कर लिया है। उसके माधुर्य का उन्होंने पूर्ण रूप से

---

१. ना० प्र०—बीसरया। २ हनु०, विचार०, युगला०—मन धाया धरि ध्यान। ३. हनु०, विचार०, युगला०—तपत मिटी, तिवारी०—तपनि मिटी। ४. ना० प्र०—सुंनि, विचार०, युगला०—सुन्न किया अस्थान, हनु०—ध्यान किया असनान। ५. वि०, युगला०—पाया था सो गहि रहा, हनु०—पाया तिन सो गहि रहा। ६. ना० प्र०—सू गहगह्या। ७. हनु०, विचार०—ठठोला, युगला०—टटोरा।

आस्वादन किया। उनको एक अनुपम रत्न मिल गया है। वह अब जगत् में और कुछ ढूँढना व्यर्थ समझते हैं। परमार्थ के प्राप्त होने पर अन्य अर्थ की क्या आवश्यकता है?

अलंकार—व्यतिरेक।

कबीर दिल सावित[1] भया, पाया फल समरत्थ[2]।
सायर माँहि ढँढोलता[3], हीरै[4] पड़ि गया हत्थ॥ ३४॥

शब्दार्थ—सावित = पूर्ण। समरत्थ = समर्थ (सम + अर्थ = सम्यक् लक्ष्य)। सायर = सागर। ढँढोलता = टटोलता। हीरै = हीरा ही।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैं भव-सागर में अपने इष्ट को टटोल रहा था। गुरु-कृपा से मेरे हाथ हीरा ही आ गया अर्थात् सर्वोत्कृष्ट इष्ट मुझे प्राप्त हो गया। फिर तो मेरा हृदय परिपूर्ण हो गया और मैंने जीवन का सर्व-अर्थकारी परमोत्कृष्ट सम्यक्-लक्ष्य प्राप्त कर लिया।

टिप्पणी—प्रभु की प्रत्यभिज्ञा (पहिचान) बिना जीवन अपूर्ण है। वह तभी पूर्ण होता है, जब उसका परिचय मिल जाय।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

जब मैं था तब हरि[5] नहीं, अब हरि[6] हैं मैं नाँहि।
प्रेम[7] गली अति साँकरी, या में दो न समाँहि॥ ३५॥

शब्दार्थ—मैं = आपा, अहंभाव। साँकरी = संकीर्ण, तंग, पतली। माँहि = मध्य में, भीतर।

व्याख्या—जब तक आपा रहता है, तब तक प्रभु से परिचय नहीं हो पाता। आपा मिटते ही प्रभु से मिलन हो जाता है। प्रेम की यह विलक्षणता है कि यद्यपि यह प्रारम्भ दो में होता है, तथापि जब तक द्वैत बना रहता है, तब तक उसमें परिपूर्णता नहीं आती। द्वैत की समाप्ति पर ही परिपूर्णता आती है। प्रेम के मार्ग में दो के लिए स्थान नहीं है।

ना० प्र० की प्रति में दूसरी पंक्ति इस प्रकार है—'सब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या माँहि' इसका अर्थ होगा—जब परम ज्योति का भीतर साक्षात्कार हुआ तो अज्ञानांधकार द्वारा प्रसूत अहंभाव स्वतः समाप्त हो गया।

अलंकार—विरोधाभास।

---

१ ना० प्र०-स्यावति, हनु०, विचार०, युगला०-दरिया मिला। २ ना० प्र०—संम्रथ्थ। ३. अन्य प्रतियों में—ढँढोरता। ४ विचार० युगला०—हीरा नाहिं गया, हनु—हीरा चढ़िया। ५ विचार-गुरु। ६. विचार०—गुरु। ७ ना० प्र०—सब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या माँहि, हनु०, विचार०, युगला०—कबीर नगरी एक में, दो राजा न समाँहि।

**जा[1] कारणि मै ढूँढ़ता, सनमुख[2] मिलिया आइ।**
**धन[3] मैली पिव[4] ऊजला, लागि न सक्कौं पाइ ॥ ३६ ॥**

शब्दार्थ—कारणि = कारण, के लिए, प्रयोजन के लिए, निमित्त, लक्ष्य। सनमुख = सामने। धन = (धनि>( सं० ) धनिका ) स्त्री।

व्याख्या—जिसके लिए मैं मारा-मारा फिरता था, वह आज सामने मिल गया। किन्तु इस संकोचवश कि मैं कितना पाप-पंकिल, क्षुद्र-जीव हूँ और मेरा प्रिय कितना शुभ्र और महान् हैं, मैं पैर पकड़ने का भी साहस न कर सका।

टिप्पणी—यहाँ जीव को 'धनि' अर्थात् स्त्री और प्रभु को 'पिव' अर्थात् पति कहा गया है।

**जा कारणि[5] मैं जाइ था, सोई[6] पाया ठौर।**
**सोई फिरि आपन[7] भया, जाको[8] कहता और ॥ ३७ ॥**

शब्दार्थ—जा कारणि = जिसके लिए। जाइथा = ढूँढ रहा था। ठौर = स्थल।

व्याख्या—जिसको पाने के लिए मैं इधर-उधर भटकता फिरता था, उसको अपने भीतर ही पा लिया। जिसको मैं अन्य कहता था, अब देखता हूँ कि वही वास्तविक अपना है।

टिप्पणी—भक्ति में प्राय: ईश्वर को अज्ञानी जीव पहले अन्यपुरुष में सम्बोधित करता है। वह कहता है–"तस्यैवाहं" अर्थात् मैं उसका हूँ। भक्ति मार्ग में प्रगति होने पर जीव उसे मध्यमपुरुष के रूप में सम्बोधित करता है–"तवैवाहं" अर्थात् मैं तेरा हूँ। तीसरी या अंतिम अवस्था वह होती है, जब अहं पूर्णतया विलीन हो जाता है। तब जीव कह उठता है–"त्वमेव नाहं" अर्थात् तुम ही हो, मैं नही। तब जो अन्यथा, वही भीतर 'अहं' बन जाता है। जिसको पहले 'अहं' समझ रहे थे, वह समाप्त हो जाता है। इस साखी में इसी तथ्य की व्यञ्जना है।

**कबीर देखा इक अगम[9], महिमा कही न जाय।**
**तेज पुंज पारस धनी[10], नैननि[11] रहा समाय ॥ ३८ ॥**

शब्दार्थ—अगम=जहाँ तक किसी की पहुँच नही है। पारस धनी=पारस जैसा सौभाग्यदायक।

व्याख्या—आज मेरा ऐसा भाग्योदय हुआ कि मैंने उसे देख लिया अर्थात् उसका परिचय प्राप्त कर लिया, जो अगम था, जिस तक किसी की पहुँच न थी। उसके गौरव

---

१. वि०–जा कारन मै जाय था। २. विचार०—सो तो। ३ विचार०—साईं ते सनमुख भया, लगा कबीरा पाया। ४. गुप्त०—पीव उजला। ५ तिवारी—कारनि। ६. ना० प्र०—सोई पाई, हनु०. युगला०–सो तो पाय। ७. ना० प्र०–आपण। ८. ना० प्र०—जासूँ, तिवारी, गुप्त—जासौं। ९ ना० प्र०–देख्या एक अंग। १०. ना०प्र०–पारसधणी, हनु०, युगला०–परसाधनी। ११. ना०प्र०–नैनूं रह्या हनु०, गुप्त०—नैनों, युगला०—नैना।

और माहात्मय का वर्णन सम्भव नही। वह ज्योति-पुञ्ज है और अपने स्पर्श से पापी को भी पुण्यात्मा बनाने वाला पारस जैसा सौभाग्य-दायक है। अब वह मेरे नेत्रों में समा गया है अर्थात् मेरी दृष्टि से ओझल नही होता।

टिप्पणी—ना० प्र० में 'एक अंग' पाठ। किन्तु 'इक अगम' पाठ अधिक शुद्ध है। प्रतीत होता है कि 'अगम' का मकार भ्रमवश 'अ' के ऊपर विन्दु रूप में लिपिक द्वारा कर दिया गया है। यदि 'एक अंग' पाठलिया जाय तो अर्थ होगा—एक निष्ठ होकर, अनन्य भाव से।

अलंकार—उल्लेख।

**मानसरोवर[1] सुभर[2] जल, हंसा केलि कराहिं।**
**मुकताहल मुकता[3] चुगैं, अब उड़ि अनत न जाहिं॥ ३९॥**

शब्दार्थ—मानसरोवर=( प्र० अ० ) सहस्रार अर्थात् शून्य-शिखर में स्थित अमृत कुंड। सुभर='शुभ्र' का अपभ्रंश है, किन्तु जायसी और कबीर में 'अच्छी तरह से भरा हुआ' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जल=( प्र० अ० ) अमृत। हंसा=( प्र० अ० ) जीव। मुकताहल = मुक्ताफल, मोती ( प्र० अ० ) उत्कृष्ट, स्वच्छ, सत्वपूर्ण आनन्द। मुकता= मुक्त होकर, स्वच्छन्द होकर, छूटकर ( यहाँ पर 'मुकता' शब्द क्रिया विशेषण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है )। अनत = अन्यत्र।

व्याख्या—जीव सुषुम्नामार्ग से पहुँचकर शून्य शिखर पर स्थित अमृत से लबालब भरे हुए कुण्ड में केलि कर रहा है और आनन्द रूपी मोती स्वच्छन्द रूप से छूटकर, जी भर कर चुग रहा है। इस आनन्द को छोड़कर वह अन्यत्र सांसारिक विषयों की ओर नही जा सकता।

टिप्पणी—(१)मुकता-मुकता में यमक अलंकार है। अन्योक्ति।

(२) शून्य चक्र को 'कैलाश' भी कहते है और मानसरोवर भी कैलाश में है।

**गगन[4] गरजि अंम्रित[5] चुवै, कदली कँवल प्रकास।**
**तहाँ कबीरा बंदगी[6], कै[7] कोई निज दास॥ ४०॥**

शब्दार्थ—गगन = आकाश ( प्र० अ० ) सहस्रार। कदली = केला ( प्र० अ० ) मेरुदण्ड। कँवल = कमल के समान प्राणशक्ति का चक्र। बंदगी = नमन करना!

व्याख्या—इस साखी में सद्गुरु ने अनहदनाद की अनुभूति का सुन्दर वर्णन किया है। 'गगन गरजि' अर्थात् आकाश के गर्जन से तात्पर्य है—वह अनहद नाद जो सहस्रार में नित्य हुआ करता है और वहाँ से अमृत के समान शक्ति का क्षरण होता रहता है।

---

१ हनु०—नाम सरोवर। २ तिवारी—हनु०—सुभग, विचार०—गुप्त—सुगम। ३ हनु, विचार०—मोती। ४ हनु०—विचार०—युगला०—गरजै गगन। ५. ना०प्र०—अमृत। ६ ना० प्र०—बंदिगी, हनु०, विचार०—संत जन। ७. तिवारी—कर, हनु०, विचार०—सत्य पुरुष के पास।

मेरुदण्ड की सुषुम्ना नाड़ी में चक्रो का प्रकाश होता रहता है। यह सब अनुभूति कुण्डलिनी के जागरण के समय होती है। कबीर कहते है कि इस अपूर्व अनुभूति के प्रत्यक्ष होने पर मेरा सिर झुक जाता है अथवा कोई और प्रभु का भक्त हो, जिसे यह अनुभूति हो जाय तो उसका सिर झुक जाएगा।

टिप्पणी—सहस्रार पद्म के मूल मे जो योनि नामक त्रिकोणाकार शक्ति का केन्द्र है, वही चन्द्रमा का स्थान है। इस साखी में जिस अमृत का उल्लेख है, वह वही से झरता रहता है। इसी को सोमरस कहते हैं—

ब्रह्मरन्ध्रे हि यत्पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम्।
तत्र कंदे हि या योनिः तस्याः चन्द्रो व्यवस्थितः
त्रिकोणाकृतिस्तस्याः सुधा क्षरति सन्ततम्॥
—शिव संहिता-५।१०३

**नींव[1] बिहूनां[2] देहुरा[3], देह बिहूनां[4] देव।**
**कबीर तहाँ विलंबिया, करै अलख[5] की सेव॥४१॥**

शब्दार्थ—बिहूनां = रहित। देहुरा=देवालय, मंदिर। बिलंबिया=रमा हुआ है। अलख=अलक्ष्य।

व्याख्या—सहस्रार तक पहुँचने पर जीव को एक ऐसे दिव्य भाव का साक्षात्कार होता है, जिसका सादृश्य स्थूल जगत् में नही मिलता। स्थूल जगत् में सुदृढ़ नीव पर बने हुए ईंट-पत्थर के देवालय मे देव का दर्शन होता है, किन्तु वहाँ पर बिना किसी नीव के देवालय में देव के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होता है और वह देव भी अशरीरी अर्थात् निराकार होता है। कबीर उसका अनुभव कर उसमे रम गया और अलक्ष्य सत् की सेवा में लग गया।

अलंकार—विभावना।

**देवल माँहे[6] देहुरी, तिल जेता[7] विस्तार।**
**माँहै पाती[8] माँहि जल, माँहै पूजन हार[9]॥४२॥**

शब्दार्थ—देवल=देवालय (प्र० अ०) शरीर। देहुरी=देहरी, देहली। माँहै= भीतर। जेता = समान, जितना।

व्याख्या—इसी शरीर रूपी देवालय मे प्रवेश करने के लिए देहली विद्यामान है, जिसकी परिधि तिल के समान सूक्ष्म है। इस देवालय मे बाहर से जल, पत्र आदि नही लाया जाता, भीतर ही पत्र है, भीतर ही जल है और भीतर ही पूजनेवाला भी है :

---

१ युगला०—देव, हनु०, विचार०—नेव। २ ना० प्र०-बिहूणों। ३. हनु०, विचार०-युगला०-देहरा। ४ ना० प्र०-बिहूणां। ५. ना० प्र०—अलप। ६. अन्य प्रतियों में-मॉहीं। ७. ना० प्र०—जेहै, हनु०, विचार०—जैसा। ८. हनु०, विचार०-फूल। ९ ना० प्र०—पूजणहार।

टिप्पणी—बिना पत्ती और जल के पूजन का तात्पर्य है मानसी पूजा, जिसके लिए बाह्य पदार्थों की आवश्यकता नही होती।

**कबीर[1] कँवल प्रकासिया, ऊगा[2] निर्मल सूर।**
**निसि[3] अँधियारी मिटि गई, बाजे[4] अनहद तूर॥ ४३॥**

शब्दार्थ—कँवल = (प्र० अ०) सहस्रार। ऊगा=उदित हुआ। सूर=सूर्य (प्र० अ०) ज्ञान की ज्योति। निसि अँधियारी=रात्रि का अंधकार (प्र० अ०) अज्ञान की अँधेरी रात।

व्याख्या—कबीर कहते है कि सहस्रार के प्रकाश का भान हो गया, ज्ञान का सूर्य उदय हो गया, अज्ञान की अँधेरी रात समाप्त हो गई और अनाहत नाद की तुरही बजने लगी।

टिप्पणी—इस साखी में एक सुन्दर रूपक की योजना है। भारत में सामन्तीय प्रथा इस प्रकार की थी कि रात्रि के अवसान होने पर सूर्योदय के समय महल के मुख्य द्वार पर तुरही बजाई जाती थी। उसके नाद को सुनकर सामन्त जग जाते थे। कबीर ने इस साखी मे उसी प्रथा का उपयोग किया है।

अलंकार—अन्योक्ति।

**अनहद बाजै नीझर[5] झरै, उपजै ब्रह्म गियान[6]।**
**अविगत[7] अंतरि प्रगटै[8], लागै[9] प्रेम धियान॥ ४४॥**

शब्दार्थ—नीझर = निर्झर (प्र० अ०) सहस्रदल। गियान = ज्ञान। अविगत = अज्ञात, ब्रह्म।

व्याख्या—परिचय की अवस्था में अनाहत नाद निरन्तर निनादित होता रहता है। सहस्रार रूपी झरने से अमृत झरता रहता है और ब्रह्म का ज्ञान उदय हो जाता है। जो सर्वथा अज्ञात था, वह अब भीतर ही प्रकाशित हो गया और उसमें लौ लग गई।

टिप्पणी—इस साखी मे भक्ति, ज्ञान और ध्यान का सुन्दर समन्वय है।

**आकासे मुखि औंधा कुआँ,[10] पाताले पनिहारि।**
**ताका[11] जल[12] कोई हंसा पीवै, बिरला आदि विचारि॥ ४५॥**

शब्दार्थ—आकासे = आकाश मे, (प्र० अ०) शून्य मण्डल। कुआँ = (प्र० अ०) सहस्रदल। पाताले = पाताल में (प्र० अ०) मूलाधार। पनिहारि = (प्र० अ०) कुण्डलिनी। जल = अमृत। हंसा = शुद्ध जीवात्मा। आदि = मूल, तथ्य।

---

१ युगला०—कबिरा। २. ना० प्र०—ऊग्या। ३. तिवारी—हनु०,विचार०—रैनि अंधेरी। ४ तिवारी—बागे। ५. युगला०—हनु०—निझर। ६ युगला०—तब उपजै ब्रह्म ज्ञान। ७ ना० प्र०—आवगति। ८. हनु०—प्रगटहि। ९. हनु०, युगला०—लगा प्रेम निज ध्यान। १०. हनु०, विचार०—आकासे औंवदाँ कुआँ। ११. युगला०, हनु०—जल हंसा कोइ पीवई १२. ना० प्र०—पाणीं को।

व्याख्या—(१) कुण्डलिनी जागरण परक

कबीर ने इस साखी में उलटवासी के माध्यम से साधना के द्वारा कुण्डलिनी के जाग्रत् होने और सहस्रार कमल ( चक्र ) पर पहुँचने की अनुभूति को व्यक्त किया है। आकाश में एक अधोमुख कुआँ है, पानी भरनेवाली पाताल मे है अर्थात् गगन-मण्डल में सहस्रार रूपी कुआँ है जिसका मुख नीचे की ओर है, पाताल अर्थात् मूलाधार चक्र में पनिहारिन रूपी कुण्डलिनी स्थित है। जब साधना द्वारा वह सुषुम्ना मार्ग से होकर सहस्रार में पहुँचती है, तब शुद्ध जीव उसके अमृत-जल को पीने में समर्थ होता है। इस मूलतत्व पर किसी बिरले ने ही विचार किया है अर्थात् इसे कोई बिरला ही समझता है।

(२) मुद्रा परक

यदि इस उलटवाँसी का मुद्रापरक अर्थ लिया जाय तो पनिहारिन जिह्वा होगी, कुआँ कपाल स्थित उस विवर को कहेंगे जहाँ से अमृत-रस टपकता रहता है। खेचरी मुद्रा द्वारा कोई शुद्ध जीव ही उस अमृत को पी सकता है। इस मूलतत्व को कोई विरला ही समझता है।

टिप्पणी—खेचरी मुद्रा

जब जिह्वा को उलटकर कपाल कुहर में विपरीत रूप से प्रविष्ट करते हैं और दृष्टि को भौहों के मध्य में स्थिर करते हैं, तब खेचरी मुद्रा होती है। 'खे' अर्थात् आकाश में 'चरी' अर्थात् गत होने वाली मुद्रा को खेचरी मुद्रा कहते हैं। उक्त आकाश में चित्त और जिह्वा दोनों पहुँच जाते हैं। इसलिए यह 'खेचरी मुद्रा' कहलाती है।

**सिव[1] सक्ती दिसि को[2] जुवै, पछिम दिसा उठै धूरि।**
**जल में सिंह[3] जु घर करै, मछली चढ़ै खजूरि॥ ४६॥**

शब्दार्थ—सिव = ( प्र० अ० ) पिंगला। सक्ती = ( प्र० अ० ) इडा। जुवै = खोज करना, देखना, जोहना। पछिम दिसा = ( प्र० अ० ) सुषुम्ना। सिंह = ( प्र० अ० ) जीव। मछली = ( प्र० अ० ) कुण्डलिनी। खजूरि = ( प्र० अ० ) शून्यचक्र।

व्याख्या—जब कुण्डलिनी का जागरण होता है, तब सुषुम्ना में वेग से उदान वायु उठने लगती है। सुषुम्ना शरीर के 'पश्चिम' या पृष्ठ भाग मे है। सुषुम्ना में वायु के वेग से चलने को 'पछिम दिसा उठै धूरि' द्वारा व्यक्त किया गया है। 'मछली' कुण्डलिनी का प्रतीक है। कुण्डलिनी का ऊपर शून्यचक्र तक जाना 'मछली चढ़ै खजूरि' द्वारा व्यक्त किया गया है। यहाँ 'सिंह' जीव का प्रतीक है। जब कुण्डलिनी ऊपर सहस्रार तक पहुँच जाती है, तब जीव मानसरोवर में अवगाहन करने लगता है ( दे० साखी नं० ३९ )। सिद्धो, नाथ योगियो और कबीर मे 'सक्ति' इड़ा का प्रतीक है और 'सिव' पिंगला का। कुण्डलिनी का जागरण तभी संभव होता है, जब इड़ा-पिंगला में स्थित प्राण-अपान वायु

१. युगला०—हनु०—शिव शक्ती। २. ना० प्र०—कौण जु जोवै, गुप्त०—कूँण जु जोवै।
३. ना० प्र०—स्यंघ।

तुल्यबल हो जायें। किन्तु कोई ऐसा विरला ही जीव है जो इस मार्ग का अनुसंधान कर सकता है।

अलंकार—विरोधाभास।

> अंमृत बरिसै हीरा निपजै[1], घंटा पड़ै टकसाल[2]।
> कबीर[3] जुलाहा भया पारखी[4], अनुभौ[5] उतर्‌या पार ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ—हीरा = सर्वोत्तम रत्न, वज्र। निपजै=उत्पन्न होता है। घटा = (प्र० अ०) अनाहत नाद। टकसाल = निर्दोष, शुद्ध। पारखी = परिचय प्राप्त करने वाला। अनुभौ = स्वानुभूति।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जब शुद्ध अनाहत नाद का परिचय हो जाता है, तब संकल्प-विकल्पात्मक मन उसी में लय को प्राप्त हो जाता है। उस समय तत्व का साक्षात्कार होता है और आनन्द की अमृतवर्षा होने लगती है। तत्व का साक्षात्कार होना 'हीरा निपजै' द्वारा व्यक्त किया गया है। जिस प्रकार हीरा या वज्र शुद्ध, प्रकाशमान और अभेद्य होता है उसी प्रकार जीव भी शुद्ध, दीप्तिमान और अभेद्य बन गया। (हीरा में 'वज्र' की व्यंजना वज्रयानियो से चली आई है)। कबीर ने उसका परिचय प्राप्त कर लिया है और अपने अनुभव से भव-सागर के पार उतर गये है।

> ममता[6] मेरा क्या करै, प्रेम उघारी[7] पौलि।
> दरसन भया दयाल का, सूल भई सुख सौलि[8] ॥ ४८ ॥

—१७०

शब्दार्थ—पौलि= (पौल>प्रतोली) दरवाजा। सूल = पीड़ा, कष्ट। सौलि = सौरि, चादर।

व्याख्या—प्रभु प्रेम ने रहस्य का द्वार खोल दिया। इससे मुझको दयामय प्रभु का साक्षात्कार हो गया। अब ममता मेरा क्या बिगाड सकती है ? अहं और मम का भाव ही समाप्त हो गया है और भव का कष्ट सुख की चादर बन गया अर्थात् सभी दुःख आनन्द मे परिणत हो गए।

---

१ विचार०—बरमि अमृत निपज हिरा। २. युगला०, विचार०—घटा पडे (परै) टकसार, गुप्त-घटे। ३ युगला०, विचार०—तहाँ कबीरा पारखी। ४ ना० प्र०—पारपू, गुप्त०—पारिखू। ५ ना० प्र०—अनभै। ६ ना० प्र०—ममिता। ७. ना० प्र०—उघाडी। ८. ना० प्र०—सौढ़ि।

## (६) रस को अङ्ग

**कबीर[1] हरि रस यौं[2] पिया, बाकी रही न छाकि[3]।**
**पाका कलस कुँभार का, बहुरि न चढ़िहै[4] चाकि ॥ १ ॥**

शब्दार्थ—रस = ब्रह्मानन्द का स्वाद। छाकि = तृप्ति, छक कर पीने का भाव। कलस = घड़ा।

व्याख्या—कबीर ने प्रभु-प्रेम का रस इतना पी लिया है कि अब और पीने की वाञ्छा शेष नही रह गई है अर्थात् वह पूर्ण रूप से तृप्त हो गए हैं। जब कुम्हार का घड़ा आवाँ में पक जाता है तब उसे पुन: चाक पर चढाने की आवश्यकता नही रह जाती है, उसी प्रकार जब साधक पक जाता है अर्थात् अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है, तब वह इस संसार-चक्र में पुन· नही आता। वह इसी जीवन में मुक्त हो जाता है।

यदि 'थाकि' पाठ लिया जाय तो अर्थ होगा—अब सांसारिक-यात्रा की थकावट शेष नही रह गई।

अलंकार—निदर्शना।

**राम रसाइन प्रेम रस,[5] पीवत अधिक रसाल।**
**कबीर पीवन[6] दुलभ है, माँगै सीस कलाल ॥ २ ॥**

शब्दार्थ—रसाइन = रसायन। पीवत = पीने में। रसाल = रसयुक्त, मधुर। पीवन = पीना। दुलभ = दुर्लभ, कठिन। सीस = ( प्र० अ० ) आपा, अहं, खुदी। कलाल = कलवार ( प्र० अ० ) गुरु।

व्याख्या—रसायन उस औषध को कहते है जो शरीर की अवस्था में परिवर्तन कर देता है, जरा–जीर्ण अवस्था को युवावस्था में परिणत कर देता है।

प्रभु का प्रेम वह रसायन है जो देहात्म-भाव को स्वरूप-भाव में परिणत कर देता है। वह पीने में अत्यन्त स्वादिष्ट और मधुर होता है। कबीर कहते है किन्तु उसका पीना कठिन है, क्योकि उसको पिलानेवाला कलवार अर्थात् गुरु मूल्य रूप में आपा का विनाश चाहता है।

अलंकार—व्यतिरेक।

---

१. युगला०—कबिरा। २ गुप्त—यूँ, हनु०—यों। ३. ना० प्र०—थाकि, हनु०—छाक। ४. हनु०—चढ़ै नहिं, ना० प्र०—न चडई। ५. हनु०—नाम रसायन अधिक रस। ६. ना० प्र०—पीवण।

कबीर भाठी कलाल[1] की, बहुतक बैठे आइ।
सिर सौंपे सोई पिवै[2], नहीं[3] तौ पिया न जाइ ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—भाठी = शराब की भट्ठी। कलाल = ( सं० कल्यपाल ) कलवार, ( प्र० अ० ) गुरु।

व्याख्या—कलाल रूपी गुरु के पास बहुत से मदिरा-प्रेमी रूपी शिष्य आकर बैठे हैं। किन्तु जो गुरु को अहंकार रूपी सिर समर्पित कर सकता है, वही इस प्रेम रूपी मदिरा को पीने का अधिकारी है, अन्यथा कोई भी यह मदिरा न पी सकेगा।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति, व्यतिरेक।

हरि रस पीया जानिये[4], जे कबहुँ न जाइ खुमार[5]।
मैमंता[6] घूमत फिरै,[7] नाहीं तन की सार ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—जे = यदि। खुमार = नशा। मैमता = मदमत्त, मतवाला। सार = सुधि, संभाल।

व्याख्या—प्रभु की प्रेम-मदिरा पी हुई तब समझना चाहिए, जब एक बार पीने से उसका नशा कभी न उतरे। जीव मदमत्त हाथी के समान उस प्रेम के उन्माद में घूमता फिरे और उसे अपने शरीर की भी सुधि न रह जाय।

मैमंता[8] तिन[9] ना चरै, सालै चित्त[10] सनेह।
बारि[11] जु बाँधा[12] प्रेम कै, डारि रहा सिरि खेह[13] ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—मैमंता = मतवाला हाथी ( प्र० अ० ) प्रेमी-जीव। तिन = तृण ( प्र० अ० ) सांसारिक भोग-विलास। सालै = वेदना पहुँचाना, चुभना। बारि = बार पर, द्वार पर। खेह = धूल।

व्याख्या—जिस प्रकार मतवाला हाथी द्वार पर बँधा हुआ अपने तन की सुधि नहीं रखता। वह तृण को खाना भी भूल जाता है और बार-बार अपने सिर पर धूल डालता रहता है, उसी प्रकार प्रेमोन्मत्त साधक के हृदय में प्रेम का शल्य निरन्तर चुभता रहता है। वह सासारिक भोग-विलास से विरत हो जाता है। वह प्रेम के द्वार पर सदा बँधा रहता है और तन की सुध-बुध पूर्णतया खो बैठता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

---

१. हनु०, युगला०—प्रेम। २. हनु०, युगला०—सो पीवई। ३. हनु०-औरहि, युगला०-औरपै। ४ ना० प्र०—जाँणिये। ५ अन्य प्रतियों में—( जे ) उतरै नाहि खुमार। ६. अन्य प्रतियों में—मतवाला घूमत फिरै, नहीं जो तन की सार। ७ ना० प्र०—रहै। ८ युगला०—मोहमता नहि सचरै, हनु० विचार०—महमंता नहि त्रिन चरै। ९ ना० प्र०-तिण, तिवारी—त्रिण। १०. ना० प्र०-चिता। ११. अन्य प्रतियों में—वारिज बंधा कलाल के। १२. ना० प्र०- बाँध्या। १३ ना० प्र०-षेह।

**मैमंता[1] अविगत रता, अकलप आसा जीति।[2]**
**राम अमलि[3] माता रहै, जीवन मुकुति अतीति ॥ ६ ॥**

शब्दार्थ—अविगत = अगम्य, जहाँ तक किसी की पहुँच नहीं, जो जाना नहीं जाता, परम प्रभु। रता = अनुरक्त। अकलप = निर्विकल्प। अमलि = नशे में। आसा = तृष्णा। अतीति = ( अति + ईति = आगे चला गया हुआ ), द्वन्द्वातीत, द्वन्द्व से परे।

व्याख्या—प्रेम-रस से मदमत्त साधक परम-प्रभु के प्रेम में सदा अनुरक्त रहता है। उसके संकल्प-विकल्प समाप्त हो जाते हैं। वह तृष्णा पर विजय प्राप्त कर लेता है। प्रभु के प्रेम के नशे में सदा माता रहता है। वह जीवन्मुक्त हो जाता है और सब द्वन्द्वों से परे हो जाता है।

**जिहि सरि घड़ा न बूड़ता[4], मैंगल[5] मलि मलि नहाइ।**
**देवल बूड़ा कलस सों,[6] पंखि[7] तिसाई जाइ ॥ ७ ॥**

शब्दार्थ—सरि = सर में, तालाब में। मैंगल = मदमस्त हाथी। देवल = देवालय ( प्र० अ० ) शरीर। कलस = चोटी, सिर। सों = तक। पंखि = पक्षी ( प्र० अ० ) जीव। तिसाई = प्यासा ही, तृषित ही।

व्याख्या—( प्रस्तुत अर्थ ) जिस सरोवर में पहले जलाभाव के कारण एक घडा भी नहीं डूबता था उसमें अब एक देवालय भी शिखर तक डूब जाता है और जहाँ से एक पक्षी भी प्यासा लौट जाता था, अब वह जल से इतना परिपूर्ण हो गया है कि उसमें एक मदगल हाथी भी खूब मल-मलकर स्नान करता है।

( अप्रस्तुत अर्थ )—जो हृदय पहले प्रेम-शून्य था, उसमें जीव साधारण डुबकी भी नहीं लगा सकता था, वह अब प्रेम से इतना लबालब भर गया है कि साधक का शरीर सिर तक उसमें अवगाहन कर सकता है। इसी तथ्य को उपर्युक्त वैषम्य द्वारा परिपोषित किया गया है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

**सबै रसाइन[8] हम[9] किया, हरि सा और न कोइ[10]।**
**तिल इक[11] घट मैं संचरै, सब[12] तन कंचन होइ ॥ ८ ॥**

—१७८ ॥

---

१ युगला०—मोहमता, विचार०—महमंता। २ युगला०, विचार०—आसा अकल अजीत। ३. विचार०, युगला०—नाम अमल। ४. ना० प्र०—डूबता। ५. ना०प्र०—अब मैंगल। ६ ना० प्र०—सूँ। ७ ना० प्र०—पंपि, हनु०—पंछि पियासे जाय, युगला०—पक्षी पियासा जाय। ८ ना० प्र०—रसाँइण। ९ ना० प्र०—मैं। १० तिवारी—हरि रस सम और न कोइ। ११. तिवारी—रंचक, हनु०—रंचक तन में। १२ ना० प्र०—जौ सब।

व्याख्या  मैंने सभी रसायनों का प्रयोग किया अर्थात् सभी साधनाओं का अवलम्बन किया, परन्तु प्रभु-प्रेम के समान दूसरी रसायन न मिली अर्थात् भक्ति और समर्पण के समान, मेरे अनुभव में, दूसरी कोई साधना नही है। यदि यह रसायन इस शरीर में रत्ती-भर भी संचरित हो जाय तो सारा शरीर स्वर्णमय हो जाय अर्थात् यदि किञ्चित् प्रेम भी हृदय में जाग्रत हो जाय तो सारा अन्तःकरण शुद्ध और कान्तिमय हो जाय।

●

## (७) लाँबि को अंग

कया[1] कमंडल भरि[2] लिया, उज्ज्वल[3] निर्मल नीर।
तन मन जोवन भरि पिया, प्यास न मिटी सरीर[4] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—लाँबि = लम्बाई, प्रभु जीव से साधारणतः इतना दूर रहता है कि मन को उसकी गहराई की थाह नहीं मिलती। उज्ज्वल निर्मल नीर = भगवद्भक्ति का रस। जोवन = यौवन। प्यास न मिटी = तृप्ति नही होती।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि भगवद्भक्ति के उज्ज्वल और निर्मल जल से मैंने शरीर रूपी कमण्डल को भर लिया है। शरीर और मन की पूरी शक्ति के साथ मैंने इस भक्ति-रस का पान यौवन-भर किया, किन्तु मेरे अन्तःकरण की प्यास नहीं बुझी।

अलंकार—रूपक, विशेषोक्ति।

मन उलटा[5] दरिया मिला,[6] लागा मलि मलि[7] न्हाँन।
थाहत थाह न पावही,[8] तू पूरा रहमाँन[9] ॥ २ ॥

शब्दार्थ—दरिया = समुद्र। पूरा = पूर्ण। रहमाँन = कृपालु।

व्याख्या—मेरा मन विषयो से निवृत्त होकर अन्तर्मुखी हो गया और ब्रह्मज्ञान रूपी समुद्र में प्रवाहित हो गया। उसमें मल-मलकर स्नान करने लगा अर्थात् निर्मल हो गया और सारा पाप दूर हो गया। किन्तु उसकी गहराई की थाह नहीं लगती। हे दयालु! तू पूर्ण है अर्थात् ससीम की थाह तो लग सकती है, किन्तु जो सर्वथा असीम और परिपूर्ण है, उसकी थाह लगना असम्भव है।

टिप्पणी—( i ) यहाँ पर सन्तों की 'उलट धार' का संकेत किया गया है जिसकी पूरी व्याख्या पाँचवे खण्ड में की जायेगी।

( ii ) मन उलटा दरिया मिला—मन छठी इन्द्रिय है। इसका स्वभाव संकल्प-विकल्पात्मक है। परमार्थ निर्विकल्प है। अतः संकल्प-विकल्पात्मक मन के द्वारा परमार्थ का परिचय नही मिल सकता। संकल्प-विकल्पात्मक मन पदार्थ को खण्ड-वृत्ति से देखता है और विषयों की ओर आसक्त रहता है। इस मन को उलटने पर ही 'उन्मनी दशा' मे परमार्थ का परिचय मिल सकता है। सन्त-सम्प्रदाय में इस क्रिया को 'मन मारना' भी कहते हैं।

---

१. हनु०—काया। २ यु०—कर। ३. यु०—तुम जल। ४. यु०, हनु०—पीवत तृषा न भाजही, तिरषावंत कबीर। ५. ना० प्र०—उलट्या, यु०, हनु०—उलटी। ६ ना० प्र०—मिल्या। ७ हनु०, यु०—मलमल। ८. ना० प्र०—आवई। ९ ना० प्र०—रहिमाँन।

धीरे-धीरे यह एक संस्कार-सा हो गया और सन्त-सम्प्रदाय में, कबीर-पंथ में दीक्षा के समय प्रतीक रूप से दस कदम पीछे हटते हैं।

हेरत हेरत हे सखी, रहा[1] कबीर हिराइ।
बूँद समानी[2] समुंद में, सो कत हेरी जाइ॥ ३॥

शब्दार्थ—हेरत-हेरत = खोजते-खोजते। हिराइ = खो गया। कत = ( सं०–कुतः) कैसे, कहाँ से।

सन्दर्भ—इस साखी में कबीर ने साधक की उस अवस्था का वर्णन किया है जिसमें उसका पृथक् अहं परम में विलीन हो जाता है। साधना की प्रारम्भिक अवस्था अहं को लेकर ही चलती है, किन्तु अन्तिम अवस्था में वह अहं परम से किसी प्रकार भी पृथक् नही रह सकता। वह उसी प्रकार परम में विलीन हो जाता है, जैसे बूँद समुद्र में मिलने पर अपना पृथक् अस्तित्व खो देता है। उस मिलन के अनन्तर 'मैं' शब्द केवल वक्ता का संकेत मात्र रह जाता है।

व्याख्या—हे भाई सन्तो ! परम को ढूँढते-ढूँढते मेरा अहं उसी में खो गया। उसका पृथक् अस्तित्व ही समाप्त हो गया। जैसे बूँद समुद्र को ढूँढते-ढूँढते जब उसमें मिल जाती है, तब उसका पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जाता है। अब वह किस प्रकार खोजकर अलग दिखलायी जा सकती है अर्थात् उस बूँद को पुनः समुद्र से अलग नही कर सकते। ठीक इसी प्रकार यह जीव जो पहले नाम-रूप को लेकर 'अहं' बना हुआ था, जब प्रभु की खोज में चलते चलते नाम-रूप से पृथक् होकर प्रभु से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है, तब उस जीव रूपी अहं का पृथक् अस्तित्व नही रह जाता है।

अलंकार—दृष्टान्त।

हेरत हेरत हे सखी, रहा[3] कबीर हिराइ।
समुंद समाना[4] बूँद मै, सो कत हेर्‌या जाइ॥ ४॥

—१८२॥

सन्दर्भ—इस साखी में पूर्व की स्थिति को दूसरे ढंग से कहा गया है। मिलन की स्थिति एक ही है। पूर्व की साखी में वह साधक की ओर से कही गयी है और इस साखी में वह परमात्मा की ओर से कही गयी है। जब मिलन की अवस्था आती है, तब भीतर से एक ऐसी शक्ति उठती है जो कि जीव के 'अहं' को आत्मसात् कर लेती है। इसी तथ्य को दो प्रकार से कह सकते हैं—पहले प्रकार से कहा गया है कि अंश अंशी में समा गया। इस साखी में कहा गया है कि अंशी अंश को आत्मसात् कर लेता है। इसमें प्रभु के अनुग्रह की व्यञ्जना है।

---

१. ना० प्र०—रह्या। २. गुप्त–समांणी। ३. ना० प्र०—रह्या। ४. गुप्त—समांणां।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे भाई सन्तो ! प्रभु को खोजते-खोजते मैं स्वयं खो गया। समुद्र ( अंशी ) ने बूँद ( अंश ) को आत्मसात् कर लिया। अब उस बूँद का पृथक् अस्तित्व कैसे खोजा जा सकता है ?

टिप्पणी—उपर्युक्त दोनों साखियों में जीव को प्रिया के रूप में लिया गया है और प्रभु को प्रियतम के रूप में। इसीलिए प्रिया अपने साथी को 'सखी' शब्द द्वारा सम्बोधित करती है। भावार्थ यह है कि साधक अपने साथी से कह रहा है।

अलंकार—दृष्टान्त।

## (८) जरणां को अंग

'जरणा' शब्द का तात्पर्य है—अत्यन्त प्राचीन, अनादि काल से जैसा है वैसा। इसका लक्ष्यार्थ है—अनिर्वचनीय।

> भारी कहूँ[1] त बहु डरौं[2], हलका[3] कहूँ तो झूठ[4]।
> मैं का जानौं[5] राम को, नैनाँ[6] कबहुँ न दीठ ॥ १ ॥

शब्दार्थ—नैनाँ = नेत्रो से।

व्याख्या—उपनिषद् के शब्दो में ब्रह्म 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' है अर्थात् वह छोटे से छोटा और बड़े से भी बड़ा है। भाव यह है कि उसका कोई परिमाण नही जिसके द्वारा उसका निरूपण हो सके। इसीलिए कबीर कहते है कि यदि मैं उसे भारी कहता हूँ तो भय लगता है कि मैं उसके साथ अन्याय कर रहा हूँ, क्योकि उसका कोई तौल नही हो सकता। यदि उसे हल्का कहता हूँ तो सरासर असत्य होगा, क्योकि वह इतना गम्भीर और महान् है कि उसे हल्का कैसे कहा जा सकता है? किसी अन्य वस्तु की तुलना में ही कोई वस्तु हल्की या भारी बताई जा सकती है। ससार की सब वस्तुओ के अधिष्ठान्—ब्रह्म की किस वस्तु से तुलना की जा सकती है? वह स्थूल और साकार तो है नही, अतः इन्द्रिय-ग्राह्य नही है। मैंने इन नेत्रो से उसे कभी देखा नही है, तब मैं उसका क्या निरूपण करूँ?

> दीठा है तो कस[7] कहूँ, कह्या[8] न को पतियाइ।
> हरि जैसा है[9] तैसा रहो[10], तूँ हरषि हरषि गुण[11] गाइ ॥ २ ॥

शब्दार्थ—दीठ = देखा है। कह्या = कहने से। पतियाइ = प्रतीति करना, विश्वास करना।

व्याख्या—यदि मुझे उसका प्रत्यक्ष हुआ भी है तो उसका वर्णन कैसे करूँ, क्योंकि वह वर्णनातीत है। यदि वर्णन करूँ भी तो उस पर किसका विश्वास जमेगा? (यहाँ 'दीठा' का वाच्यार्थ नही लेना चाहिए। भाव यह है कि यदि मुझे उसका अनुभव हुआ है)। प्रभु अपने स्वरूप का स्वयं प्रमाण है। उसके स्वरूप का किसी अन्य के द्वारा वर्णन नही किया जा सकता। वह जैसा है, वैसा है। इसलिए, हे संतो! उसके रूप को जानने की चेष्टा मत करो, प्रसन्न होकर उसका गुणगान करते रहो।

---

१. ति०—यु०—हनु०—कहौं तौ। २ ति०—यु०—डरूँ। ३. ति०—हरुवा। ४ यु०—हनु०—झीठ। ५ ति०—यु०—हनु०—क्या जानूँ। ६. ना० प्र०—नैनूँ। ७. हनु—क्या। ८. ति०—कहे न कोइ, यु०—हनु०—कहूँ तौ को। ९. ति०—हनु०—'है' नहीं है। १०. ति०—हनु०—रहै। ११. ति०—गुन।

ऐसा अद्भुत[1] जिनि[2] कथै, अद्भुत[3] राखि लुकाय।
वेद कुरानौं गमि नहीं, कह्या[4] न को पतियाइ ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—लुकाय=छिपाकर। गमि=पहुँच, पता।

व्याख्या—प्रभु सभी ज्ञात वस्तुओं से सर्वथा भिन्न है। इसीलिए वह अद्भुत है, रहस्यमय है। अद्भुत को गोपनीय रखना ही अच्छा है। उसका वर्णन करने से केवल मिथ्या-बोध ही होगा। इसलिए उसका वर्णन करने से कोई लाभ नही। वेद और कुरान की भी वहाँ तक पहुँच नही है। उसकी अवर्णनीयता के कथन का कोई विश्वास नही करेगा।

करता की गति अगम है, तू चलि अपने[5] उनमान।
धीरैं धीरैं पाव दे[6], पहुँचैगे परवान[7] ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—उनमान = अनुमान, अन्दाज। परवान=प्रमाण, निश्चय।

व्याख्या—प्रभु की गति मनुष्य की पहुँच के बाहर है। हे जीव! इसलिए तू उसे एकदम से जानने की चेष्टा मत कर। तू अपने आन्तरिक अन्दाज-भर धीरे-धीरे साधना के मार्ग में चलता चल। एक दिन तू वहाँ पहुँचेगा जो कि तुझे स्वयं प्रमाण या निश्चय प्रतीत होगा।

अलंकार—विरोवाभास।

पहुँचैंगे[8] तब कहैंगे अमड़ैंगे उस ठाँइ[9]।
अजहूँ बेरा[10] समुंद मैं, बोलि विगूचैं[11] काँइ ॥ ५ ॥
—१८७ ॥

शब्दार्थ—अमडैंगे=प्रतिष्ठित हो जाएँगे। ठाईं=स्थान। विगूचैं=उलझन, संशय, बहकावा। कांइ=क्यों।

व्याख्या—साधना करते चलो। जब अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाओगे और उसमे प्रतिष्ठित हो जाओगे, तब कुछ कहने का अधिकार होगा। तब तुम्हें पता चलेगा कि वह देश, काल, इन्द्रिय और वाणी से अतीत है—'पहुँचैंगे उस ठाँइ अमड़ैंगे, तब कहैंगे।'

अभी तो तेरा बेड़ा समुद्र में है अर्थात् अभी तो तू यात्रा के क्रम में है, साधक है। अभी से उसके विषय में कथन करके उलझन और संशय में क्यों पड़ता है?

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

---

१. हनु०—ऐसी कथनी। २ ति०—यु०—हनु०—मति कथौ। ३. यु०—हनु०—कथो तो धरो छिपाय। ४ ति०—कहे न कोइ यु०—हनु०—कहूँ तो को। ५ हनु०—निज। ६ हनु०—धर। ७. हनु०—पहुँचेगा निर्वान। ८ हनु०—पहुँचहुगे। ९. हनु०—अब कछु वाही न जाइ। १०. हनु०—मेरा समुद्र। ११ हनु०— बिगारैं।

## (९) हैरान को अङ्ग

पंडित सेती कहि रहा[१], कहा[२] न मानै कोइ।
ओ[३] अगाध ए[४] का कहैं, भारी अचरज[५] होइ[६] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—सेती=से। ओ=वह। ए=यह। का=क्या।

व्याख्या—इस साखी के अर्थ में प्रायः बहुत विभ्रम दिखाई देता है। कुछ विद्वानों ने इसके दूसरे चरण का अर्थ इस प्रकार किया है—( १ ) उस प्रभु को अथाह और अनुपम कहे तो श्रोताओं को आश्चर्य होता है। ( २ ) उन पंडितो को उस परमतत्त्व का अद्वैत एवं अगाध रूप से वर्णन करने से अथवा उस अगाध तत्त्व से जीव का ऐक्य स्थापित करने से अत्यधिक आश्चर्य होता है।

विचारणीय यह है कि 'कहै' क्रिया अन्य पुरुष की है। यदि पंडित ही उसको अगाध और एक कहते है तो यही तो कबीर भी कहते हैं। फिर आश्चर्य की बात क्या हुई ? कबीर के आश्चर्य का कारण यही है कि पुस्तकीय ज्ञानवाला पंडित अनुभव-ज्ञान की बात से कुछ भिन्न कहता है और वह अनुभवजन्य ज्ञान की बात मानता नही। इस साखी मे कबीर ने पंडितों के पुस्तकीय अथवा शास्त्रीय ज्ञान का संतों के अनुभव-जन्य ज्ञान से वैषम्य दिखाया है। अनुभवजन्य ज्ञान कुछ और है शास्त्रीय ज्ञान कुछ और। आश्चर्य की बात यही है कि पंडित लोगो को अनुभवजन्य ज्ञान पर विश्वास नही होता।

इसके द्वितीय चरण का पाठ भी भ्रामक है। 'एका' एक साथ छपा हुआ है। यदि उसको एक साथ ले तो 'कहै' का कर्त्तापद 'पडित' को लेना पड़ता है। यदि पंडित भी परमतत्त्व को अगाव और एक कहते हैं, तब तो पंडितों और संतो के कथन मे कोई अन्तर नही रह जाता। अतः द्वितीय चरण का पाठ इस प्रकार लेना चाहिए—ओ अगाध एका कहै।' हनु० और यु० प्रतियों का पाठ इस प्रकार है—'वह अगाध ये क्यों कहैं, जो ऊपर के प्रस्तावित पाठ के निकट है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि कबीर ने इस साखी मे शास्त्रीय ज्ञान और अनुभव-जन्य ज्ञान के वैषम्य को दिखाते हुए यह आश्चर्य व्यक्त किया है कि पंडित लोग अनुभव-जन्य ज्ञान को मानने को तैयार नही। वे केवल शास्त्र की दुहाई देते है।

( ज्ञान तीन प्रकार का होता है—इन्द्रियजन्य ज्ञान, शास्त्रजन्य ज्ञान और अनुभव-जन्य ज्ञान। इसे नव-अफलातूनी प्लाटीनस् ( Plotinus ) ने क्रमशः Science,

---

१. ना० प्र०—रहे। २. ना० प्र०—कह्या। ३. हनु०—यु०—वह। ४. न० प्र०—एका, हनु०—यु०—ये क्यों। ५. ना० प्र०—अचिरज। ६. गुप्त०—मोहि।

Opinion और Illumination कहा है और उसका अरबी मे सूफियों ने क्रमशः ऐनुलय-क़ीन, इल्मुलयकीन और हक्कुलयकीन अनुवाद किया है )।

कबीर कहते है कि मैं पंडित से अपने अनुभवजन्य ज्ञान की बात कहता हूँ। किन्तु मेरी बात कोई नही मानता। पंडित तो केवल शास्त्र के वचनों की दुहाई देते हैं। वह परमतत्त्व तो अगाध है, इन्द्रियों और वाणी से परे है और ये पंडित लोग क्या-क्या कह रहे है अर्थात् उसको शब्दो की सीमा मे परिच्छिन्न करना चाहते है। इससे मुझे भारी आश्चर्य होता है। इस आश्चर्य का सम्बन्ध कबीर से ही है। इसका एक पाठ यह भी है—'भारी अचिरज मोहि'।

**बसै अपिण्डी पिण्ड[1] मै, ता गति लखै[2] न कोइ।**
**कहै कबीरा सन्त जन[3], बड़ा अचंभा मोहि[4] ॥ २ ॥**
**—१८९ ॥**

शब्दार्थ—अपिण्डी = अशरीरी, आत्मा। पिण्ड = शरीर। गति = लीला, अद्भुत रीति।

व्याख्या—जो अशरीरी है, जिसका कोई आकार नही है, वह शरीर में, आकार में निवास करता है। इस विचित्र लीला या अद्भुत रीति को कोई समझ नही पाता। कबीर कहते हैं कि हे सन्तो ! मुझे यही आश्चर्य प्रतीत होता है।

टिप्पणी—कबीर ने इस साखी मे तत्त्व-ज्ञान के एक बड़े रहस्य की ओर संकेत किया है। प्रत्येक व्यक्ति में अपने प्राकट्य के लिए निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, असीम-ससीम बनता है। यही उसकी अद्भुत लीला है। आश्चर्य यही है कि हम सीमा, सगुण और साकार में ही उलझे रह जाते हैं और उसके भीतर जो निर्गुण, निराकार और असीम विद्यमान है, उसकी ओर हमारा ध्यान नही जाता।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इसी भाव को एक पद में इस प्रकार व्यक्त किया है—

सीमार माझे, असीम, तुमि,
बाजाओ आपन सुर।
आमार मध्ये तोमार प्रकाश,
ताई एते मधुर ॥

अर्थात् हे असीम ! तुम सीमा के मध्य मे अपना सुर बजाते हो। इसीलिए तो हमारे भीतर तुम्हारा प्रकाश इतना मधुर है।

अलंकार—विरोधाभास।

●

१. ना० प्र०—अपंडी पंड, गुप्त—अप्यंडी प्यंड। २. ना० प्र०—लषै। ३. ना० प्र०—हौ। ४. हनु०—गु०—मोय।

## (११) निहकर्मी पतिव्रता को अंग

इस अंग में जीव के प्रभु के प्रति अनन्य प्रेम का दृष्टान्त एक पतिव्रता नारी से दिया गया है, जिसके हृदय में अपने पति के अतिरिक्त और किसी के प्रति अनुराग नहीं होता। 'निहकर्मी पतिव्रता' वह है जो अन्य के प्रति निष्काम या विरत रहती है।

> कबीर[1] प्रीतड़ी तौ तुझ सौं, बहु गुणियाले कंत।
> जो हँसि बोलौं और सौं, तौ[2] नील रँगाऊँ दंत ॥ १ ॥

शब्दार्थ—प्रीतडी=प्रेम। गुणियाले = गुणवान। नील रँगाऊँ दंत=कलंकित होना, धिक्कार।

व्याख्या—जिस प्रकार एक पतिव्रता नारी अपने पति से कहती है कि हे सर्वगुणसम्पन्न कान्त (प्रिय)! मेरा जो कुछ भी प्रेम है, वह केवल तुमसे है। मेरी दृष्टि में तुमसे बढकर गुणवाला और कोई नही है। यदि मैं और किसी से हँस कर बोलूँ अर्थात् किञ्चित् भी अनुराग दिखाऊँ तो मेरे लिए धिक्कार की बात होगी।

इसी प्रकार भक्त-जीव प्रभु से कहता है कि सर्वगुण-सम्पन्न तो आप है। आपसे बढकर गुणवाला और कौन है जिससे मैं प्रेम करूँ? इसलिए मेरा प्रेम केवल आपके प्रति है। दूसरे के प्रति किञ्चित् भी अनुराग मेरे लिए धिक्कार की बात होगी।

टिप्पणी—नील रँगाऊँ दंत—दाँत को नीले रंग से रँगाना एक मुहावरा है, जिसका अर्थ है—कलंकित होना, धिक्कार।

> नैनां अंतरि[3] आव तू[4], नैन झाँपि तोहि लेउँ[5]।
> नाँ हौं देखौं और कूँ, ना तुझ[6] देखन देउँ ॥ २ ॥

शब्दार्थ—झाँपि = बंद कर लेना, ढक लेना। हौं=मैं। अंतरि = भीतर में।

व्याख्या—इस साखी में अनन्य प्रेम का एकान्तिक भाव दिखाया गया है। कबीर कहते है कि हे प्रिय! तू मेरे नेत्रों के भीतर आ जा, जिससे मैं तुझे अपने नेत्रों के भीतर बंद कर लूँ। जब नेत्र बंद हो जाएँगे, तब मैं न और किसी को देख सकूँगा और न तेरे लिए यह सम्भव होगा कि तू और किसी को देखे, क्योंकि तू मेरे नेत्रों में बंद रहेगा।

'ना तुझ देखन देउँ' का शब्दार्थ है—न तुझे और को देखने दूँ।' इस अर्थ में 'तुझ' को 'देखन' का कर्त्तापद माना गया है। यदि 'तुझ' को 'देखन' का कर्मपद लिया जाय

---

१. ति०—यु०—प्रीति रीति तो तुज्झ सां, मेरे बहु गुनियाले कत हनु०-प्रीति अडी तुझ ते मोरि, त्रि०-प्रीति अड़ी है तुज्झ सें। २ हनु०—तो नित रग उतग। ३ हनु०-यु०—अतर। ४. ना० प्र०—तूँ। ५ ना० प्र०—ज्यूँ हों नैन झँपेउ। ६ हनु०—यु०—तोहि।

तो अर्थ होगा—न औरों को तुझे देखने दूँगा। एकान्तिक भाव की दृष्टि से पहला अर्थ अधिक संगत है।

टिप्पणी—लगभग इसी भाव को व्यक्त करने वाली साखी 'विरह को अंग (३।३३) में आ चुकी है।

मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागै है मेरा॥ ३॥

व्याख्या—हे प्रभु! मेरे में अपना कुछ भी नही है, जो कुछ भी है, वह सब तेरा ही है। मानव का ममत्व का भाव सर्वथा भ्रान्त है। जब सब कुछ तेरा ही है, तब तेरी वस्तु को तुझे समर्पित करने में मेरा क्या लगता है? 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।'

कबीर रेख सिंदूर[1] की[2], काजल[3] दिया न जाइ।
नैंननि[4] रमइया रमि रह्या, दूजा कहाँ समाइ॥ ४॥

शब्दार्थ—सिंदूर = सौभाग्य, अनुराग का चिह्न। काजल = कालिमा, विषय-वासना, सांसारिक आसक्ति का प्रतीक। रमइया = रमण करने वाला, प्रियतम।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मैंने तो (अपने मस्तक पर) सिंदूर की रेखा अर्थात् पूर्ण सौभाग्य का चिह्न लगा रखा है। मेरा प्रभु के प्रति पूर्ण अनुराग हो गया है। मेरा आन्तरिक सौभाग्य पूर्ण हो गया है। अब मुझे काजल लगाकर अपनी शोभा बढ़ाने की आवश्यकता नही है। काजल जो वाह्य शोभा का प्रतीक है, अब नही लगाते बनता अर्थात् विषयासक्ति की कालिमा से अब मैं सर्वथा मुक्त हो गया हूँ। जब मेरी आँखो में प्रियतम सर्वतः रम रहा है तो अब दूसरे के लिए स्थान कहाँ है अर्थात् अब विषय की ओर देखने की रुचि बिलकुल नही है। मेरे नेत्रो के लिए उसका आकर्षण सदा के लिए चला गया है।

कबीर सीप समंद की,[5] रटै पियास पियास।
समंदहि तिनका बरि गिनै,[6] स्वाँति[7] बूँद की आस॥ ५॥

शब्दार्थ—तिनका बरि = तिनके के बराबर, तिनका-भर, तृणवत्।

व्याख्या—जिस प्रकार सीप विशाल समुद्र के भीतर रहते हुए भी प्यास से व्याकुल रहती है और स्वाति बूँद की आशा लगाए रहती है, वह सारे समुद्र को तृणवत् समझती है, कबीर कहते है कि ठीक इसी प्रकार प्रेमी भक्त संसार-सागर में रहते हुए नाना प्रकार के आकर्षणों को तृणवत् समझते हुए एकमात्र प्रियतम प्रभु की रट लगाए रहता है।

---

१. ना० प्र०—स्यंदूर। २ हनु०, त्रि०—अरु। ३ अन्य प्रतियों में—काजर। ४. ना० प्र०—नैनूं, हनु०—नैननि प्रीतम रमि रहा। ५ हनु०—समुद्र में। ६. ना० प्र०—तिणका बरि गिणै, हनु०—सब समुद्र तिनका गिनै, त्रि०—और बूँद को ना गहे। ७ ति०—एक स्वाति।

'समंदहि तिनका करि गिनै' के स्थान पर हनु० वाली प्रति में 'सब समुद्र तिनका गिनै' पाठ है, जो अधिक स्पष्ट है।

अलंकार—अन्योक्ति।

कबिरा[1] सुख को जाय[2] था, आगे मिलिया[3] दुक्ख।
जाहि सुक्ख घर आपुने,[4] हम जानैं[5] अरु दुक्ख॥ ६॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि लोग जिसे सुख कहते हैं, उसी की खोज में मेरी जीवन-यात्रा भी चल रही थी। परन्तु गुरु-कृपा से सामने प्रियतम का वेदना रूपी दुःख आ गया अर्थात् उसका अनुभव हो गया। फिर तो मैंने सारे सांसारिक सुखों को तिलांजलि दे दी। सभी सुखों से कहा कि तुम अपने घर जाओ अर्थात् तुम्हारे उपयुक्त स्थान विषयी लोग हैं, उन्हीं के पास जाओ। अब तो हम और प्रभु की प्रेम-वेदना रूपी दुःख ही चिरसंगी रहेंगे।

दोजख[6] तौ हम अंगिया, यहु[7] डर नाहीं मुज्झ[8]।
भिस्त न मेरे चाहिए,[9] बाझ[10] पियारे तुज्झ[11]॥ ७॥

शब्दार्थ—दोजख (फा० ) = नरक। अंगिया = अंगीकार किया। भिस्त = ( फा० बिहिश्त), स्वर्ग। बाझ = बाज, सिवाय।

व्याख्या—मुझे नरक स्वीकार है। इसका मुझे कुछ भी डर नहीं है। हे प्रभु! तुम्हारे सिवाय मुझे स्वर्ग भी नहीं चाहिए।

टिप्पणी—यहाँ बाझ = बाज, सिवाय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऐसे प्रयोग जायसी और तुलसी में भी मिलते हैं—

दीन दुःख दूरै को कृपावारिधि बाजि—तुलसी।

जो[12] यहु एकै जानिया, तौ जान्यां[13] सब जान[14]।
जो यहु[15] एक न जानियां,[16] तौ सबही जान अजान[17]॥ ८॥

शब्दार्थ—एकै = एक, परमतत्त्व। जानिया = जान लिया। जान = ज्ञान। अजान = न जानना।

व्याख्या—जिसने एक परमतत्त्व को जान लिया है, उसने सब ज्ञान प्राप्त कर लिया है। जो उस परमतत्त्व को नहीं जानता, उसका सब जानना, न जानने के बराबर है अर्थात् उसका सब ज्ञान अज्ञान के बराबर है।

---

१. ना० प्र०—कबीर। २. ना० प्र०—कों जाइ। ३. ना० प्र०—आया। ४. ना० प्र०—आपणं। ५. ना० प्र०—जाणों। ६. ना० प्र०—दो जग, यु० वि०—दोजख हमहि अंगेजिया। ७. यु०, वि०—या दुख, हनु०—सो। ८. ना० प्र०—मुझ। ९. यु०, वि०—मेरे भिस्त न चाहिए। १०. हनु०, यु०, वि०—बाँझि। ११. ना०प्र०—तुझ। १२. ति०—कबीर एकै जानिया, ना० प्र०—जो वो एकै जाणियाँ। १३. ना० प्र०—जांण्या, हनु०, वि०—जानो। १४. ना० प्र०—जाण। १५. ना० प्र०—वो। १६. ना० प्र०—जाणियां। १७. ना०प्र०—जांण अजांण।

कबीर[१] एक न जानियाँ,[२] ( तौ ) बहु जानै[३] क्या होइ ।
एकै तैं सब होत है, सब तैं एक न होइ ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—बहु जाने = बहुत जानने से ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जो उस एक, अद्वितीय और पूर्ण को नही जानता, उसका बहुत के जानने से क्या लाभ ? उस एक, पूर्ण से ही अन्य सबका अस्तित्व है, सबसे उस एक का अस्तित्व नही अर्थात् वह एक या पूर्ण अनेक या नाना का गणितीय योग नही है । वह उन सबसे अधिक और अतिवर्ती ( Transcendent ) है ।

जब लगि भगति सकामताँ, तब लग निर्फल सेव ।
कहै कबीर वै क्यूँ मिलैं, निहकामी निज देव ॥ १० ॥

शब्दार्थ—सकामताँ = कामना-युक्त । निहकामी = निष्कामी ।

व्याख्या—जब तक कोई किसी कामना से प्रभु की भक्ति करता है, तब तक उसकी सब सेवा, पूजा, अर्चना व्यर्थ है । जो प्रभु स्वरूप से निष्काम है, वह सकाम भक्ति से कैसे मिल सकता है ?

आसा[४] एक जु राम की[५], दूजी[६] आस निरास ।
पानी माँही[७] घर करैं, ते[८] भी मरैं पियास ॥ ११ ॥

व्याख्या—कबीर कहते है कि केवल एक राम की आशा करनी चाहिए, अन्य की आशा नैराश्य के बराबर है । जैसे सीप समुद्र में ( पानी में ) रहती है, फिर भी वह केवल स्वाति बूँद की आशा लगाए रहती है, समुद्र के जल से वह तृप्त नहीं होती; वैसे ही सच्चा भक्त संसार में रहते हुए भी संसार की किसी वस्तु से तृप्त नही होता, वह केवल प्रभु की भक्ति से ही तृप्त होता है ।

ति० वाली प्रति में इसके दूसरे चरण का पाठ इस प्रकार है—'जैसे सीप समंद मैं, नही स्वाति बिन प्यास' इसका अर्थ अधिक स्पष्ट है ।

टिप्पणी—तुलसीदास ने भी कहा है—

मोर दास कहाइ नर आसा ।
करै त कहहु कहाँ बिस्वासा ॥ ( मानस-७।४६-३ )

अर्थात् मेरा भक्त होकर भी मनुष्य से आशा लगाए तो फिर कहो उसका क्या विश्वास ?

अलंकार—निदर्शना ।

---

१ हनु, ति०—जो यह । २. ना० प्र०—जाँणियाँ । ३. ना० प्र०—जाँण्याँ । ४. हनु०—आशा तो एक नाम की । ५. ना० प्र०—को । ६. हनु०—दूजा । ७. ना० प्र०—पाणी माँहै, ति०—जैसे सीप समंद मै, नहीं स्वाति बिन प्यास । ८. हनु०—तो क्यों ।

जे[1] मन लागै एक सौं[2], तौ निरवाल्या[3] जाइ।
तूरा[4] दुइ मुख[5] बाजनां, न्याइ तमाचे[6] खाइ ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—निरवाल्या=निरवाल>निरवार, निस्तार, छुटकारा। तूरा=तुरही। न्याइ=न्याय, उचित।

टिप्पणी—इस साखी के अर्थ में टीकाकारों को बहुत भ्रम रहा है। 'तूरा दुइ मुख बाजनां' का अर्थ प्रायः लिया गया है कि तुरही दोनों ओर से बजाई जाती है और 'न्याइ तमाचे खाइ' का अर्थ लिया गया है—उसे हाथों से ठोका जाता है। किन्तु तुरही का दूसरा मुख इतना चौड़ा होता है कि वह उधर से बजाई ही नही जा सकती। कबीर ने इस साखी में साधक की सासारिक आसक्ति और ईश्वर-भक्ति दोनो की असंगति दिखाने के लिए दो तुरहियो को उपमान रूप में रखा है। साधक या मन के लिए मुख उपमान है, संसार और परमात्मा के लिए दो तुरही उपमान हैं। जैसे एक मुख से दो तुरहियाँ एक साथ नही बजाई जा सकती है, वैसे ही एक साथ एक मन से प्रभु-भक्ति और सासारिक आसक्ति दोनो नही चल सकती।

व्याख्या—यदि एक अर्थात् प्रभु से मन लगाया जाय तो साधक का निस्तार हो जाता है। संसार और प्रभु दोनो में एक साथ मन लगाना वैसे ही है, जैसे 'तूरा दुइ' अर्थात् दो तुरहियों को एक साथ मुख से बजाना। ऐसा करने वाला यदि तमाचा खाता है तो न्याय ( उचित ) ही है। संसार और ईश्वर दोनों में एक साथ चित्त लगाना दो नावो पर पैर रखने के समान है।

हनु० की प्रति में दूसरी पंक्ति का पाठ इस प्रकार है—'मांदर दोइ मुख बाजता, घना तमाचा खाइ'। यदि यह पाठ लिया जाय तो अर्थ बहुत सीधा और स्पष्ट हो जाता है। 'मांदर' मृदंग परिवार का एक वाद्य है। इसका प्राचीन नाम है—मर्दल। 'मर्दल' का अपभ्रंश है—मांदर। यह बहुत प्राचीन काल से लोक-वाद्य रहा है। और अब भी 'मांदल' के नाम से प्रसिद्ध है। यह पक्ष-वाद्य है, दोनों ओर इसका मुख अँगुलियो और चपेटे से बजाया जाता है। कबीर का कहना है कि यतः यह दो मुख का वाद्य है, इसीलिए घनी चोट खाता है। इसी प्रकार जो दो दिशाओं में अपना चित्त लगाते है, वे अपने लक्ष्य को नही प्राप्त होते, चारो ओर से धक्के खाते है और भ्रान्त होकर पीडित होते हैं।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास।

---

१. ति०—हनु०—यु०—जो। २. ना० प्र०—सूँ, हनु०—यु०—सो। ३. ति०—हनु०—यु०—निरवारा। ४. हनु०—मांदर दोय मुख बाजता। ५. ना० प्र०—मुखि बाजणां, यु०—मुख बाजतो। ६ हनु०—धना तमाचा, ति०—न्याइ तमाचा।

**कबीर[१] कलिजुग आइ करि, किये बहुत जो मीत[२]।**
**जिन दिल बाँधी[३] एक सौं[४], ते सुख सोवैं नचींत[५] ॥ १३ ॥**

शब्दार्थ—नचीत = निश्चित।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मनुष्य ने कलियुग में जन्म लेकर उसके प्रभाव से अनेक वस्तुओं में चित्त लगाया। जिसने एक प्रभु से चित्त लगाया, केवल वही निश्चिन्त होकर सुख से सो सकता है।

अलंकार—अन्योक्ति।

**कबीर कुत्ता[६] राम का, मोतिया[७] मेरा नाउँ।**
**गले राम[८] की जेवड़ी, जित खैंचे[९] तित जाउँ ॥ १४ ॥**

शब्दार्थ – जेवड़ी = रस्सी, जंजीर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैं राम का कुत्ता ( दास ) हूँ। मेरा नाम मोती ( मोतिया ) हैं। मेरे गले मे राम के प्रेम की रस्सी पड़ी हुई है। वह जिधर खीचते हैं, उधर जाता हूँ अर्थात् मैंने पूर्ण रूप से उनके प्रति समर्पण कर दि ा है और जैसी उनकी इच्छा होती है, वैसा ही करता हूँ।

टिप्पणी—'मोतिया' मोती का विकृत रूप है। मोती शब्द संस्कृत के 'मुक्ता' से निष्पन्न है। सम्भवतः इसमे कबीर ने यह संकेत किया है कि जो प्रभु के प्रति अपने को समर्पित कर देता है, वह मुक्ति का अधिकारी होता है।

**तो तो करै त बाहुड़ों,[१०] दुर दुर[११] करै तौ जाउँ।**
**ज्यौं[१२] हरि राखै त्यौं[१३] रहौं, जो देवै सो खाउँ ॥ १५ ॥**

शब्दार्थ—बाहुड़ों = लौट आता हूँ। जाउँ = लौट जाता हूँ।

व्याख्या—'तू' प्यार का शब्द है। यह ईश्वर तक के लिए प्रयुक्त होता है, जैसे—तू दयालु दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।' 'दुर' ध्वनिमूलक शब्द है, जो कि 'दूर होने' के लिए प्रयुक्त होता है।

प्रभु को इस कुत्ते ( दास ) ने अपने को पूर्ण रूप से समर्पित कर दिया है। वह अपनी कोई इच्छा नही रखता। यदि प्रभु प्रेम से अपने पास बुलाता है तो वह श्रद्धा से वहाँ जाता है और यदि वह उसे हटा देता है तो इसमें भी अपना कल्याण समझकर वह लौट जाता है। प्रभु जिस प्रकार से भी उसे रखते है, उसी में वह प्रसन्न होकर रहता है, जो कुछ भी वह उसे देते है, उसी को वह अपना भोग समझता है।

---

१. ति०-कबीर सुख न एहि जुग, करहिं जु बहुतै मीत। २ ना० प्र०-कीये बहुतज मीत। ३ ना० प्र०—बँधी, हनु०—बाँधा। ४ ना० प्र०—सूँ, हनु०-सो। ५ ति०—पावहिं नींत हनु०-सोवैं नींत। ६ ना० प्र०—कूता। ७ ना० प्र०—मुतिया। ८ हनु०—प्रेम। ९ हनु०—खींचे। १०. हनु०-बाहुरूँ ११ ना० प्र०—दुरि दुरि। १२. ना० प्र०-ज्यूँ। १३. ना० प्र०-त्यूँ।

मन परतीति न प्रेम रस, नाँ इस तन मैं ढंग।
क्या जानूँ[1] उस पीव सों,[2] कैसे रहसी रंग ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—परतीति = प्रतीति, जानकारी। ढंग = ढब, रीति। रहसी = रहेगा। रंग = उल्लास, आनन्द, उत्सव।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि न तो मुझे अपने प्रिय की पूरी जानकारी है, न मेरे भीतर प्रेम-रस का उन्मेष हुआ है और न मुझे इस शरीर से उनको प्रसन्न करने का ढंग ही ज्ञात है, तो फिर न जाने उस प्रिय से किस प्रकार मिलन के आनन्द का उत्सव होगा।

टिप्पणी—'परतीति' का अर्थ प्रायः टीकाकारों ने 'विश्वास' किया है। 'परतीति' का मुख्य अर्थ है—ज्ञान, जानकारी। उसका एक अर्थ 'विश्वास' भी होता है। किन्तु यह कहना कि कबीर को प्रभु में विश्वास नही था, उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। इसलिए यहाँ 'जानकारी' अर्थ ही समीचीन है।

उस[3] संम्रथ का दास हौं[4], कदे[5] न होइ अकाज।
पतिवरता[6] नाँगी[7] रहे, तौ उसहि पुरिस कौं लाज[8] ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—संम्रथ = समर्थ, जिसमें ऐसी क्षमता हो कि वह जो कहे, कर सके। कदे = ( सं० कदा ) कभी।

व्याख्या—मैं सर्वशक्तिमान प्रभु पर न्यौछावर हो चुका हूँ। इसलिए मुझे पूर्ण विश्वास है कि मुझे कभी अमंगल और आपत्ति का सामना नही करना पड़ेगा। जिस प्रकार एक पतिव्रता नारी, जो अपने पति में पूर्ण निष्ठा रखती है, उसे अपने को सुसज्जित करने की कोई चिन्ता नही रहती, यदि वह नंगी रहती है तो उसकी लाज उसके पति को ही होती है, उसी प्रकार जिस भक्त ने अपने को पूर्ण रूप से प्रभु को समर्पित कर दिया है, यदि वह प्रभु के साक्षात्कार से हीन है तो उसकी चिन्ता प्रभु को ही होगी। उसका कार्य इतना ही है कि वह प्रभु में पूर्ण निष्ठा रखे।

तुलनीय—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
—श्रीमद्भगवतगीता

अलंकार—दृष्टान्त।

घरि परमेसुर पाहुना,[9] सुनौ[10] सनेही दास।
षट रस भोजन भगति करि, ज्यूँ[11] कदे न छाड़ैं पास ॥ १८ ॥
—२१० ॥

---

१. ना० प्र०—जाणों। २. ना० प्र०—सूँ। ३ हनु०, यु०—मैं सेवक समरत्थ का। ४. ति०—हूँ। ५ ति०—हनु०, यु०—कबहूँ। ६. ना० प्र०—पतिव्रता। ७ हनु०, यु०—नंगी। ८. हनु०, यु०—वाही पति को लाज। ९ हनु०—परमेश्वर घर पाहुना। १०. ना० प्र०—सुणों। ११ हनु०—कबहूँ न।

शब्दार्थ—घरि = घर में ( प्र० अ० ) हृदय में। सनेही = प्रेमी। ज्यूँ = जिससे।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे प्रेमासक्त भक्तो ! तुम्हारे घर ( हृदय ) में परमेश्वर अतिथि रूप में विराजमान हैं। उन्हें भक्ति का पट्रस भोजन अर्पित करो जिससे वह कभी भी तुम्हारा साथ न छोड़ें।

टिप्पणी—राजस्थान में पति को 'पाहुणाँ' भी कहते हैं। पूरब में दामाद को, जो कि लड़की का पति है, 'पाहुन' कहते हैं। इस अंग का शीर्षक है—निहकर्मी पतिव्रता। अतः इस साखी में 'पाहुना' शब्द में पति की व्यञ्जना है। 'पति' शब्द का वास्तविक अर्थ है—पाति इति पतिः अर्थात् जो रक्षा करता है, वह पति है। हृदय में विद्यमान प्रभु जीव का सदा रक्षक है और जीव के प्रेम का अधिकारी है।

अलंकार—रूपक।

●

## (१२) चितावणी को अंग

कबीर[1] नौबति आपनी[2], दिन दस लेहु बजाइ।
ए[3] पुर पट्टन[4] ए[5] गली, बहुरि न देखहु[6] आइ ॥ १ ॥

शब्दार्थ—चितावणी = सचेत करने की क्रिया। नौबति = राजाओ, बादशाहों, अमीरो के द्वार पर मगल और वैभव-सूचक शहनाई और नगाड़े का वाद्य। ( ला०अ० ) वैभव का प्रदर्शन। पट्टन = ( सं० पत्तन ) नगर। बहुरि = फिर।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे जीवो ! चेत जाओ। जिस वैभव में तुम भूले हुए हो, वह केवल दस दिन का खेल है अर्थात् क्षणिक है। तुम्हारी मृत्यु अवश्यंभावी है। फिर इस पुर, नगर और गली को न देख सकोगे।

जिनके नौबति बाजती, मैंगल बँधते बारि।
एकै[7] हरि[8] के नाँव बिन,[9] गए जनम[10] सब हारि ॥ २ ॥

शब्दार्थ—मैंगल=मदकल, मतवाला हाथो। बारि=द्वार पर।

व्याख्या—जिनके द्वार पर वैभव-सूचक नगाड़े बजते थे और मस्त हाथी झूमते थे, उनका जीवन भी भगवान के नाम-स्मरण के अभाव मे सर्वथा व्यर्थ ही हो गया।

ढोल दमामा डुगडुगी[11], सहनाई औ[12] भेरि।
औसर चले[13] बजाइ करि, है कोइ लावै[14] फेरि ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—दमामा=धौंसा, बडा नक्कारा। डुगडुगी=डुग्गी, एक प्रकार का छोटा अवनत्थ ( चमड़ा मढ़ा हुआ ) वाद्य। भेरि=भेरी, यह मृदंग जाति की लगभग दो हाथ लम्बी, हाथ से बनी हुई दो मुख वाली होती है, जिसका एक मुख एक हाथ लम्बे व्यास का बना होता है। ये मुख चमड़े से मढ़े और डोरियो से कसे रहते हैं जिनमें काँसे के कडे पडे रहते है। इसे दाहिनी ओर लकड़ी से और बाँयी ओर हाथ से बजाते है। यह वर्णन 'संगीत रत्नाकर' और 'संगीत सार' मे मिलता है।

व्याख्या—इस जीवन में वैभव के प्रदर्शनकारी बाजे जैसे ढोल, धौंसा, डुगडुगी, शहनाई और भेरी विशेष-विशेष अवसरों पर बजाए जाते है। परन्तु जीवन इतना क्षण-भंगुर है कि जो अवसर बीत गया, उसे पुन: वापस नही लाया जा सकता है।

---

१ यु०-कबिरा। २. ना० प्र०—आपणी। ३. ति०—यहु, अन्य प्रतियों में-यह। ४. ना० प्र०-पटन। ५. अन्य प्रतियों में—यह। ६ ना० प्र०—देखै, अन्य प्रतियों में—देखौ। ७ ति०—एकहि। ८. वि०—गुरु। ९. वि०-नाउँ बिनु। १० ति०—जन्म। ११ ना० प्र०—दुड़बडी, ति०-गडगडी, वि०-यु०—दुरबरी। १२ ना० प्र०-संगि। १३. ना० प्र०-चल्या। १४. ना० प्र०-राखै।

'चले' में एक विचित्र व्यञ्जना है—वह अवसर भी बीत गया और जिनके लिए वह वाद्य बजता था, वे भी चले गए।

अलंकार—वक्रोक्ति।

**सातौं सबद जु बाजते, घरि घरि होते राग[1]।**
**ते मंदिर खाली पड़े, बैठन[2] लागे काग ॥ ४ ॥**

शब्दार्थ—सातौं सबद=सप्त स्वर।

व्याख्या—जिन मंदिरों और प्रासादों में सातों स्वर के बाजे बजते थे और नाना प्रकार के राग गाए जाते थे, वे आज रिक्त पड़े हुए हैं और उन पर कौए बैठते हैं। सांसारिक वैभव की यही क्षणभंगुरता है।

**कबीर थोड़ा जीवना[3], माड़ै बहुत मँड़ान[4]।**
**सबही ऊभा मेल्हि[5] गया, राव रंक सुलतान[6] ॥ ५ ॥**

शब्दार्थ—जीवना=जीवन के लिए। माड़ै=मंडित किया। मँडान=मंडप (ला० अ०) साज-सज्जा के आयोजन, बड़े-बड़े मंसूबे बाँधना। ऊभा = उठा, खडा। मेल्हि गया = मिट गया, नष्ट हो गया।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि अल्प जीवन के लिए मनुष्य बड़े-बड़े आयोजन करता है, किन्तु चाहे वह बहुत बड़ा राजा या सुलतान हो या साधारण, दरिद्र मनुष्य, सभी की बड़े उत्साह से निर्मित योजनाएँ ध्वस्त हो जाती हैं।

व्यञ्जना यह है कि राव-रंक भी जाते हैं और उनकी योजनाएँ भी नष्ट हो जाती हैं।

**इक दिन ऐसा होइगा, सब सौं[7] परै बिछोह।**
**राजा राना[8] छत्रपति[9], सावधान किन होइ[10] ॥ ६ ॥**

शब्दार्थ—बिछोह = वियोग। किन = क्यो नही।

व्याख्या—कबीर चेतावनी देते हैं कि चाहे कोई राजा, राणा या छत्रपति हो, सबके लिए एक ऐसा दिन आएगा, जब उसे संसार से सब कुछ त्यागकर जाना होगा। इसलिए हे मनुष्यो! जीवन रहते ही सावधान क्यो नही हो जाते?

**कबीर[11] पट्टन[12] कारिवाँ, पंच चोर दस द्वार।**
**जम[13] राना गढ़ भेलिसी[14], सुमिरि लेहु[15] करतार ॥ ७ ॥**

---

१ हनु०—जिन घर नौबति बजती, होत छत्तीसो राग। २. ना० प्र०—बैंसण। ३. ना० प्र०—जीवणाँ। ४. ना० प्र०—मडाण। ५ हनु०, यु०—पंथ सिर। ६. ना० प्र०—सुलितान। ७. ना० प्र०—सूँ पड़ै, यु०—से परै। ८ ना० प्र०—राणा। ९ हनु०, वि०—यु०—राव रंक। १० हनु०, वि०—यु०—सावध क्यों नहिं होय। ११ यु०—वि०—पुर पट्टन काया पुरी। १२ ना० प्र०—पटण। १३. ना० प्र०—जम राणौं, यु०—वि०—जम राजा। १४. हनु०—मेलसी। १५.ना० प्र०—लै।

शब्दार्थ—पट्टन = ( सं० पत्तन ) नगर । कारिवाँ = काफिला, सार्थवाह, सौदागरों का कबीला । पचचोर = पंचेन्द्रियाँ अथवा काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह । दस द्वार = दो नेत्र, दो कान, दो नासिका विवर, एक मुख, एक मलद्वार, एक मूत्र छिद्र, ब्रह्मरंध्र । भेलिसी ( राज० ) = नष्ट कर देगा, भेदेगा । करतार = स्रष्टा ।

व्याख्या—इस साखी में शरीर को पत्तन या नगर; सांसारिक व्यापार को सौदागरों का कबीला ( कारिवाँ ); काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह को पाँच चोर और शरीर के दस विवरों को दस द्वार बताया गया है । प्राचीन काल में सौदागरों का काफिला व्यापार के लिए चलता था और नगर में पहुँचने पर अपने को अधिक सुरक्षित समझता था । इसी रूपक के द्वारा कबीर यह कह रहे हैं कि इस शरीर को एक सुरक्षित स्थान समझकर सारा सासारिक व्यवहार या व्यापार टिका हुआ है । किन्तु यह पता नहीं कि इस शरीर रूपी नगर में पाँच चोर विद्यमान हैं और इसमें दस द्वार भी हैं । यह वैसा सुरक्षित और अभेद्य दुर्ग नहीं है, जैसा कि अज्ञानी जीवों ने समझ रखा है । इस दुर्ग पर ऊपर से यमराज का आक्रमण भी होगा और वह क्षणभर में इस गढ को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा । इसलिए हे जीवो ! स्रष्टा का स्मरण कर लो ।

अलंकार—रूपक ।

> कबीर कहा गरबियो,[१] इस जोवन की आस ।
> केसू[२] फूले दिवस दोइ[३], खंखर[४] भये पलास ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—केसू = (सं० किंशुक) टेसू, पलास का फूल । जोवन = यौवन, युवावस्था । खंखर = उजड़ा हुआ, इस संदर्भ में पत्तों और फूलों से रहित ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि इस जवानी के भरोसे पर गर्व करना व्यर्थ है । यह क्षणभंगुर है । किंशुक या टेसू के फूल के समान इसकी बहार थोड़े दिनों के लिए है । जैसे टेसू का फूल थोड़े ही दिनों में मुर्झा कर गिर जाता है, वैसे ही जवानी की प्रफुल्लता भी अल्पकालिक होती है । थोड़े दिनो के बाद जैसे पलाश पत्र-पुष्प-विहीन होकर ठूँठमात्र रह जाता है, वैसे ही यह शरीर भी यौवन-विहीन होकर कंकालमात्र रह जाता है ।

अलंकार—निदर्शना ।

> कबीर कहा गरबियो,[५] देही देखि सुरंग ।
> बीछड़ियाँ मिलिबो नहीं,[६] ज्यों काँचली भुवंग[७] ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—देही = शरीर । सुरंग = सुन्दर । बीछड़िया = बिछुड़ने पर । काँचली = केंचुल । भुवंग = भुजंग, सर्प ।

---

१. ति०, वि०—कबीर गरब न कीजियै । २. अन्य प्रतियों में—टेसू । ३ ना० प्र०—चारि, यु०—वि०—दस । ४. यु०—खरभर । ५ ति०—वि०—कबीर गरबु न कीजियै । ६. ति०—आजु काल्हि तजि जाहुगे, हनु०—वि०—बिछुड़े पै मेला नहीं, यु०—बीछट्या मिलसी नहीं । ७. हनु०, वि०—ज्यों केंचुली भुजंग ।

व्याख्या—कबीरदास कहते हैं कि इस सुन्दर शरीर को देखकर क्यो गर्व करते हो? निधन होने पर यह शरीर जीव को वैसे ही फिर नही मिल सकता, जैसे सर्प केंचुल को त्याग देने पर पुनः उसे धारण नही कर सकता।

अलंकार—उपमा।

**कबीर कहा गरबियौ,[१] ऊँचे[२] देखि अवास।**
**कालिह परौं[३] भुइं लोटना, ऊपरि जमिहै[४] घास॥ १०॥**

शब्दार्थ—अवास = आवास, महल। परौं = परसो।

व्याख्या—कबीरदास कहते हैं कि ऊँचे-ऊँचे महलो को देखकर क्यो गर्व करते हो? कल-परसों अर्थात् शीघ्र ही मरने पर जमीन के अन्दर लेटना होगा अर्थात् दफना दिए जाओगे और ऊपर घास जम जाएगी।

**कबीर कहा गरबियो,[५] चाँम[६] पलेटे हाड़[७]।**
**हैवर[८] ऊपरि छत्र सिरि,[९] ते[१०] भी देबा गाड़[११]॥ ११॥**

शब्दार्थ—पलेटे = लपेटे (वर्ण-विपर्यय)। हैवर = हयवर, श्रेष्ठ घोड़ा। देबा (राज०) = दिए जाएँगे।

व्याख्या—कबीरदास कहते हैं कि चमड़े से लपेटी हुई हड्डियों पर क्यों गर्व करते हो? जो लोग श्रेष्ठ घोड़ो पर चढ़ते हैं और जिनके सिरों पर छत्र लगते है, वे भी एक दिन मिट्टी में दफना दिए जाते है।

**कबीर[१२] कहा गरबियौ, काल गहे कर[१३] केस।**
**नाँ[१४] जानौं कहँ मारिहै, कै[१५] घर कै परदेस॥ १२॥**

व्याख्या—कबीरदास कहते है कि काल ने अपने हाथों से तुम्हारे केश को पकड़ रखा है। इसलिए तुम व्यर्थ में क्यो गर्व करते हो? वह तुम्हें न जाने कहाँ—घर हो या परदेश—मार डालेगा।

**ऐसा[१६] यहु संसार है, जैसा सैंबल[१७] फूल।**
**दिन दस के व्यौहार में,[१८] झूठै रंगि न भूल॥ १३॥**

---

१ ति०—वि०—कबीर गरबु न कीजियें। २ अन्य प्रतियों में—ऊँचा। ३ ना० प्र०—परशुँ भ्वैं लेटणाँ। ४ ना० प्र०—जामै, हनु०, वि०—जमसी। ५. ति०—वि०—कबीर गरबु न कीजियै। ६. हनु०, वि०—चाम लपेटी हाड। ७. ना० प्र०—हड्ड। ८. हनु०-वि०—इक दिन तेरा छत्र सिर, देगा काल उखाड। ९ ति०-तर। १० यु०-तऊ दीये खाड। ११. ना० प्र०-खड्ड। १२. ति०-वि० कबीर गरव न कीजियें। १३ हनु०-शिर। १४ ना० प्र०-नाँ जाणौं कहा मारिसी, यु०—ना जानौ कित मारसी। १५ हनु०, वि०—क्या घर क्या। १६ ना० प्र०—यहु ऐसा। १७. हनु०—मालति। १८. ना० प्र०—कौं, ति०—हैं।

शब्दार्थ—सैंवल = सेमर का फूल (प्र० अ०) निस्सार वस्तु।

व्याख्या—यह संसार सेमर के फूल के समान है, जो ऊपर से देखने में सुन्दर और आकर्षक प्रतीत होता है, किन्तु उसके भीतर कोई तत्त्व नहीं होता। अल्पकाल के जीवन और उसकी ऊपरी चटक-मटक के भुलावे में नहीं आना चाहिए।

अलंकार—उपमा।

जीवन मरन[1] विचारि करि, कूरे[2] काँम निवारि।
जिहिं[3] पंथा तोहि[4] चालनां, सोई पंथ सँवारि[5] ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—कूरे = क्रूर, निकृष्ट। काँम = कर्म। निवारि = छोड।

व्याख्या—कबीरदास कहते हैं कि जीवन-मरण का विचार कर अर्थात् यह समझ ले कि जीवन थोड़े दिन का है, अन्तत मरना है। इसलिए निकृष्ट कर्मों का परित्याग कर और जिस भक्ति मार्ग पर तुझे चलना है, उसे अभी से सुधार ले।

राखनहारे बाहिरा,[6] चिड़ियें[7] खाया खेत।
आधा परधा[8] ऊबरै, चेति सकै तौ चेति ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—बाहिरा = बाहर ही बाहर। चिड़ियै = पक्षी (प्र० अ०) विषय-वासना। खेत = (प्र० अ०) जीवन। आधा-परधा = (अर्ध-अपरार्ध) आधा की पुनरावृत्ति।

व्याख्या—तेरे आध्यात्मिक जीवन-क्षेत्र का रक्षक बाहर ही बाहर है अर्थात् तुझे कोई सद्गुरु नहीं मिला और ऊपर से विषय-वासना रूपी पक्षी तेरे खेत को खाए जा रहे हैं। तू अब भी सँभल जा और थोड़ा-बहुत जो बचा सके, उसे बचा ले अर्थात् अब भी आध्यात्मिक जीवन को बाहरी आक्रमणों से सुरक्षित कर ले।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

हाड़ जरैं ज्यों[9] लाकड़ी, केस जरैं ज्यों[10] घास।
सब तन[11] जलता देखि करि, भया[12] कबीर उदास ॥ १६ ॥

व्याख्या—मृत्यु के उपरान्त हड्डियाँ लकड़ी के समान जलती हैं और केश घास के समान। सारे शरीर को जलता देखकर कबीर को संसार से विराग हो गया।

अलंकार—उपमा।

---

१. ना० प्र०—जामण मरण, ति०—जांमन मरन विचारि कै, हनु०—जनमे मरन, यु०—जनम मरन। २. ना० प्र०—कूड़े, यु०—कोरे। ३. ना० प्र०—जिनि पथू। ४. ना० प्र०—तुझ चालणाँ। ५ यु०—सँभारि। ६. ना० प्र०—बिन रखवाले बाहिरा, यु०—बिन रखवारे बाहरी, वि०—वर रखवाले बाहिरा। ७. वि०—यु०—चिड़िया। ८. ना० प्र०—प्रधा। ९. ना० प्र०—जलैं ज्यूँ। १०. ना० प्र०—जलैं ज्यूँ। ११. अन्य प्रतियों में—जग। १२. हनु—वि०—भये।

**कबीर मंदिर[1] ढहि पड़ा[2], इंट[3] भई सैवार[4] ।**
**कोई चेजारा चिनि गया,[5] मिला[6] न दूजी बार ॥ १७ ॥**

शब्दार्थ—सैवार=( सं०-शैवाल ) इस संदर्भ में घास-फूस । चेजारा = कारीगर, चुनने वाला । चिनि गया =चुन गया, बना गया ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि यह मंदिर ढह गया और इसकी ईंटो पर सेवार जम गया । किसी अद्‌भुत कारीगर ने इसका निर्माण किया था । दूसरी बार ऐसा सुन्दर मंदिर बनाने वाला न मिल सका ।

यह साखी प्रतीकात्मक है । मंदिर शरीर है, ईंट हाड़-माँस है, कारीगर ईश्वर ह । इस पूरे अंग की प्रत्येक साखी में कबीर ने शरीर की क्षणभंगुरता की ओर संकेत किया है और यही चेतावनी दी है कि इस शरीर के मोह को छोड़ो और प्रभु का स्मरण करो । प्रस्तुत साखी में भी वह कहते है कि किसी अद्‌भुत स्रष्टा ने इस सुन्दर शरीर को बनाया है, किन्तु एक दिन वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है और उसकी हड्डियों पर, जहाँ वह दफनाया जाता है, घास-फूस जम जाती है । उसका निर्माता उसी शरीर को फिर बनाने के लिए नही मिलता ।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति ।

**कबीर देवल ढहि पड़ा[7], इंट भई सैवार[8] ।**
**करि[9] चिजारा सौं प्रीतिड़ी, ज्यूँ[10] ढहै न दूजी बार ॥ १८ ॥**

शब्दार्थ—प्रीतिडी = प्रेम ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि यह शरीर रूपी देवालय ध्वस्त हो गया और इसकी ईंटों पर घास-फूस जम गई अर्थात् शरीर का मांस और हड्डियाँ जो दफनाई गई थीं, उन पर अब घास-फूस दिखलाई देती है । हे जीव ! तू इसके निर्माता प्रभु से प्रेम कर, जिससे दूसरी बार इस देवालय के ढहने का अवसर ही न आए अर्थात् दूसरी बार शरीर धारण करने का प्रश्न ही न उठे । तू जन्म-मरण के संसरण से सर्वदा के लिए मुक्त हो जाए ।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति ।

**कबीर मंदिर लाख[11] का, जड़िया हीरैं लालि ।**
**दिवस चारि का पेखनाँ,[12] बिनसि जाइगा काल्हि[13] ॥ १९ ॥**

---

१. हनु०, वि०—देवल । २. ना० प्र०—पड्या । ३. ना० प्र०—सँट । ४ हनु०, वि०—संहार । ५. हनु० वि०—कोई चिजारा चूनिया । ६. ना० प्र०—मिल्या । ७. ना० प्र०—पडा । ८ हनु०, वि०-यु०—रही संवारि । ९ हनु०, वि०—यु०-करी ।चजारा प्रतडी । १०. हनु०—'ज्यूँ' नहीं है । ११. ना० प्र०—लाप । ११. यु०—देखना, ना० प्र०-पेपणा । १३. हनु०, वि०—यु०-काल ।

कहा कियो[1] हम[2] आइ करि, कहा कहैंगे[3] जाइ।
इतके भये न उत[4] के, चाले मूल गँवाइ ॥ २५ ॥

व्याख्या—जीव को पछतावा हो रहा है कि इस संसार में आकर हमने क्या किया, इस विषय में यहाँ से जाने के बाद प्रभु के सामने हम क्या कहेंगे ? हम न तो इस लोक के हुए, न परलोक के। हमने अपना मूलधन ( नैसर्गिक सरलता ) भी गँवा दिया।

तुलनीय—

कौने ढंग से सजन घर जैबै हो राम !
तन की चुनरिया धुमिल मोरि होइ गई,
साईं के काव दिखैबै हो राम।
खेलि खेलि नैहर में खेई दिन,
साईं को काव बतैबै हो राम ॥
( कबीर )

आया अनआया[5] भया, जे बहु राता[6] संसार।
पड़ा भुलावा[7] गाफिलाँ, गये कुबुद्धी[8] हारि ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—अनआया = न आने के बराबर। बहु राता = अत्यधिक अनुरक्त। कुबुद्धी= कुबुद्धि के कारण।

व्याख्या—इस संसार में आने का मुख्य उद्देश्य है—जीवन का विकास और उन्मेष। परन्तु जीव संसार के विषयों में इतना अनुरक्त हो जाता है कि उसका संसार में आना न आने के बराबर है अर्थात् संसार में जन्म लेकर उसे जो सीखना था, उसे वह न सीख सका। इसलिए उसका जीवन व्यर्थ हो जाता है। भुलावे में पड़कर वह गाफिल हो गया। सांसारिक विषयों के चाकचिक्य में वह अपनी नैसर्गिक आत्मीय चेतना खो बैठता है और अपनी कुबुद्धि के कारण जीवन की बाजी हार जाता है।

कबीर हरि की भगति बिन, ध्रिग जीवन[9] संसार।
धूँवाँ केरा धौलहर, जात न लागै बार ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—ध्रिग = धृक्, धिक्कार। धौलहर = धवलगृह, महल। बार = विलम्ब।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मानव जीवन पाकर यदि किसी ने प्रभु की भक्ति नहीं की, तो ऐसे जीवन को धिक्कार है। जिस प्रकार धुएँ का महल देखने में तो बहुत स्वच्छ

---

१. ना० प्र०—कीयो। २. हनु०—तुम आय के, गु०—हम आय के। ३. हनु०—करोगे। ४ अन्य प्रतियों में—ऊत के। ५. ना० प्र०—अणआया। ६ ना० प्र०—बहुरता, हनु०—जब राता। ७ ना० प्र०—पड़्या भुलावाँ। ८. ना० प्र०—कुबुधी। ९. ना० प्र०—जीमण, गुप्त—जीवण।

लगता है, किन्तु वह सर्वथा निस्सार होता है, वैसे ही मानव-जीवन चाहे और सब बातों में कितना सुन्दर क्यों न हो, किन्तु प्रभु-भक्ति के बिना सर्वथा सारहीन है।

अलंकार—दृष्टान्त।

**जिहि हरि[1] की चोरी करी, गये राम गुन[2] भूलि।**
**ते बिधना बागुल[3] रचे, रहे अरध[4] मुखि झूलि॥ २८॥**

व्याख्या—इस साखी में प्रायः 'ते विधना वागुल रचे' पाठ मिलता है। 'बागुल' का अर्थ 'बगुला' होता है। इसी अर्थ को अधिकतर टीकाकारों ने लिया है। किन्तु इसकी संगति 'रहे अरध मुखि झूलि' से नही बैठती। प्रायः लोगो ने इसका अर्थ किया है कि बगुले सिर नीचे लटकाये रहते हैं। परन्तु कबीर का मुख्य आशय है कि ऐसे मनुष्यों की उल्टी प्रवृत्ति होती है, यह व्यञ्जना 'सिर नीचा करने में' स्पष्ट नही होती। दूसरे 'झूलि' शब्द भी स्पष्ट बतलाता है कि वे अधोमुख लटके या झूलते रहते है। यदि 'बागुल' पाठ लिया जाय, तब इस साखी का यही अर्थ होगा—

जो प्रभु के भजन से जी चुराते हैं और राम के गुणो को भूल जाते हैं, उन्हे ब्रह्मा ने बगुले के रूप मे बनाया है जो कि मछली की खोज मे नीचे सिर लटकाये रहते है।

परन्तु 'बागुल' के स्थान पर यदि 'गादुर' पाठ लिया जाय तो इसका भाव अधिक सुन्दर और स्पष्ट हो जायगा। तब दूसरी पंक्ति का अर्थ होगा—उनको ईश्वर ने चमगादड़ के समान बनाया है, जो मुख नीचे किये हुए झूलते रहते है अर्थात् उनकी प्रवृत्ति उलटी हो गयी है। वे संसार में रत है और प्रभु से विरत। नीचे से संसार की व्यञ्जना है और ऊपर से ईश्वर की।

अलंकार—गम्योत्प्रेक्षा।

**माटी[5] मलनि[6] कुँभार की, घनी सहै सिरि लात[7]।**
**इहि औसरि चेत्या[8] नहीं, चूका अबकी घात[9]॥ २९॥**

शब्दार्थ—मलनि = मिलाना, गूँथना, रौंदना। सिरि = सिर पर। औसरि = अवसर में। घात = दाँव।

व्याख्या—जिस प्रकार मिट्टी को आकार ग्रहण में कुम्हार द्वारा रौंदने की क्रिया में अनेक लातें सहनी पड़ती है, उसी प्रकार जीव को संसार में रूप ग्रहण करने मे काल और कर्मों की अनेक यातनाएँ सहनी पड़ती है। परन्तु वह इस सांसारिक रूप मे इतना

---

१ त्रि०—गुरु। २ ना० प्र०—राम गुणि, वि०—नाम गुन। ३ वि०, यु०—बागल, हनु०—दादुर स्यो। ४. यु०—उरध। ५ हनु०, वि० में पंक्तियों का क्रम उल्टा है। ६ ना० प्र०—मलणि, हनु०, त्रि०—मिलत। ७ हनु०, त्रि०—बहुत सहैगो लात। ८. हनु०, वि०—चेत्यो। ९ हनु०, त्रि०—चूक्यो मोटी बात।

मोहित रहता है कि वह प्रभु की ओर प्रवृत्त होकर संसार से मुक्त नही होना चाहता। यद्यपि उसे जीवन में केवल दु.ख ही सहन करना पड़ता है, क्षणिक सुख भी अन्ततः दु ख मे परिणत हो जाता है। फिर भी वह उसी में रत रहता है। मानव-जीवन ही एक ऐसा अवसर है जब वह अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। यदि वह इस अवसर में नही चेतता तो अपना दाँव सर्वथा के लिए चूक जाता है और उसे मुक्ति की प्राप्ति कठिन हो जाती है।

**इहि औसरि चेत्या नहीं,[1] पसु ज्यों[2] पाली देह।**
**राम नाम जाना[3] नहीं, अंत परी मुख खेह[4] ॥ ३० ॥**

शब्दार्थ—खेह = मिट्टी, धूल।

व्याख्या—इस मानव-जीवन रूपी सुन्दर अवसर को पाकर भी यदि तूने परमार्थ के विषय मे नही सोचा और पशुओ के समान केवल देह को पालने में लगा रहा; आहार निद्रा, भय, मैथुन आदि मे ही प्रवृत्त रहा और राम-नाम के महत्त्व को नही पहचाना तो अन्त मे तुझे नष्ट होकर मिट्टी मे मिल जाना होगा।

अलंकार—उपमा।

**राम नाम जाना[5] नहीं, लागी मोटी खोरि[6]।**
**काया हांडी काठ की, ना ऊँ[7] चढ़ै बहोरि[8] ॥ ३१ ॥**

शब्दार्थ—खोरि = दोप। बहोरि = पुन.।

व्याख्या—मानव शरीर पाकर यदि राम-नाम की ओर जीव प्रवृत्त नही हुआ, उसके महत्त्व को नही पहचाना तो यह जीवन ही सर्वथा दोषपूर्ण हो जायेगा अर्थात् व्यर्थ हो जायेगा। यह शरीर काठ की हाँड़ी के समान है जो कि आग पर सिर्फ एक बार ही चढ सकती है अर्थात् एक बार प्राण निकल जाने पर पुनः जीवन का संचार नही हो सकता। साधना के लिए फिर शरीर न मिलेगा, इसलिए हे जीव! इसी जीवन में शरीर रहते ही साधना मे प्रवृत्त हो जा।

अलंकार—रूपक।

**राम नाम जाना[9] नहीं, बात बिनंठी[10] मूलि।**
**हरत[11] इहाँ ही हारिया, परति पड़ी मुखि धूलि[11] ॥ ३२ ॥**

---

१. यु०—इस औसरि चेता नहीं। २ ना० प्र०—ज्यूँ। ३ ना० प्र०–जाण्या। ४ ना० प्र०–अति पडी मुख पेह। ५ ना० प्र०--जाण्यौं ६ ना० प्र०–पोडि। ७ यु०, हनु०--नह। ८ ना० प्र०–बहोडि। ९. ना० प्र०--जाण्यां। १०. यु०--बिनूठी मूल, हनु०, वि०--बिनूठी मूल। ११ यु०–हरि सा हितू बिसारिया, अंत परी मुख धूल, वि०--हरि सा हितू बिसारिया, हनु०–हेरत इहाहि हारिया।

शब्दार्थ—विनंठी = विनष्ट । मूलि = जड़ से । परति = पर्त, तह ।

व्याख्या—हे जीव ! तूने रामनाम के महत्त्व को नही जाना तो फिर प्रारम्भ में ही बात विगड़ गयी । तू इस संसार में धन, यश, कामिनी, कंचन, कादम्बिनी आदि का हरण करता रहा । परन्तु इस हरण करने में तू अपने को ही खो बैठा । तेरा मानव जीवन ही नष्ट हो गया और अन्त में तेरे मुख मे धूल की पर्तें जमा हो गईं अर्थात् तू मिट्टी में मिल गया ।

टिप्पणी—इस साखी में 'हरति इहाँ ही हारिया' में सुन्दर व्यञ्जना है । मानव सबका हरण करने चला था, किन्तु उसने अपने को ही हरा दिया ।

राम नाम जाना[1] नहीं, पाल्यो[2] कटक[3] कुटुम्ब ।
धंधा ही में मरि गया,[4] बाहर हुई न बंब[5] ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—कटक = सेना । बंब = रणनाद ( ला० अ० ) यशोगान । बाहर हुई न = प्रकाशित न हुई ।

व्याख्या—हे जीव ! तूने रामनाम नही जाना और अपना सारा जीवन एक सेना के समान बड़े कुटुम्ब के पालने में ही लगा दिया । सांसारिक धंधो में ही विनष्ट हो गया और तेरा यशोगान, तेरी कीर्ति प्रकाशित न हो सकी ।

मानुष[6] जनम दुलभ है, होइ[7] न बारंबार ।
पाका फल जो गिरि परा,[8] बहुरि न लागै डार ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—मानुष = मनुष्य का ।

व्याख्या—यह मानव जन्म दुर्लभ है । मानव शरीर बार-बार नही मिलता । एक बार जब फल वृक्ष से गिर पड़ता है, तब वह फल शाखा से पुनः नही जुड़ सकता, वैसे ही एक बार मानव शरीर के पतन हो जाने पर वह पुनः नही प्राप्त हो सकता । इसलिए इस सुन्दर अवसर को न चूक । इस शरीर के रहते हुए साधना मे लग जा ।

अलंकार—दृष्टान्त ।

कबीर हरि की भगति करि, तजि विषिया[9] रस चौज ।
बार बार नहिं पाइए, मनिषा जन्म[10] की मौज ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—चौज = वह चमत्कारपूर्ण उक्ति जिससे विनोद होता है । ( ला० अ० ) आनन्द, आस्वाद ।

---

१. ना० प्र०—जाण्यां । २. तिवारी—पाला । ३. यु०, वि०—सकल । ४. यु०, वि०—पचि मरा, हनु०-वहि गया । ५. हनु०—भई न बुंब । ६. ना० प्र०—मनिषा । ७. ना० प्र०-देह । ८. ना० प्र०—तरवर थैं फल झड़ि पड्या, यु०—तरवर से पत्ता झरैं, हनु०-तरवर पात जु झरि परैं । ९ तिवारी—विखिया । १०. तिवारी—मनिखा जनम ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे जीव ! मानव जन्म का उल्लासपूर्ण शुभ अवसर बार-बार नहीं मिलता। इसलिए इस जन्म को पाकर विषय-रस के चमत्कार और आस्वाद को छोड़कर तू प्रभु की भक्ति करता रह।

कबीर यहु तन जात है, सकै तो ठौर लगाय[1]।
कै सेवा करि साधु[2] की, कै गोविंद गुन गाय[3] ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—ठौर लगाइ = ठिकाने लगाना।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि यह मानव शरीर नश्वर है। इसलिए हे जीव ! इसके रहते हुए तू इस जीवन को ठिकाने लगा ले अर्थात् इसका सदुपयोग कर ले। तू या तो सन्तों की सेवा कर अथवा गोविन्द के गुणगान से अपने जीवन को सार्थक बना।

कबीर यहु तन जात है, सकै तो लेहु बहोरि[4]।
नांगे[5] हाथौं ते गए, जिनके लाख करोरि[6] ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ—लेहु बहोरि = लौटा ले। नांगे = नंगे, खाली।

व्याख्या—इस साखी में 'सकै तो लेहु बहोरि' का सीधा अर्थ यही प्रतीत होता है कि 'हो सके तो ऐसा सत्कर्म कर कि फिर तुझे मानव जन्म मिल सके जिससे तू साधना कर सके।' किन्तु कबीर ने नीचे जो कुछ कहा है उससे इसकी संगति नहीं बैठती। इसमें एक विशेष व्यञ्जना प्रतीत होती है। अतः इस साखी का निम्नलिखित अर्थ लेना ठीक होगा—

कबीर कहते हैं कि हे जीव ! यह तेरा मानव शरीर व्यर्थ में नष्ट हो रहा है। यह आकर्षक विषयों, सम्पत्ति के संग्रह आदि में विनष्ट हो रहा है। हो सके तो इसको इन क्षणिक सुखों और प्रलोभनों से बचा ले, लौटा ले, क्योंकि सम्पत्ति-संग्रह से तेरा कोई लाभ न होगा। जिन्होंने लाखों-करोड़ों कमाया, वे भी इस संसार से बिल्कुल खाली हाथ चले गये।

तुलनीय—

इकट्ठे गर जहाँ जर सभी मुल्कों के माली थे।
सिकन्दर जब चला दुनिया से दोनों हाथ खाली थे ॥

यह तन[7] काचा कुंभ है, चोट चहूँ दिसि खाइ।
एक[8] राम के नाँव बिन, जदि[9] तदि परलै[10] जाइ ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ—जदि तदि = ( सं०—यदा-तदा ) जब तब, कभी-न-कभी, चाहे जब।

---

१. ना० प्र०–ठाहर लाइ, हनु०, त्रि०—ठौर लगाव। २ ना० प्र०—साध। ३. ना० प्र०–कै गुण गोव्यिंद क गाइ, यु०–कै हरि के गुन गाय, हनु०–कै गोविंद गुण गाव, बि०–कै गुरु के गुन गाव। ४ ना० प्र०–बहोड़ि। ५ ना० प्र०–नांगे हाथूँ, यु०–खाली हाथे सो गये। ६ ना० प्र०–करोड़ि। ७. ना० प्र०–तनु। ८. हनु०, यु०–एकहि हरि। ९. हनु०–जब तब परलै। १०. ना० प्र०–प्रलै।

व्याख्या—यह शरीर कच्चे घड़े के समान है। जिस प्रकार कच्चे घड़े को कुम्भकार के अनेक थपेड़े सहन करना पड़ता है, उसी प्रकार मनुष्य को जीवन में नाना प्रकार की यातनाओं को सहन करना पड़ता है। उसे किसी ओर भी शान्ति के लिए सहारा नहीं मिलता। यदि कोई आश्रय या अवलम्ब है तो वह है—राम नाम। इसलिए हे जीव! तू उसी में अपना चित्त लगा, क्योंकि तेरे जीवन का कोई ठिकाना नहीं है, वह चाहे जब विनाश को प्राप्त हो सकता है।

अलंकार—विनोक्ति।

**यह तन काचा कुंभ है, लियाँ फिरै था साथि।**
**ठपका[1] लागा फुटि[2] गया, कछू न आया हाथि॥ ३९॥**

शब्दार्थ—ठपका = धक्का, ठेस।

व्याख्या—यह शरीर, जिसे तू बडे गर्व के साथ लिये घूम रहा है, कच्चे घड़े के समान है, जो जरा-सी ठेस या धक्का लगने से फूट जाता है और फिर कुछ भी हाथ नहीं आता। तेरा शरीर भी वैसा ही नश्वर है। इसका कोई ठिकाना नहीं।

**काँची कारी जिनि करै, दिन दिन बधै बियाधि।**
**राम कबीरै रुचि भई, याही ओषदि साधि॥ ४०॥**

शब्दार्थ—काँची कारी (मुहावरा) = टालमटोल करना। बधै = बढ़ना। बियाधि = रोग।

व्याख्या—हे जीव! तू टालमटोल मत कर। तेरी भव-व्याधि दिन-प्रतिदिन बढती जा रही है। कबीर को राम के प्रति अनुराग हो गया है, जिससे यह उसे तग नहीं कर पाती। हे जीव! तू भी इसी औषध का अपने बचाव के लिए प्रयोग कर।

तुलनीय—

एक व्याधि बस नर मरहिं, ये असाधि बहु व्याधि।
पीड़हिं संतत जीव कहुँ, सो किमि लहइ समाधि॥ १२१॥
(मानस-उत्तरकाण्ड)

**कबीर अपने जीव तैं, ए दोइ बातैं धोइ।**
**लोभ[3] बड़ाई कारनैं[4], अछता मूल न खोइ॥ ४१॥**

शब्दार्थ—अछता = (i) (सं० अक्षत) अखण्ड आत्मा। (ii) विद्यमान या रहते हुए। मूल = मूलधन, पूँजी।

---

१. ना० प्र०—डबका, हनु०-ठनका। २. ना० प्र०—फूटि। ३ तिवारी—लाभ। ४. ना० प्र०—कारणें।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे जीव ! अपने मन से तुम दो बातों को निकाल फेंको—एक तो लोभ, दूसरे आत्म-प्रशंसा की तृष्णा। 'अछता' शब्द के दो अर्थ हैं—( i ) विद्यमान या रहते हुए, ( ii ) अक्षत या अखण्ड। पहले अर्थ की दृष्टि से साखी के दूसरे चरण का तात्पर्य होगा कि इन दोनों दोषों के कारण अपने पास विद्यमान आत्मा रूपी पूँजी को मत खोओ। इसमें दूसरी व्यञ्जना यह है कि अपने अखण्ड आत्मा रूपी पूँजी को मत खोओ।

अलंकार—'अछता' शब्द में श्लेष।

**खंभा एक गयंद[1] दोइ, क्यों[2] करि बंधसि[3] बारि।**
**मानि करै तौ पिउ[4] नहीं, पीव तौ मानि निवारि ॥ ४२ ॥**

शब्दार्थ—गयंद = गजेन्द्र, हाथी। बारि = द्वार पर। मानि = अहंभाव। निवारि = निकाल।

व्याख्या—खम्भा एक ही है और हाथी दो हैं। दोनों हाथियों को एक साथ एक खम्भे से अपने द्वार पर तू कैसे बाँध सकेगा ? हे जीव ! ठीक इसी प्रकार मन तो केवल एक है और उसमें तू दो हाथियों–अहंभाव और प्रिय-प्रेम-को एक साथ ही बाँधना चाहता है। यह कैसे सम्भव है ? यदि तू अहंभाव में रहता है तो उसके साथ प्रिय नहीं रह सकते। यदि तू प्रिय अर्थात् प्रभु को रखना चाहता है तो मान को निकालना पड़ेगा।

अलंकार—अन्योक्ति, अर्थान्तरन्यास।

**दीन गँवाया[5] दुनी सौं, दुनी[6] न चाली साथि।**
**पाइ[7] कुहाड़ा मारिया, गाफिल[8] अपनैं[9] हाथि ॥ ४३ ॥**

शब्दार्थ—दीन = धर्म। दुनी सौं = दुनिया के साथ। कुहाड़ा = कुल्हाड़ी। गाफिल = असावधान। हाथि = हाथ में।

व्याख्या—हे जीव ! तुमने सांसारिक मोह में अपना धर्म या कर्तव्य खो दिया, परन्तु वह दुनिया जिसके लिए तुमने अपना धर्म खो दिया, तेरे साथ न गयी। तू इतना असावधान है कि अपने ही हाथो अपने पैर में तूने कुल्हाड़ी मार लिया है अर्थात् अपने मोह से तूने स्वयं अपना जीवन नष्ट कर लिया है।

अलंकार—लोकोक्ति।

**यह तन तौ सब बन भया,[10] करम[11] जु भए कुहारि[12]।**
**आप आपकौं[13] काटिहैं, कहैं कबीर बिचारि ॥ ४४ ॥**

---

१. ना० प्र०—गइंद। २. ना० प्र०—क्यूँ। ३. ना० प्र०–बंधिसि। ४. ना० प्र०–पीव। ५ हनु०, वि—गँवायो दूनि संग। ६. हनु०–दुनिया लागि न साथि। ७. तिवारी—पाँव कुहाडी, हनु०, वि०–पाँव कुल्हारी। ८. वि०—मूरख। ९. ना० प्र०—अपणैं। १०. तिवारी, हनु०, यु०—कबीर यह तन बन भया। ११. ना० प्र०—करम भए। १२. ना० प्र०— कुहाड़ि, हनु०—कुल्हार। १३. ना० प्र०—आपकूँ, हनु०, यु०—आपको।

शब्दार्थ—कुहारि = कुल्हाड़ी ।

व्याख्या—यह शरीर वन के समान है और कर्म कुल्हाड़ी बन गये । कबीर विचार कर कहते हैं कि हे जीव ! तू अपने ही कर्म रूपी कुल्हाड़ी से अपने जीवन रूपी वन को काट रहा हैं अर्थात् नष्ट कर रहा है ।

अलंकार—रूपक ।

**कुल खोये[1] कुल ऊबरै, कुल राखे[2] कुल जाइ ।**
**राम निकुल कुल[3] भेंटि लै, सब कुल रहा[4] समाइ ॥ ४५ ॥**

शब्दार्थ—कुल = कुटुम्ब, ससीम इष्ट । कुल = समग्र, पूर्ण, ब्रह्म । निकुल = कुलहीन, सीमाहीन, असीम । भेंटि लै = समर्पण कर दे । ऊबरै = बचता है ।

व्याख्या—जो केवल ससीम, कुटुम्ब, वंश आदि के मोह में पड़ा रहता है, वह वास्तविक कुल अर्थात् पूर्ण, ब्रह्म या भूमा को खो देता है । ससीम, कुटुम्ब, वंश आदि के मोह को त्याग देने पर ही असीम, पूर्ण बचता है अर्थात् उसकी उपलब्धि होती है । कुटुम्ब आदि ससीम के मोह में पड़े रहने से पूर्ण या सर्वस्व की प्राप्ति नही हो पाती है । राम निकुल हैं अर्थात् वह कुटुम्ब आदि सीमाओ में परिसीमित नही है । उसी में तू वंश आदि ससीम का समर्पण कर दे । उसी मे ससीम समाया हुआ है अर्थात् वह सब में व्याप्त हैं ।

टिप्पणी—इस साखी में 'निकुल' राम का विशेषण है । यदि 'निकुल' को क्रिया-विशेषण के रूप में लिया जाय तो अर्थ होगा—निकुल होकर अर्थात् कुल की सीमाओ को छोड़कर तू कुल को राम में समर्पित कर दे ।

अलंकार—यमक, विरोधाभास ।

**दुनियाँ के धोखै मुवा, चलै जु कुल की कांनि[5] ।**
**तब कुल किसका लाजसी,[6] जब ले धरहिं मसांनि[7] ॥ ४६ ॥**

शब्दार्थ—कांनि = मर्यादा । लाजसी = लज्जित होगा । मसानि = श्मशान ।

व्याख्या—हे जीव ! तू कुल की मर्यादा-वृद्धि में पड़ा रहता है । इसी कारण जगत् के भुलावे में मारा जाता है । जब तुझे लोग श्मशान में लिटा देगे, तब किसका कुल लज्जित होगा ? अर्थात् किसके कुल की प्रतिष्ठा का प्रश्न रह जायगा ? भाव यह है कि जिस कुल की गौरव-वृद्धि में तू पड़ा रहता है, उससे तेरा सम्बन्ध ही छूट जायगा । फिर किस कुल की लज्जा का प्रश्न रह जायेगा ?

अलंकार—वक्रोक्ति ।

---

१. ना० प्र०—खोयाँ । २ ना० प्र०—राख्याँ । ३ तिवारी—जब मेटिया, हनु०, वि०—कुल मेंटिया । ४. ना० प्र०–रह्या, हनु०, वि०–गया विलाय ५ तिवारी—चालत कुल की कांनि, वि०, यु०–चला कुटुम्ब की कांनि । ६. वि० यु०—तब कुल को क्या लाज है । ७. ना० प्र०–धर्‍या मसांणि, वि०, यु०–धरा मसानि ।

दुनियाँ भाँड़ा दुख का, भरी मुहाँमुह भूष[1]।
अदया[2] अल्लह राम की, कुरलै कौनी कूष[3] ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ—भाँडा = पात्र। भूष = तृष्णा, चाह। मुहाँमुह = लबालब। अदया = दया के बिना। कुरलै = चिल्लाना। कूष = कोष, खजाना।

व्याख्या—यतः संसार तृष्णा से लबालब भरे हुए पात्र के समान है। अतः यह दुःख का भाण्डार है। इसमें पूर्ण तृप्ति के लिए खोज करना व्यर्थ है। अल्लाह या राम की दया के बिना यह तृष्णा समाप्त नही हो सकती। हे जीव! जब सारा संसार एक अतृप्त वासना का भाण्डार है तो ऐसे संसार में किस कोष या खजाने के लिए चीखता रहता है?

जिहि जेवरी[4] जग बंधिया[5], तू जिनि[6] बंधै कबीर।
ह्वैसी[7] आटा लोन[8] ज्यौं, सोना सवां सरीर[9] ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ—जेवरी = रस्सी। ह्वैसी = हो जायेगा। लोन = लवण, नमक। सवां = समान।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जिस माया की रज्जु से जगत् बँधा हुआ है, तू उसमें मत फँस। यदि तू उसमे फँसता है तो तेरा यह सोने के समान बहुमूल्य शरीर अर्थात् मानव जीवन का व्यक्तित्व वैसे ही हो जायेगा जैसे आटा में नमक अर्थात् जिस प्रकार आटा मे नमक मिलाने पर इस प्रकार घुल-मिल जाता है कि उससे पृथक् नही किया जा सकता, वैसे ही हे जीव! माया में लिप्त हो जाने पर तेरा सारा व्यक्तित्व उससे पृथक् न हो पायेगा। तू मुक्त न हो सकेगा।

अलंकार—उपमा, रूपकातिशयोक्ति।

कहत सुनत जग जात है, विषय[10] न सूझै काल।
कबीर[11] प्यालै प्रेम कै, भरि भरि पिवै रसाल ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ—जग = संसार के लोग। जात है = नष्ट हो रहे है। रसाल = मधुर।

व्याख्या—उपदेशो को कहते और सुनते हुए संसार के लोगों का जीवन समाप्त होता जाता है। विषय मे पड़े हुए उन्हे काल की सुधि नही रहती। वे विषय का प्याला पीते रहते है और उसी में भूले रहते है। उन्हें यह नही सूझता कि जो शरीर और इन्द्रियाँ विषय-भोग कर रही हैं, वे शीघ्र ही काल के गाल में चली जायँगी। किन्तु कबीर जैसे सन्त विषय के प्याले को मुख से नही लगाते। वे मधुर, प्रेम से परिपूर्ण प्याले को छक-छककर पीते है।

अलंकार—रूपक।

---

१. हनु०, वि०, यु०—मूख। २. हनु०, वि०—आदी अल्लह। ३. ना० प्र०—कुरहै ऊँणी कूप। ४. ना० प्र०—जेवड़ी। ५ हनु०, यु०—बँधा। ६ हनु०, यु०—मति। ७ तिवारी—जैहहि आटा लौंन ज्यों, हनु०, यु०—जैसे आटा लोन बिन। ८ ना० प्र०—लूँण ज्यूँ। ९. हनु०, यु०—सूता हुआ सरीर। १० ना० प्र०—विषै। ११ हनु०, वि०, यु०—कहै कबीर सुन प्रानिया, साहिब नाम सम्हाल।

**कबीर हद के जीव सौं[१], हित करि मुखाँ न बोलि।**
**जे राचे[२] बेहद्द सौं[३], तिन सौं[४] अंतर खोलि ॥ ५० ॥**

शब्दार्थ—हद के जीव सौ = ससीम में फँसे लोगो से। हित करि = प्रेमपूर्वक। मुखाँ = मुख से। राचे = अनुरक्त। वेहद्द = असीम। अतर खोलि = हृदय खोलकर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि ससीम में फँसे हुए लोगों के संग से तुम दूर रहो। उनसे अधिक प्रेम की वाणी न बोलो, अन्यथा तुम भी उनकी बातो में फँस जाओगे। जो साधक असीम में अनुरक्त है, उन्हीं से तुम अपने हृदय की बात कहो। उन्हीं का सत्संग करो और उन्हीं की बातो पर चलो।

**कबीर[५] केवल राम की, तूँ जिनि[६] छाड़ै ओट।**
**घन अहरन बिच लोह ज्यौं,[७] घनी[८] सहै सिरि चोट ॥ ५१ ॥**

शब्दार्थ—ओट = अवलम्ब, आश्रय। घन = हथौडा। अहरन = निहाई। सिरि = सिर पर।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे जीव! तू केवल प्रभु की शरण में जा, केवल उसी को अपना अवलम्ब बना। वही तुझको सब दुःखो से छुटकारा दिला सकता है, अन्यथा जैसे निहाई पर रखा हुआ लोहा हथौड़े की चोट से पीटा जाता है, वैसे ही तुझे सिर पर सासारिक दुःखो की चोट सहनी पड़ेगी।

अलंकार—उदाहरण।

**कबीर केवल राम कह[९], सुद्ध[१०] गरीबी झालि।**
**कूर[११] बड़ाई बूड़सी, भारी पड़सी कालि[१२] ॥ ५२ ॥**

शब्दार्थ—झालि = झेलकर। कूर = व्यर्थ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे जीव! तू अपनी सीधी गरीबी को झेलते हुए केवल प्रभु का स्मरण कर। व्यर्थ का बड़प्पन नष्ट हो जायेगा और भविष्य में यह तुझे बहुत मँहगा पडेगा। तू उसके बोझ से दब जायेगा।

**काया मंजन क्या करै, कपड़ा[१३] धोइम धोइ।**
**ऊजर भए न छूटिए,[१४] सुख नींदरी[१५] न सोइ ॥ ५३ ॥**

---

१ ना० प्र०—सूँ। २. ना० प्र०—लागे। ३ ना० प्र०—सूँ। ४. ना० प्र०—सूँ। ५. वि०—कबीर सतगुरु सरन की, जों कोइ छाडै ओट। ६. हनु०, यु०—तू मति। ७. ना० प्र०—घण अहरणि विचि लोह ज्यूँ। ८ ना०प्र०—घणीं। ९ ना०प्र०—कहि। १०. ना०प्र०—सुध। ११. ना० प्र०—कूड, हनु०—कूल। १२. ना० प्र०—कालिह। १३. ना० प्र०—कपड। १४. ना० प्र०—उजल हूवा न छूटिये, विचार०—ऊजल होय न छूटसी, युगला०—उज्जल हुआ न छूटिये। १५ ना० प्र०—नींदडी, विचार०—निंदरि।

शब्दार्थ—मंजन = स्नान। धोइम धोइ=धो-धोकर। ऊजर = उज्ज्वल, स्वच्छ। न छूटिए = छुटकारा नही पाएगा, मुक्त नही होगा।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे जीव! तूने स्वच्छता के वास्तविक मर्म को नही समझा है। तू समझता है कि शरीर और वस्त्रों की सफाई से ही स्वच्छ हो जाएगा। किन्तु वास्तविक स्वच्छता मन की है। तू शरीर और कपड़ों को धोकर स्वच्छता का व्यर्थ आडम्बर करता है। काया और वस्त्र के स्वच्छ होने से तू मुक्त नही होगा, केवल मन की स्वच्छता से ही मुक्त होगा। इसलिए वाह्य स्वच्छता को वास्तविक स्वच्छता समझते हुए निश्चिन्त होकर मत रह। सदा आन्तरिक परिष्कार का प्रयास करता रह।

**ऊजल कपड़ा पहिरि करि,[1] पान सुपारी खाँहि।**
**एकै हरि का नाँव बिन,[2] बाँधे[3] जमपुरि जाँहि॥ ५४॥**

शब्दार्थ—एकै = केवल।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि लोग प्राय. श्वेत वस्त्र धारण करते हैं और अपने मुख को सुशोभित करने के लिए पान-सुपारी आदि का प्रयोग करते है। किन्तु प्रभु के भजन के विना इस वाह्य सजावट से काम नही चलेगा। केवल हरि-स्मरण से ही मुक्ति होगी। काल के पाश में बँधे हुए ऐसे लोग अन्त में यमपुर जाते है और उन्हें नरक की यातना भोगनी पड़ती है।

अलंकार—विनोक्ति।

**तेरा[4] संगी कोइ नहीं, सब स्वारथ बँधी लोइ[5]।**
**मन परतीति न ऊपजै, जीव बेसास[6] न होइ॥ ५५॥**

शब्दार्थ—लोइ = लोग। परितीति=प्रतीति। वेसास = विश्वास।

व्याख्या—हे जीव! तेरा कोई वास्तविक साथी नही है। सब लोग अपने-अपने स्वार्थ में बँधे हुए हैं। किन्तु तू ऐसा अज्ञानी है कि इस कटु सत्य के प्रति तेरे मन में प्रतीति नही होती और न तेरे हृदय में विश्वास जमता है। कोई भी तेरे साथ न जाएगा। तू अपना मार्ग स्वयं खोज।

**माँइ बिड़ाँणी[7] बाप बिड़, हम भी मंझि बिड़ाँह[8]।**
**दरिया केरी नाँव ज्यो[9], सँजोगे मिलि जाँहि[10]॥ ५६॥**

शब्दार्थ—बिड़ाँणी = बिरानी, वेगाना, पराया, गैर। बिड़ = पराया। बिड़ाँह = पराए।

---

१. विचार०-युगला०—ऊजल पहिने कपडा। २. विचार०—कबीर गुरु की भक्ति बिन। ३.विचार०—युगला०—बाँधा। ४ हनु०—विचार०—युगला०—मेरा। ५. हनु०-विचार०—सबै स्वारथी लोय। ६ तिवारी०— जिय वेसास, हनु०-विचार०—जिय विस्वास। ७. हनु०—बिडानीं। ८ हनु०—मांझ बिड़ाहिं ९ ना० प्र०—ज्यूँ। १०. ना० प्र०—याँह।

व्याख्या—संसार में सारे सम्बन्ध क्षणिक और संयोगजनक हैं। इनको तू अपना नित्य न समझ। केवल तेरा आत्मस्वरूप ही सदा तेरा हैं। माँ भी पराई है, पिता भी पराया है और हम सब भी पराए लोगों के बीच में ही हैं। इनमे से कोई अपना निजी व्यक्ति नहीं है। संसार में हम लोग उसी प्रकार संयोगवश मिल जाते हैं जैसे भिन्न-भिन्न स्थानो से आई हुई नौकाएँ समुद्र या नदी में संयोगवश मिल जाती हैं।

इसमें दूसरी व्यञ्जना यह भी है कि 'नौका' थल की वस्तु है और 'दरिया' जल है। केवल संयोगवशात् दोनों एकत्र हो जाते हैं।

'सँजोगे' शब्द में श्लेष का चमत्कार है। इसका एक अर्थ है—अकस्मात् और दूसरा अर्थ है—मिल जाने से।

अलंकार—उपमा, श्लेष।

**इत पर[1] घर उत[2] घर, बनिजन[3] आए हाट।**
**करम किरानाँ[4] बेचि करि, उठि करि चाले बाट[5]॥ ५७॥**

शब्दार्थ—पर घर = पराया घर, संसार। बनिजन = वाणिज्य। हाट = बाजार। किरानाँ = सौदा। बाट = मार्ग।

व्याख्या—यह संसार जीव का नैसर्गिक धाम नहीं है। वास्तविक धाम तो केशव-धाम है, जहाँ से हम आए हैं। संसार एक बाजार के समान है, जहाँ पर लोग वाणिज्य के लिए आते हैं और अपना कर्म रूपी सौदा बेंचकर अपने-अपने मार्ग पर चले जाते हैं। इसलिए हे जीव ! तू संसार को अपना वास्तविक धाम न समझ। प्रभु ही तेरा वास्तविक शाश्वत धाम है।

अलंकार—रूपक, रूपकातिशयोक्ति।

**नाँन्हाँ काती चित्त दे,[6] महँगे मोलि बिकाइ।**
**गाहक राजा राम हैं, और न नेड़ा आइ[7]॥ ५८॥**

शब्दार्थ—नान्हाँ = महीन। काती = कताई। नेड़ा = नियरा, निकट।

व्याख्या—हे जीव ! तू मन लगाकर सूक्ष्म कताई कर, क्योकि बारीक सूत महँगे दामो पर बिकता है अर्थात् तू शुभ कर्म कर। उसका ही बड़ा मूल्य होगा और उसके ग्राहक कोई सांसारिक राजा नही, स्वयं प्रभु होंगे। कोई दूसरा तेरे निकट नही आएगा। इस माल को कोई दूसरा न खरीद सकेगा। तू उसी प्रभु के लिए अपने शुभ कर्मो के द्वारा सुन्दर माल तैयार कर। वही तेरा उचित मूल्य देगा।

अलंकार—'दे' शब्द में देहरीदीपक, अन्योक्ति।

---

१. ना० प्र०—प्रघर, हनु०—परघर। २ युगला०—हनु०-वि०—उत है घरा। ३. ना० प्र०—वणजण। ४. ना० प्र०—किराणाँ। ५. ना० प्र०—उठि ज लागे बाट। ६. युगला०—करि तू चित्त दे, हनु०—विचार०—काती चित्त दै। ७. यु०-हनु०-विचार०—नीरा जाय।

डागल ऊपरि[1] दौरनां, सुख नींदड़ी[2] न सोइ।
पुन्नैं पाए द्यौहड़े,[3] ओछी ठौर न खोइ॥ ५९॥

शब्दार्थ—डागल = ऊबड़-खावड़ भूमि। द्यौहड़े = देवालय (ला० अ०) शरीर, ओछी=क्षुद्र।

व्याख्या—हे जीव ! यह मानव जीवन पुष्पो की शय्या नही है। यह ऊबड-खावड कंटकाकीर्ण मार्ग पर दौडने के समान है। अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए तुझे कठिन साधना करनी पडेगी। क्षुद्र सासारिक सुखो में लिप्त होकर तू सुख की नीद न सो। तुझे कठिन साधना करनी है। बड़े शुभ कर्मो और पुण्य के प्रताप से तुझे देवालय के समान यह पवित्र मानव शरीर प्राप्त हुआ है। इसे तुच्छ कार्यो में लगाकर तू नष्ट न कर। सासारिक माया जाल में तू इसका उपयोग न कर। इसके द्वारा तू साधना करके प्रभु को प्राप्त करने का प्रयत्न कर।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

मैं मैं बड़ी बलाइ है, सकै तौ निकसो भागि[4]।
कब लग राखौं हे सखी[5], रुई पलेटी[6] आगि॥ ६०॥

शब्दार्थ—मैं मैं=अहं बुद्धि। बलाइ=बला, रोग। पलेटी = लपेटी (वर्ण विपर्यय)।

व्याख्या—अहं बुद्धि, आपा बहुत बड़ा रोग है। इसलिए तू उससे भाग निकलने का प्रयत्न कर अर्थात् तू उससे ऊपर उठ जा, क्योंकि 'मैं मैं' से लिप्त बुद्धि आग से लिपटी हुई रुई के समान है, जो तेरे सारे जीवन को नष्ट कर देगी। जिस प्रकार आग से सयुक्त रुई बचाई नही जा सकती, उसी प्रकार अहं बुद्धि से लिप्त इस जीवन को हे सखी ! कब तक बचाया जा सकेगा ?

अलंकार—दृष्टान्त।

मै मैं मेरी जिनि करै,[7] मेरी मूल विनास[8]।
मेरी पग का पैखड़ा[9], मेरी गल की पास[10]॥ ६१॥

शब्दार्थ—मैं=अहंभाव। मेरी=ममत्व। पैखड़ा=नैकड़ा, बेड़ी, बंधन। पास= (सं० पाश) बंधन।

व्याख्या—हे जीव ! तू अहंभाव और ममत्व से दूर रह। अहंभाव और मेरापन तेरे जीवन के मूल को ही नष्ट कर डालेगा। मेरेपन का भाव पैरों की बेड़ी है और गले की फाँसी है। जिस प्रकार पैरों में बेड़ी पहनने से मनुष्य आगे नही चल सकता, उसी

---

१. ना० प्र०—ऊपरि दौड़णां, हनु०—ऊपर दौरना। २. तिवारी०—नीदरी, हनु०—निन्दरि नहिं। ३. तिवारी०—पुन्नै पाया देहरे हनु०—पुन्नै पाया देहरा। ४. ना०प्र०—निकसी भाजि, तिवारी०—नीकासि भागि, हनु०—विचार०—निकसु भागि। ५. अन्य प्रतियो में—राम जी। ६ हनु०—विचार०—लपेटी। ७. हनु०—तिवारी०—यु०—मै मेरी तू जनि करै। ८. हनु०—वि०—यु०—विनासि। ९. ना० प्र०—पैंषड़ा। १०. हनु०—वि०—यु०—फाँसि।

प्रकार ममत्व के बंधन से मनुष्य आध्यात्मिक जीवन में प्रगति नही कर सकता। जिस प्रकार गले में फाँस पड़ने से मनुष्य जीवन खो बैठता है, उसी प्रकार आपा और मेरेपन का भाव आध्यात्मिक जीवन को ही नष्ट कर देता है।

अलंकार—उल्लेख।

> कबीर नाव जरजरी,[1] कूड़े[2] खेवनहार[3]।
> हलके हलके तिरि गए,[4] बूड़े जिन[5] सिर भार॥ ६२॥
> —२७२॥

शब्दार्थ—नाव=( प्र० अ० ) जीवन। जरजरी=जर्जर, जीर्ण, झांझर। कूड़े=वास पतवार, ( ला० अ० ) निकम्मा, अज्ञानी। खेवनहार = नाविक। कूड़े खेवनहार = ( प्र० अ० ) वासना और अहंभावयुक्त मन।

व्याख्या—कबीर कहते है कि भव-सागर से पार जाने के लिए यह प्राण, मनयुक्त मानव तन एक नाव के समान है। यह ऐसी नाव है जो कि एक तो जर्जर हो चुकी है अर्थात् इसमें मोह, मद, राग, द्वेष आदि के छिद्र हो गए है, दूसरे इसका नाविक वासना और अहंभावयुक्त अज्ञानी मन है जो कि सर्वथा कूड़ा या निकम्मा है। ऐसी नाव से जीवन-यात्रा कैसे पूरी हो सकती है। थोड़े से भी प्रलोभन आदि प्रभञ्जन के झोको से यह डूब जानेवाली है। जिन लोगो ने भक्ति और साधना से अपनी वासना और अहंभाव को तिलाञ्जलि देकर अपने को हलका कर लिया है, वे ही इस भव-सागर को पार कर सकते है और जिनके सिर पर अहंभाव, वासना आदि का बोझ लदा हुआ है, वे तो निश्चय ही इस भव-सागर में डूब मरेंगे।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति, अन्योक्ति।

---

१ हनु०—नाव तो झाँझरी, वि०—वेडा जरजरा। २. यु०—कूरा। ३. ना०-प्र०- खेवणहार। ४. यु०-हलका हलका तरि गया, वि०-हरुये हरुये तरि गए। ५. ना० प्र०-तिनि।

**कबीर[1] मारूँ मन कौं[2], टूक टूक ह्वै जाइ।**
**बिष की क्यारी बोइ करि[3], लुनत[4] कहा पछिताइ॥ ५॥**

शब्दार्थ—लुनत=काटते हुए।

व्याख्या—उपनिषदों के अनुसार मन के दो विशेप भेद होते हैं–अशुद्ध मन जो काम-सम्पृक्त होता है और शुद्ध मन जो काम-विवर्जित होता है :—

मनस्तु द्विविध प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।
अशुद्धं कामसम्पृक्तं शुद्धं कामविवर्जितम्॥

—मैत्री उपनिषद्

कबीर ने 'मन को अंग' में जो चेतावनी दी है, वह अशुद्ध मन के लिए है। इसी अशुद्ध मन को लक्ष्य करके कबीर इस साखी में कहते हैं कि हे दुष्ट मन! तूने विपय-वासना रूपी विप को क्यारी बोई है। अब उसके फल काटने में क्यों पछताता है? जब तक तेरा साम्राज्य रहेगा, तब तक तू विप-बीज वपन करता रहेगा और उसके विनाशकारी फल को भोगता रहेगा। अतः यह आवश्यक है कि मैं तुझे इस प्रकार मारूँ कि तू सर्वथा छिन्न-भिन्न हो जाय।

'मारने' का भाव यह है कि अशुद्ध मन को साधना द्वारा इस प्रकार रूपान्तरित कर दिया जाय कि उसकी वासना-विप बोने की शक्ति क्षीण हो जाय और इस प्रकार की प्रवृत्ति समाप्त हो जाय।

अलंकार—दृष्टान्त।

**इस[5] मन कौं बिसमल करौं[6], दीठा करौं[7] अदीठ।**
**जे सिर राखौं आपनाँ[8], तौ[9] पर सिरि ज अँगीठ[10]॥ ६॥**

शब्दार्थ—बिसमल = फा०—बिसमिल) आहत, क्षत, घायल। दीठा = देखा गया, दृष्ट। अदीठ = अदृष्ट।

व्याख्या—इस साखी में 'दीठा करौं अदीठ' का अन्वय दो प्रकार से हो सकता है (i) अदीठ दीठा करौं, (ii) दीठा अदीठ करौं। यदि पहला अन्वय लिया जाय तो अर्थ होगा—अदृष्ट परमात्मा की अनुभूति प्राप्त करूँ। यदि दूसरा अन्वय लिया जाय तो अर्थ होगा—दृष्ट को अदृष्ट करूँ अर्थात् इन्द्रियो की विषयोन्मुखता को पलट दूं। मैं अशुद्ध मन को सर्वरूपेण इस प्रकार आहत-क्षत कर दूं कि अदृष्ट परमात्मा की

---

१ हनु०—मन को मारो पटकि के, गु०, त्रि०—मन को मारूँ पटकि करि। २ ना० प्र०—कूँ। ३ हनु०, त्रि०—के०। ४ ना० प्र०—लुणत, हनु०, त्रि०, गु०—लुनता क्यों। ५—गु०—या, हनु०, त्रि०—यह। ६. गु०, वि०—करूँ, हनु०—करो। ७. गु०, वि०—करूँ, हनु०—करो। ८ ना०-प्र०—आपणा। ९ गु०, वि०—पर सिर जलौं अँगीठ, हनु०—पर शिर लाव अँगीठ। १०. गुप्त—सिरि जलौं अँगीठ।

अनुभूति होने लग जाय अथवा जो इन्द्रिय-मार्ग द्वारा मन की विषय-भोग की ओर दौड़ लगाने की प्रवृत्ति है, वह सर्वरूपेण प्रत्यावर्तित हो जाय। यदि मैं अपना सिर रखूँ अर्थात् मैं आपापन को पूर्ण रूप से न्यौछावर न कर दूँ तो फिर मेरे सिर पर अँगीठी पड़े अर्थात् मेरे ऊपर अँगारे दहकाए जाएँ।

**सोरठा—मन जानै[1] सब बात, जानत[2] ही औगुन करै।**
**काहे की कुसलात, कर[3] दीपक कूँवै पड़ै[4] ॥ ७ ॥**

व्याख्या—यद्यपि मन उपदेश और परिवेश के प्रभाव से अवगुणो को समझता है, फिर भी वह अवगुण करता है अर्थात् कुमार्ग में प्रवृत्त होता है। यदि हाथ में दीपक लिये हुए भी कोई कुएँ में गिर पड़े तो फिर उसका क्या कुशल ?

टिप्पणी—इस साखी में एक बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक तथ्य निहित है। समस्या यह है कि यदि मन यह जानता है कि कोई वस्तु अनुपादेय है, अनिष्ट है तो फिर उसकी ओर प्रवृत्त क्यो होता है ? इसी समस्या को भगवद्गीता में अर्जुन ने भगवान कृष्ण के सम्मुख रखा था:—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पुरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ( ३।३६ )

'हे कृष्ण ! न चाहते हुए भी पुरुष किसके द्वारा बलपूर्वक प्रेरित होकर पाप करता है ?'

भगवान कृष्ण का उत्तर है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥ ( ३।३७ )

'रजोगुण से उत्पन्न काम और क्रोध ही उसे पाप में प्रवृत्त करता है। ये काम और क्रोध सर्वभोगी और महापापी हैं। इनको जीवन का वैरी समझो।'

मन सत्त्व-रजस्-तमस्-युक्त त्रिगुणात्मिका प्रकृति का ही एक रूप है। अशुद्ध मन में रजोगुण का आधिक्य और प्राबल्य होता है। इसीलिए भगवान कृष्ण ने कहा—'रजोगुण समुद्भवः।' इसीलिए वह काम की ओर प्रवृत्त होता है। ज्यो-ज्यो सत्त्व की मात्रा अधिक होती जाती है, त्यों-त्यो मन शुद्ध होता जाता है। मन जानते हुए भी काम की ओर इसीलिए प्रवृत्त होता है, क्योकि रजोगुण का प्राबल्य उसके सत्त्व को दबाए रहता है। साधना का रहस्य यही कि रजोगुण धीरे-धीरे क्षीण किया जाय और सत्त्व का उद्रेक किया जाय।

अलंकार—वक्रोक्ति, अर्थान्तरन्यास।

---

१. ना० प्र०—जाणै। २. ना० प्र०—जाणँत, हनु०, विचार०—जानि बूझि। ३ हनु०, विचार०, युगला०—लै ४. हनु०, विचार०, युगला०—परै।

हिरदा भीतरि[1] आरसी, मुख देखा नहिं[2] जाइ।
मुख तौ तबही[3] देखिए, (जे)[4] मन की दुविधा जाइ॥ ८॥

शब्दार्थ—आरसी = दर्पण। देखिए = देख सकता है। दुविधा = दो ओर जाना, डाँवाडोल, चंचलता।

व्याख्या—अपने भीतर ही एक दर्पण है जिसमें आत्मस्वरूप प्रतिबिम्बित होता है। यह दर्पण मन या चित्त है। मन या चित्त चंचल रहता है अर्थात् जब उसमें दुविधा रहती है,—कभी एक ओर जाता है तो कभी दूसरी ओर—तब उसमें आत्मस्वरूप प्रतिबिम्बित नही हो सकता। चित्त प्रकृतिजन्य होने के कारण त्रिगुणात्मक ( सत्त्व, रजस्, तमस् ) है। जब उसका सत्त्वगुण रजस् और तमस् से अभिभूत रहता है, तब वह 'क्षिप्त' कहलाता है, वही चित्त सत्त्वगुण और रजोगुण की न्यूनता होने पर जब तमोगुण से अनुविद्ध होता है, तब वह 'मूढ' कहलाता है और जब वह आवरण स्वभाववाले तमोगुण की क्षीणता से एवं सत्त्वगुण के विकास से रजोगुण के लेशमात्र से अनुबिद्ध होता है, तब वह 'विक्षिप्त' कहलाता है। वही चित्त जब रजोगुण के लेशमात्र से भी रहित हो जाता है, तब वह 'एकाग्र' कहलाता है। आत्मस्वरूप केवल 'एकाग्र' अथवा 'निरुद्ध' मन मे ही प्रतिबिम्बित हो सकता है। इसी तथ्य को कबीर ने इस साखी में प्रतिपादित किया है। साखी का भावार्थ निम्नलिखित है:—

हृदय के भीतर ही दर्पण है, किन्तु फिर भी आत्मस्वरूप के सुन्दर मुख को देखा नही जा सकता। वह मुख तो तभी देखा जा सकता है, जब चित्त अथवा मन की चंचलता समाप्त हो जाय।

अलंकार—विशेषोक्ति।

मन दीयां[5] मन पाइए, मन बिन मन[6] नहिं होइ।
मन उनमन उस[7] अंड ज्यों, अनल[8] अकासाँ जोइ॥ ९॥

भूमिका—इस साखी मे तीन बातो को ध्यान मे रखना आवश्यक है—(१) पहले चरण में मन को दो अर्थो मे लिया गया है—(क) मनुष्य का साधारण मन, (ख) उच्च-स्तरीय 'वह मन' ( उन्मन ) अर्थात् भागवती चेतना ( Divine mind ), (२) दूसरे चरण में जो 'उन्मन' शब्द आया है, वह 'उद्‌गतं मनः यस्या अवस्थाया' के अर्थ मे योगशास्त्र में प्रयुक्त होता है। इसका भाव यह है कि मन के कई स्तर होते है—एक तो मानव का सामान्य मन होता है, जो विषयो की ओर प्रवृत्त रहता है, दूसरा 'उन्मन' अथवा उद्‌गत मन या उच्चस्तरीय मन होता है, जो कि दिव्य है। वह विषयो में अनुरक्त

---

१. हनु०—हृदया भीतर। २ ना० प्र०—देषणा न। ३ ना० प्र०—तौपरि। ४. हनु०—'जे' नहीं है। ५ हनु०—दीये, वि०—दीजै। ६. हनु० विचार०—मान। ७. हनु०, वि०—ता अड ज्यों। ८. हनु०, वि०—अलल।

नही होता। कबीर ने संस्कृत के 'उद्‌गत मन' के अर्थ में 'उन्मन' को न लेकर इसी अवस्था को अपने ढंग से 'उन्मन' शब्द द्वारा उनके मन अर्थात् 'भागवत मन' के लिए प्रयुक्त किया है। दोनों भावों में कोई अन्तर नही है, केवल व्युत्पत्ति में अन्तर है। (३) तीसरी बात यह है कि यहाँ 'अनल' शब्द का अर्थ 'अग्नि' या विद्युत् नही है। अग्नि या विद्युत् की संगति 'उस अंड' से बिल्कुल नही बैठती। 'अनल' शब्द 'अनलपक्ष' का संकेतक है। 'अनलपक्ष' उस चिड़िया को कहते हैं जो सदा आकाश में उड़ा करती है और वही अंडा देती है। इसका अंडा पृथ्वी पर गिरने से पहले पककर फूट जाता है और बच्चा अंडे से निकलकर उड़ता हुआ अपने माँ-बाप से जा मिलता है। (हिन्दी शब्द-सागर भाग—१, पृष्ठ १९२) कही-कही 'अनल' का विकृत पाठ 'अलल' भी मिलता है। यही पाठ 'हनु०' और 'वि०' में भी मिलता है।

दूसरे चरण का अन्वय इस प्रकार होगा—

'मन उनमन उस अंड ज्यों, जोइ अकासाँ अनल'

शब्दार्थ—उनमन = उनका मन, भागवती चेतना, दिव्य मन। अनल = अनल पक्षी। अकासाँ = आकाश में। जोइ = जो।

व्याख्या—पहले चरण में एक तथ्य को दो प्रकार से कहा गया है—पूर्वार्ध में सकारात्मक ढंग से और उत्तरार्ध मे नकारात्मक ढंग से। अपना मन प्रभु को समर्पित करने से ही 'उनका मन' अर्थात् भागवती चेतना की प्राप्ति होती है। बिना इस मन को समर्पित किए—'मन बिन', वह मन नही प्राप्त हो सकता—'मन नहिं होइ।'

जब मन उनके मन में लीन हो जाता है अर्थात् भागवती चेतना में रूपान्तरित हो जाता है, तब वह आकाश में उड़नेवाले अनल पक्षी के उस अंडे के समान हो जाता है, जो धरती पर नही गिरता, आकाश मे ही उससे बच्चा निकलकर ऊपर उड जाता है। तात्पर्य यह है कि मन प्रभु के मन से मिल जाने पर फिर संसार की ओर प्रवृत्त नही होता। वह आकाश की ओर अर्थात् उच्चतर अवस्था की ओर प्रवृत्त होता है।

अलंकार—यमक, उपमा।

**मन गोरख मन गोविंद[१], मन ही औघड़[२] होइ।**
**जो मन राखै जतन करि, तौ आपै करता सोइ॥ १०॥**

शब्दार्थ—गोरख = नाथपंथ के प्रसिद्ध सिद्ध योगी, मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य। औघड़= आहार-विहार में शुचि-अशुचि को समभाव से ग्रहण करनेवाला अघोरपंथी साधु। करता = स्रष्टा।

व्याख्या—मनुष्य के विकास में परमोत्कृष्ट साधन मन है। इसी मन के द्वारा मानव गोरख के समान सिद्ध योगी हो सकता है, परमात्मा के परमपद को प्राप्त कर सकता है

१. ना० प्र०—गोविंदौ, गुप्त—गोब्यंदो। २. औषधि।

और शुचि-अशुचि के द्वन्द्व से भी परे हो सकता है। यदि मन को कोई यत्नपूर्वक नियन्त्रित करे तो वह अपना स्रष्टा बन सकता है अर्थात् वह जीवन में जितना चाहे ऊँचा उठ सकता है।

अलंकार—उल्लेख।

एक दोस्त जो[1] हम किया, जिस गलि[2] लाल कबाइ।
सब जग धोबी धोइ[3] मरै, तौ[4] भी रंग न जाइ॥ ११॥

शब्दार्थ—गलि = गले मे। कबाइ = ( कबा-अरबी ) चोगा, एक लम्बा ढीला पहनावा।

व्याख्या—'मन एव मनुष्याणा कारणं बंधमोक्षयोः'—मन ही मनुष्य के बंधन और और मोक्ष का कारण होता है। निम्नस्तर का अशुद्ध मन बंधन और पतन का कारण होता है। उच्चस्तर का शुद्ध मन मोक्ष और उत्थान का कारण होता है। 'मन को अंग' में कबीर ने दोनों स्तर के मन का वर्णन किया है।

प्रस्तुत साखी में उच्चस्तरीय मन का वर्णन है। इस मन को अपना मित्र बनाने से मानव साधना में प्रगति करता है। कबीर कहते हैं कि हमने शुद्ध उच्चस्तरीय मन को अपना मित्र बनाया है, जिसके गले में लाल कबा या चोगा पड़ा हुआ है। 'लाल कबा' में व्यञ्जना यह है कि मन अनुराग से परिपूर्ण है। निम्नस्तरीय मन विषय-प्रवण होता है, उच्चस्तरीय मन स्वभावतः प्रभु-प्रवण होता है। 'लाल' शब्द अनुराग का प्रतीक है।

यह मन ऐसा लाल चोगा पहने हुए है कि सारे संसार के धोबी इसे धोते-धोते थक जायँ तो भी इसका रंग छूट नही सकता अर्थात् उच्चस्तरीय मन में प्रभु-प्रेम स्वभावतः प्रगाढ होता है और वह किसी भी ढंग से कम नही हो सकता।

अलंकार—विशेषोक्ति।

पानी हू तैं पातरा,[5] धूंवां हू ते झीन[6]।
पवनां[7] बेगि उतावला, सो दोस्त[8] कबीरै कीन॥ १२॥

शब्दार्थ—झीन = सूक्ष्म, झीना। उतावला = त्वरित गतिवाला।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैंने ऐसा मित्र बनाया जो कि पानी से भी अधिक पतला है, धुआँ से भी अधिक सूक्ष्म है और पवन से भी अधिक त्वरित गतिवाला है। कबीर के कहने का तात्पर्य यह है कि मन अत्यन्त सूक्ष्म और गतिशील है। यदि इसको अपना मित्र बना लिया जाय अर्थात् उसका ठीक प्रकार से उपयोग किया जाय तो वह हमें परमपद तक पहुँचा सकता है।

अलंकार—व्यतिरेक।

---

१. ना०प्र०—न दोसत। २ हनु०—ता गल। ३. हनु०—बहुतक धोबी पचि गए। ४. हनु०—तबहुं। ५ ना० प्र०—पाणीं ही तैं पातला। ६. ना० प्र०—धूँवाँ ही तैं झींण, हनु०—धूमहु ते अति छीन। ७ हनु०—पवनहु ते। ८ ना० प्र०—दोसत।

कबीर तुरी पलानियाँ[1], चाबुक लीया हाथि।
दिवस थकाँ साँई मिलौं, पीछै पड़िहै राति ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—तुरी = घोड़ी। पलान = ( सं०—पल्याण ) जीन। पलानियाँ = जीन कसना। थकाँ = बीतते-बीतते।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैंने मन रूपी घोड़े पर एकाग्रता की जीन कस लिया है और संयम रूपी चाबुक हाथ में ले लिया है, जिससे मन रूपी अश्व इधर-उधर न बहके अर्थात् एकाग्रभाव बना रहे।

इस साखी के दूसरे चरण में 'दिवस' जीवन का प्रतीक है और 'राति' मृत्यु का। जीवन रूपी दिवस के रहते हुए मैं मन रूपी अश्व पर चढकर अर्थात् मन की एकाग्रता द्वारा प्रभु से मिलना चाहता हूँ, अन्यथा मृत्यु रूपी रात्रि आ जायेगी, तब प्रभु से मिलना सम्भव न होगा।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

मनुवाँ तौ अधर बसा,[2] बहुतक झीनाँ[3] होइ।
अमरलोक[4] सचु पाइया, कबहुँ न न्यारा होइ[5] ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—अधर = जिसका आधार न हो, शून्य, ब्रह्मरन्ध्र। झीनां = सूक्ष्म। सचु = आनन्द।

व्याख्या—साधना से मेरा मन बहुत सूक्ष्म हो गया है। वह अब ब्रह्मरन्ध्र अथवा शून्य में स्थित हो गया है और उसने अमरलोक के सुख को प्राप्त कर लिया है। वह अब कभी भी उस परमपद से पृथक् नही हो सकता।

यदि 'आलोकत सचु पाइया' पाठ लिया जाय तो अर्थ होगा—प्रभु के दर्शन से उसको सुख प्राप्त होता है।

मन नहिं मारा[6] मन करि, सके[7] न पंच प्रहारि।
सील साँच सरधा नहीं, इन्द्री[8] अजहुँ उघारि ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—मन करि=दत्तचित्त होकर, मन लगाकर। पंच = पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ अथवा काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ। उघारि = खुली हुई।

व्याख्या—मनुष्य ने पूर्ण रूप से दत्तचित्त होकर मन को अभी तक वश में नही किया, उसकी चंचलता को दूर न कर सका और पाँचो ज्ञानेन्द्रियो अथवा काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह—इन पाँच शत्रुओ पर प्रहार न कर सका अर्थात् इनको नियन्त्रित न कर

---

१. ना० प्र०—पलाणियाँ। २. तिवारी—अंतरि बसा, हनु०, वि०—अंतर बसा। ३. ना० प्र०—झीणाँ। ४. ना० प्र०—आलोकत, हनु०, वि०—अमरलोक सुचि। ५. ना० प्र०—सोइ। ६. ना० प्र०—न मार्‌या। ७. वि०—सका। ८. वि०—अजहूँ इन्द्रि।

सका। इसलिए उसमें शील, सत्य एवं श्रद्धा के भाव नहीं जाग सके और उसकी इन्द्रियाँ अभी तक विषयों की ओर उघडी हुई है, खुली हुई है, अर्थात् अनियन्त्रित है।

**कबीर मन विकरै पड़ा,[1] गया स्वादि के साथि।**
**गलका[2] खाया बरजताँ, अब क्यों[3] आवै हाथि॥ १६॥**

शब्दार्थ—विकरै = विकार मे, विकारग्रस्त। गलका = गले तक। बरजताँ = मना करने पर।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मन विकारग्रस्त हो गया है, उपभोग की कामना के साथ फँस गया है। गले तक का खाया हुआ भोजन मना करने पर भी नीचे उतरेगा ही। वह रोका नही जा सकता। उसी प्रकार मन जब विपयो मे पूर्ण रूप से लिप्त हो जाता है, तब समझाने पर भी उस पर नियन्त्रण सम्भव नही हो पाता।

**कबीर मन गाफिल भया, सुमिरन[4] लागै नाँहि।**
**घनी[5] सहैगा सासनाँ, जम की दरगह माँहि॥ १७॥**

शब्दार्थ—सासनाँ = कष्ट। दरगह = ( फा०—दरगाह ) दरबार, राजसभा।

व्याख्या—कबीर कहते है कि विषयासक्त मन अपने वास्तविक लक्ष्य से च्युत हो गया है। प्रभु-स्मरण की ओर उसकी प्रवृत्ति नही है। यम के दरबार में उसको भयंकर कष्ट भोगना पड़ेगा।

**कोटि कर्म[6] पल मैं करै,[7] यहु मन बिषया[8] स्वादि।**
**सदगुर सबद न मानई, जनम गँवाया[9] बादि॥ १८॥**

शब्दार्थ—सबद = उपदेश। स्वाद = स्वादि में। बादि = व्यर्थ में।

व्याख्या—यह मन विपयो के स्वाद में इस प्रकार लिप्त हो गया है कि एक-एक पल में नाना प्रकार के कर्म कर डालता है। विषयो के आकर्षण के कारण वह सद्गुरु के उपदेश को मानता ही नही। अतः उसके कारण व्यर्थ मे मानव का जीवन नष्ट हो जाता है।

**मैंमंता[10] मन मारि ले[11], घटहीं माँहीं घेरि।**
**जबही चालै पीठि दै, अंकुस[12] दे दे फेरि॥ १९॥**

शब्दार्थ—मैंमता = उन्मत्त, मदमत्त ( हाथी )।

---

१. वि०—यह मन वीकारै पडा, हनु०—कवीर यह मन विखरिया, गु०—या मन विकारों परा। २. हनु०, वि०, गु०—गटका। ३ ना० प्र०—क्यूँ। ४. ना० प्र०—सुमिरण। ५. ना० प्र०—घणी। ६ तिवारी—करम। ७. हनु०, गु०—करे पलक में, गुप्त—करम पलक मै करै। ८. ना० प्र०—बिषिया, तिवारी—विखिया। ९ गु०—गँवावे, हनु०—गमाया। १० हनु०, वि०—महमन्ता, गु०—मै ममता। ११ ना० प्र०—रे। १२. हनु०, वि०—आकुस।

व्याख्या--इस मदमत्त हाथी के समान मन को भीतर ही रोककर वश में कर लो। उसे विषयों की ओर मत जाने दो। जब वह विषयों की ओर जाने लगे तो उसे ज्ञान के अंकुश से वापस कर लो।

अलंकार—रूपक।

**मैमता मन मारि रे,[१] नान्हाँ[२] करि करि पोसि।**
**तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म झलक्कै[३] सीसि॥ २०॥**

शब्दार्थ—सुन्दरी = ( प्र० अ० ) जीवात्मा, साधक। ब्रह्म = परमात्म-दर्शन। सीसि = ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर।

व्याख्या—हे जीव! तू इस मदमत्त हाथी के समान मन को वश में कर। अपनी साधना से तू उसे पीसते-पीसते इतना सूक्ष्म बना दे कि वह ऊपर चढ़कर ब्रह्मरन्ध्र में जा सके। तभी जीवात्मा रूपी सुन्दरी वास्तविक आनन्द को प्राप्त कर सकती है और ब्रह्मरन्ध्र पर ब्रह्म की ज्योति प्रकाशित हो सकती है।

अलंकार—रूपक, रूपकातिशयोक्ति।

**कागद केरी नाँव री, पानी[४] केरी[५] गंग।**
**कहै कबीर कैसे तिरूँ,[६] पंच[७] कुसंगी संग॥ २१॥**

शब्दार्थ—गंगा = भवसागर का प्रतीक।

व्याख्या—यदि कोई सरिता जल से लबालब भरी हुई हो और उसे कोई कागज की नाव से पार करना चाहता हो, साथ ही उस नाव में पाँच दुष्ट मनोवृत्तिवाले साथी बैठे हों, जो थोड़ा-सा भी अवसर मिलने पर डुबो देने के लिए तैयार हों, तो फिर कोई उस सरिता को कैसे पार कर सकता है? ठीक इसी प्रकार यह भव-सागर माया रूपी जल से परिपूर्ण है और पंच महाभूतों के भंगुर शरीर की नाव है, साथ ही इस शरीर रूपी नौका के भीतर ही पंचेन्द्रियाँ अथवा काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि पाँच दुष्ट साथी नीचे की ओर ढकेलने के अवसर की ताक में बैठे हुए हैं, तो भला इस भव-सागर को कैसे पार किया जा सकता है?

अलंकार—अन्योक्ति।

**कबीर यह[८] मन कत[९] गया, जो मन होता काल्हि।**
**डूँगरि वूठा मेह ज्यूँ,[१०] गया निवाँणा[११] चालि॥ २२॥**

शब्दार्थ—डूँगरि = टीला या पहाड़ी पर। वूठा = बरसा हुआ। निवाँणाँ = नीची जमीन।

---

१. हनु० वि०—मन मनसा को मारिके। २. तिवारी, हनु०, वि०—नन्हाँ। ३. तिवारी—पदुम झलक्कै, हनु०, वि०—पदुमा झलकै। ४. ना० प्र०—पाँणी। ५. हनु०—भरिया। ६. हनु०—तरैं, गु०—तिरैं। ७. हनु०—बड़ो। ८. हनु०, गु०—वह, गुप्त-उह। ९. हनु०—कह, गु०—कित। १०. हनु०, वि०—डूँगर बूड़ा मेह ज्यों। ११. हनु०—निमाना, वि०—निवाना।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मेरा यह अस्थिर मन जो कल गुरु-उपदेश से प्रभु की ओर कुछ प्रवृत्त हुआ था, आज किधर चला गया ? इसकी वही दशा है जो पहाड़ी पर बरसे हुए जल की होती है। जैसे वह जल अस्थिर होता है, थोड़ी देर पहाड़ी पर रहकर नीचे की ओर ढुलक जाता है, वैसे ही अस्थिर मन भी सदुपदेश के द्वारा ऊँचाई तक थोड़ी ही देर के लिए जाता है और फिर निम्न दशों की ओर फिसल पड़ता है।

अलंकार—उपमा।

**मृतक कूँ धी जौं नहीं,[1] मेरा मन वी[2] है।**
**बाजे बाव विकार की, भी मूदा जीवै[3] ॥ २३ ॥**

शब्दार्थ—मृतक = मरा हुआ। धी = बोध। जौं = ज्यों, जैसे। वी = भी। बाव = वायु।

व्याख्या—जैसे मरे हुए को अपने विषय में कुछ बोध नहीं रह जाता, वैसे ही मेरे मन की गति है अर्थात् मैंने मन को विषयों से इतना विरत कर लिया है कि वह मृतक के समान हो गया है। उसे अब अपनेपन का भी बोध नहीं है। किन्तु जब विकार रूपी वायु भीतर ध्वनित हो उठता है तो यह मृतक मन भी जी उठता है अर्थात् उसके भीतर वासनाएँ पुनः जग उठती हैं।

वस्तुत. पुराने संस्कार अथवा वासनाएँ साधना की प्रथम अवस्था में नष्ट नहीं होती, केवल प्रसुप्त रहती हैं, क्रियाशील नहीं रहती। साधना की उत्कृष्ट अवस्था में ही उन संस्कारों की क्रियाशीलता समाप्त होती है।

अलंकार—उपमा।

**काटी कूटी माछली[4], छींकै[5] धरी चहोरि[6]।**
**कोइ एक अषिर मन वसा,[7] दह में परी बहोरि[8] ॥ २४ ॥**

शब्दार्थ—माछली = (प्र० अ०) मन। छींकै = (प्र० अ०) ब्रह्मरन्ध्र। चहोरि = चढ़ाकर, सम्भालकर। अषिर = अक्षर (ला० अ०) वासना। दह = ह्रद, तालाब। बहोरि = पुनः

व्याख्या—मैंने मन रूपी मछली को काट-कूटकर अर्थात् संयम द्वारा नियंत्रित करके, बहुत यत्न से छींके के ऊपर रखा था अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र तक चढ़ाकर संभाल लिया था। परन्तु उसमें कोई एक अक्षर अर्थात् वासना प्रसुप्त रूप से बसी हुई थी, जिससे वह मन रूपी मछली पुनः गन्दे तालाब में आ पड़ी अर्थात् वह मन वासना के कारण मलिन विषयों में अवशिष्ट रत हो गया।

अलंकार—अन्योक्ति।

---

१. हनु०—मिरतक को धीरज नहीं। २. हनु०—भी मोह। ३. हनु०—चलहिक जावै सोह। ४. ना० प्र०—मछली, वि०—माछरी। ५. हनु०—सींके। ६. ना० प्र०—चहोड़ि। ७ वि०, सु०—कोइ इक औगुन मन वसा। ८. ना० प्र०—पड़ी बहोड़ि।

**कबीर[1] मन पंखी[2] भया, उड़िकै चढ़ा अकासि[3] ।**
**उहाँ ही तै गिरि पड़ा, मन माया के पासि ॥ २५ ॥**

शब्दार्थ—पंखी = पक्षी ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि साधना द्वारा मेरा मन पक्षी के समान उड़कर ऊ शून्य रूपी आकाश या ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच गया था । किन्तु कोई गुप्त वासना उस अवशिष्ट रह गई थी । जिससे पुन: वह वहाँ से गिरकर माया में आ लिपटा ।

टिप्पणी—ऊपर की तीन-चार साखियों में कबीर ने इस बात पर बल दिया है साधना द्वारा मन को चाहे जितना नियन्त्रित कर लिया जाय, किन्तु उसमें यदि कोई गुप्त वासना रह जाती है तो उसका पतन अवश्यंभावी है ।

अलंकार—रूपक ।

**भगति दुवारा साँकरा[4], राई दसएँ[5] भाइ ।**
**मन तौ मैंगल होइ रह्या,[6] क्यूँ करि सकै समाइ ॥ २६ ॥**

शब्दार्थ—दुवारा=द्वार । साँकरा=संकीर्ण । भाइ=भाग । मैंगल=मतवाला हाथी ।

व्याख्या—भक्ति का द्वार अत्यंत संकरा है । वह राई के दसवें भाग के परिम का है अर्थात् अत्यंत छोटा है और मन मतवाले हाथी के समान उन्मत्त और वासना के समूह से विशालकाय हो रहा है । भला वह उस सँकरे द्वार में कैसे समा सकता है

तुलनीय:—

रघुपति भगति करत कठिनाई ।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई ।

विनय—( पद १६७

**करता था तौ क्यों रह्या,[7] अब करि क्यूँ[8] पछताइ ।**
**बोवै पेड़ बबूल का, आम[9] कहाँ तैं खाइ ॥ २७ ॥**

व्याख्या—जब तू वासनाओं के वशीभूत होकर कुकर्म करता था, तो क्यों कर र था ? उस समय क्या तूने उसके परिणाम के विषय में कुछ भी नहीं सोचा था ? अ पछताने से क्या होगा ? कुकर्मों का फल तो भोगना ही पड़ेगा । बबूल का पेड लगाक सरस, मधुर आम कहाँ से खाया जा सकता है ? कुकर्म का दुष्परिणाम भोगना ही होगा

तुलनीय:—

कोउ न काहु सुख दुख कर दाता ।
निज कृत कर्म भोग सुनु भ्राता ॥

मानस—अरण्यका

---

१. हनु०, गु०—मनुवा तो पक्षी भया । २. ना० प्र०—पंषी । ३. ना० प्र०—बहुतक चढ्या अका गु० वि०—उडिकै चला अकास, हनु०—उडिकै गया अकास । ४ ना० प्र० सँकडा । ५ ना० प्र०—दसवैं । ६. ना०प्र०—ह्वै रह्यो । ७. ना० प्र०—क्यूँ रह्या । ८. हनु०, युगला०—क्यों । ९. ना०प्र०—अंब

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'—'शुभ अथवा अशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ेगा।

अलंकार—प्रतिवस्तूपमा।

काया देवल मन धजा[1], विषय[2] लहरि फहराइ[3]।
मन चाले[4] देवल चलै, ताका सर्वस[5] जाइ ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—देवल = देवालय। धजा = ध्वजा, पताका।

व्याख्या—मानव का शरीर मन्दिर के समान है और मन ध्वजा के समान है। जैसे ध्वजा वायु के झोंकों से फहराती रहती है, वैसे ही मन विषयों के झोंकों से विचलित होता रहता है। यदि ध्वजा के विचलित होने से देवालय भी विचलित हो जाय, तब तो विनाश अवश्यंभावी है। ठीक इसी प्रकार विषयों की आसक्ति से जब मन विचलित होता है, उसी के साथ तन भी विषयों की ओर प्रवृत्त हो, तब तो सर्वनाश अवश्यंभावी है।

अलंकार—सागरूपक।

मना मनोरथ[6] छाड़ि दे, तेरा किया न होइ।
पांनी मैं घी नीकसै,[7] तौ रूखा[8] खाइ न कोइ ॥ २९ ॥

व्याख्या—हे मन! तू मनोरथों को छोड़ दे, क्योंकि सभी मनोरथों की पूर्ति तेरे द्वारा नहीं हो सकती। तुझे अपनी परिसीमता का बोध होना चाहिए। संसार में किसी की भी सभी इच्छाएँ पूर्ण नहीं हो सकतीं। कुछ की पूर्ति तो स्वभावतः ही असम्भव है। यदि पानी के मथने से घी निकल सके तो संसार में कोई भी बिना घी चुपड़े रूखी रोटी न खाये।

अलंकार—दृष्टान्त।

काया कसौं कमान ज्यौं,[9] पंचतत्व करि बांन[10]।
मारौं तौ मन मिरिग[11] कौं, नहीं[12] तो मिथ्या जांन[13] ॥ ३० ॥
—३०२ ॥

व्याख्या—मानव-तन की यही विशेषता है कि केवल उसी के द्वारा आध्यात्मिक साधना सम्भव है। सभी शास्त्रों और सन्तों ने यह बार-बार दुहराया है कि मानव-तन ही परमार्थ की प्राप्ति के लिए सर्वोत्तम साधन है। मानव को दो मुख्य परिदान मिले हुए

---

१ हनु०, यु० —ध्वजा। २. तिवारी—विखै, ना० प्र०—विषै। ३. गुप्त—फरहराइ। ४. ना० प्र०—चाल्यां, हनु०, वि०—चलते, युगला०—चलता। ५. तिवारी, हनु०, यु०—सरवस। ६. ना० प्र०—मनह मनोर्थं। ७ ना० प्र०—पांणी मैं घीव नीकसै। ८. तिवारी, युगला०—लूखा, गुप्त—लूषा। ९. ना०प्र०—कसूँ कमांण ज्यूँ। १०. ना० प्र०—पंचतत्त करि बांण, हनु० यु०—पांच तत्व कर बान। ११. ना० प्र०— मृग कौं, वि०, यु०—मिरगला। १२. तिवारी०—नहितर। १३. ना० प्र०—जांण।

है—एक तो पाँच तत्त्वों से बना हुआ शरीर और दूसरा उसके भीतर सूक्ष्म मन, जो इस शरीर को परिचालित करता रहता है।

साधना का सबसे मुख्य उपयोग मन को वशीभूत करना है। इसी को सन्तो ने 'मन को मारना' कहा है। यह मन मृग के समान है। जैसे मृग उछलता-कूदता इधर-उधर फिरता है, वैसे ही मन चचल रहता है। जिन पाँच तत्त्वो से मनुष्य का शरीर बना है, उनमें से प्रत्येक इन्द्रिय में एक तत्त्व प्रधान रहता है, जैसे आँख में पावक तत्त्व प्रधान है और बाहर आँख प्रकाश की ओर प्रवृत्त होती है, नाक मे गन्ध तत्त्व प्रधान है और बाहर भी वह उसी गन्ध की ओर प्रवृत्त होती है। सारांश यह है कि हमारी इन्द्रियाँ जिन पाँच तत्त्वों से बनी हुई है, वे स्वभावतः बाहर भी उन्ही पाँच तत्त्वो की ओर प्रवृत्त होती है।

साधना की विशेषता यही है कि पाँचो इन्द्रियों के मुख्य पाँच तत्त्वों की क्रिया को बाहर से फेरकर अन्तःस्थित परमतत्त्व की ओर उन्मुख कर दे। साधना के पूर्व मन इन्द्रियो की स्वाभाविक प्रवृत्ति के साथ-साथ विपयो की ओर जाता था। इन्द्रियो की पंच तत्त्वो की ओर जाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति को प्रत्यावर्तित करके अन्तर्मुखी करने का परिणाम यह होगा कि उनके साथ मन भी अन्तर्मुखी हो जायगा। यतः मन और इन्द्रियों का अविनाभाव ( अवियोज्य सम्बन्ध ) है। अतः इन्द्रियों के अन्तर्मुखी होने पर मन भी अन्तर्मुखी हो जायेगा। यही पंचतत्त्वो के बाण से मन को मारना है। इसीलिए कबीर ने कहा है कि—

मैं इस तन को कमान बनाना चाहता हूँ और पाँच तत्त्वों के बाण का उस पर संधान करना चाहता हूँ। उस बाण से मैं यदि इस मन को न मार डालूँ तो समझो कि मेरा जीवन ही व्यर्थ हो गया।

अलंकार—सांगरूपक।

•

## (१४) सूषिम मारग को अंग

कौन[१] देस कँह[२] आइया, जानै कोई नाँहि[३]।
ओहु मारग[४] पावै नहीं, भूलि परे[५] एहि माँहि ॥ १ ॥

शब्दार्थ सूषिम = सूक्ष्म। ओहु मारग=वह ब्रह्म तक पहुँचने का सूक्ष्म मार्ग।

व्याख्या—जीवो के योनियो में भ्रमण अथवा संसरण का मूल कारण 'अविद्या' है। उस अविद्या का परिणाम यह होता है कि जीवात्मा वस्तुत: सच्चिदानन्द होते हुए भी अपने स्वरूप को भूल जाता है। इसीलिए वह जिस योनि में पडता है, अविद्या के कारण उसी योनि के देह से उसका तादात्म्य हो जाता है। अपने मूल को भूल जाना ही 'स्व-देश' को भूल जाना है। उसी के लिए कबीर यहाँ कहते है—'कौन देश कँह आइया'—हमारा कौन 'स्व-देश' है और हम कहाँ आ गए ? इसे कोई नही जानता, क्योकि सभी जीव अविद्याग्रस्त हैं।

अपनी मूल 'भूल' अर्थात् अविद्या से इस परदेश में-संसार में-जीव आ पड़ा है और अब उस बेचारे को वह 'सूक्ष्म मार्ग' नही मिल पा रहा है, जिससे वह 'स्व-देश' को लौट सके अर्थात् जिससे वह ब्रह्म अथवा अपने वास्तविक स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा कर सके।

उततैं[६] कोई न आवई[७], जासौं[८] बूझौं[९] धाइ।
इतते सब कोइ जात है,[१०] भार लदाइ लदाइ ॥ २ ॥

शब्दार्थ—उततै = वहाँ से। भार=कर्मो का भार।

व्याख्या · उस देश से कोई जीव स्वदेश की स्मृति लिये हुए यहाँ नही आता जिससे दौड़कर मैं उसका हाल पूछूँ। केवल इस देश से सभी लोग कर्मो का भार अपने ऊपर लदाकर जा रहे हैं। इसीलिए जहाँ से जीव आया है, वहाँ का वास्तविक सदेश किसी को नही मिलता।

सबकौं[११] बूझत मैं फिरौ[१२], रहनि[१३] कहै नहि[१४] कोय।
प्रीति न जोड़ै[१५] राम सौं[१६], रहनि[१७] कहाँ तैं[१८] होय ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—रहनि=रहने का ढंग।

---

१ ना० प्र०—कोण २ ना० प्र०—कहां। ३. ना० प्र०—कहु क्यूँ जाण्याँ जाइ। ४ ना० प्र०—उहु मार्ग, हनु०, वि०, यु०—वह मारग। ५ ना० प्र०—पड़े इस, हनु०. वि०—परे जग। ६ ना० प्र०—उतीथैं। ७. ति०—आइया, यु०—बाहुरा। ८ ना० प्र०—जाकूँ। ९. ति०, हनु०—पूछौं, वि०-जासों बूझूँ, यु०—जाको बूझूँ। १०. ना० प्र०—इतथैं सबै पठाइये, तिवारी०—इततैं सब कोई गए। ११ ना० प्र०—सबकूँ, अन्य--सबको पूछत। १२ ति०—फिरूँ यु०—वि०—फिरा। १३. ना० प्र०—रहण। १४. ना० प्र०—नहीं। १५. यु०—जोरै, ना० प्र०—जोड़ी। १६. ना० प्र०—सूँ, यु०—से। १७. ना० प्र०—रहण। १८. ना० प्र०—थै।

व्याख्या—इस साखी में 'रहनि' शब्द में एक विचित्र व्यञ्जना है। अपने स्वरूप को जानते हुए अंश का अंशी से सम्बन्ध जोड़े हुए जीवन-यापन करना 'रहनि' है। उस सम्बन्ध को न जानकर अपने स्वरूप को न पहचानते हुए जीवन-यापन करना केवल जीना है, स्वास लेना है। कबीर कहते हैं कि मैं सबसे पूछता फिरता हूँ, परन्तु 'रहनि' का ढंग हमें कोई नहीं बताता और बिना उसके यह जीवन एक स्वप्नाचारी ( Somnambulist ) के भ्रमण के समान है। उसे अपने अमरत्व और शाश्वत जीवन की स्थिति का पता ही नही है।

यह स्वल्पांश अपने अंशी से जब तक प्रेम का सम्बन्ध नही जोड़ता, तब तक वास्तविक 'रहनि' अर्थात् अपने अमरत्व के अनुभव के साथ जीवन कैसे सम्भव है ? प्रेम ही वह सूत्र है जो अंश को अंशी से जोड़ता है। अविद्या अंश को अशी से पृथक् कर देती है। यदि कोई ऐसा तत्त्व है जो पुन: अंश को अंशी से जोड़ सकता है, तो वह है—प्रेम ! प्रभु से प्रेम होने पर इस संसार में रहते हुए भी जीव अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहता है। यही उसकी सच्ची 'रहनि' है।

अलंकार—विनोक्ति।

**चलौ चलौ[१] सब कोइ[२] कहै, मोंहि अँदेसा और।**
**साहिब सौं[३] पर्चा[४] नहीं, पहुँचेंगे[५] किस ठौर ॥ ४ ॥**

शब्दार्थ—अँदेसा=संदेह, भय। पर्चा=परिचय।

व्याख्या—मानव जीवन की सबसे दुर्भाग्यपूर्ण विडम्बना यही है कि अपने भीतर भागवत-तत्त्व होते हुए भी वह अविद्यावश यह समझता है कि देह-प्राण-मानसोपहित पिंड ही वास्तविक 'मैं' हूँ। उसे जो उपदेश भी मिलते है, वे उसी प्रकार के होते है कि तत्त्व कही और है, जहाँ मानव को जाना है। कबीर कहते हैं कि वहाँ तक जाने की बात तो सभी करते है, परन्तु मुझे भय है कि वह कहाँ है और कौन है ? जब तक इसका परिचय ही नही, तब तक हम कहाँ जाएँगे ? सच बात तो यह है कि सत्य अथवा परमार्थ साध्य नही है, उत्पाद्य नहीं है। यदि वह साध्य और उत्पाद्य होता तो चिरन्तन नही हो सकता। वह सर्वदा सिद्ध है। यदि यह समझ हो जाय तो कही जाना नही है, केवल उस अहंकार रूपी परदे को फाड़ फेंकना है जो जीव और उस सनातन सत्य के बीच में पड़ा हुआ है।

**जाने[६] का जागह[७] नहीं, रहिबे कौं[८] नंहि ठौर।**
**कहै कबीरा संत हौ, अविगत की गति और ॥ ५ ॥**

शब्दार्थ—जागह = स्थान। अविगत = अज्ञात। गति = (१) रहस्य, मर्म, (२) जाने और जानने की क्रिया। और = विचित्र, अन्य।

---

१.—तिवारी, वि०, यु०— चलन चलन २. ना०प्र०—को, हनु०—सब कहत है। ३. ना० प्र०—सूँ, ४. तिवारी—परनै, हनु०, यु०—सो परिचय। ५. ना० प्र०—ए जाँहिगे, ति०, हनु०—वैठेंगे। ६. ना० प्र०—जाइबे को जागा नहीं, त्रि०—जानै को तो गम नहीं . ७. गुप्त—जाइगह। ८. हनु०, वि०—रहने को।

व्याख्या—यद्यपि परमार्थ या वास्तविक तत्त्व अपने भीतर विद्यमान है, वह सिद्ध है, साध्य नही है तथा अविद्या के कारण देह से जो तादात्म्य है और मिथ्या अहंकार का साम्राज्य है, वह काल्पनिक नहीं है। वह एक कठोर तथ्य है। उसी का विगलन साधना का मार्ग है और जो चलने या जाने की बात है, वह इसी साधना के लिए है। परन्तु इस साधना का मार्ग अत्यन्त सूक्ष्म है : इसीलिए कबीर ने इसका शीर्षक 'सूषिम मारग' रखा है। उनका कहना है कि साधारणत लोग प्रभु की ओर जाने की बात करते है, किन्तु उनको यह पता नही है कि यह जाना सरल नही है। इस ओर जाने के लिए कोई खुला मार्ग नही है। वह मार्ग अत्यन्त सूक्ष्म है और वहाँ पहुँचने पर भी स्थिर रहने का ठिकाना नही है, बडे-बड़े साधको के भी पैर फिसल जाते है। कबीर कहते है कि हे संतो ! उस अज्ञात की ओर जाने की क्रिया और उसका मर्म कुछ और ही है।

'और' मे इस बात का संकेत है कि जीवन में जिन साधनो के द्वारा 'गति' होती है अर्थात् जिन साधनों के द्वारा हम जाते है या जानते है, उनमें से परम के साक्षात्कार के लिए कोई भी साधन सक्षम नही है। उसका न तो इन्द्रियो के द्वारा प्रत्यक्ष हो सकता है, न मन के द्वारा उसे जान सकते है, क्योंकि मन स्वभावतः सकल्प-विकल्पात्मक होता है और वह निर्विकल्प है। स्थूल दृष्टि से जिसे गमन कहते हैं, वह भी वहाँ तक सम्भव नही है, क्योकि वह सदा हमारे भीतर विद्यमान है। इसलिए उससे परिचय प्राप्त करने के लिए मार्ग ही और है।

अलंकार—(१) सभी गत्यर्थक धातुएँ बोधार्थक भी होती है। इसीलिए यहाँ 'गति' में जाने और जानने का श्लेष है।

(२) भेदकातिशयोक्ति।

**कबीर मारग[1] कठिन है, कोई सकै नहिं[2] जाइ।**
**गए ते बहुरे[3] नहीं, कुसल कहै को आइ॥ ६॥**

व्याख्या—कबीर कहते है कि प्रभु-प्राप्ति का मार्ग बहुत कठिन है। उस मार्ग से साधारण जन नही जा सकते। जो वहाँ तक पहुँच गये है, वे वापस नही आए अर्थात् वे आवागमन से मुक्त हो गये। अतः उस मार्ग की सुख-सुविधा या दुर्गमता का वर्णन कौन करे ?

अलंकार—'कुसल कहै को आइ' मे काकु वक्रोक्ति।

**जन कबीर का सिषर घर,[4] बाट सलैली सैल[5]।**
**पाव न टिकै पिपीलका,[6] लोगनि[7] लादे बैल॥ ७॥**

---

१ ना० प्र०—मारिग। २. ना० प्र०—न सकई। ३. ना० प्र०—बहुडे। ४.—ति०—कबीर का घर सिखर पर, हनु०—यु०—कबीर का घर सिखर है। ५. ति०,यु०—जहाँ सिलहली गैल, हनु०—जहाँ सिलसिली गैल। ६ ना० प्र०—पपीलिका। ७. यु०,हनु०—पंडित।

शब्दार्थ—जन=भक्त,दास सिपर= शून्य शिखर, ब्रह्मरन्ध्र । बाट=मार्ग । सलैली=रपटीली । पिपीलका=चीटी । सैल=पर्वत ।

व्याख्या—भक्त कबीर का वासस्थान शून्य-शिखर है । वहाँ तक का पहाड़ी मार्ग बहुत रपटीला है । इसमें सद्गुरु ने इस बात का संकेत किया है कि सुषुम्ना मार्ग से चक्रों का भेदन कर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचना अत्यंत कठिन है । बहुत से साधक ऊपर के एक दो चक्र भेदकर फिर नीचे फिसल आते हैं । कबीर ने इन साधकों की तुलना चीटी से की है । ऐसे रपटीले और पर्वतीय मार्ग पर धीरे-धीरे चीटी की गति से चलनेवाले साधकों का भी पैर नही टिकता अर्थात् वे भी ऊपर नही जा पाते, तो भला जो लोग अपने मन रुपी बैल को कर्मो और वासनाओं के बोझ से लादे हुए हैं, वे वहाँ तक कैसे पहुँच सकते हैं ?

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति ।

**जहाँ न चींटी[१] चढ़ि सकै, राई ना[२] ठहराइ ।**
**मन[३] पवना[४] की गमि नहीं, तहाँ पहूँचे[५] जाइ ॥ ८ ॥**

शब्दार्थ—गमि=गति, पहुँच ।

व्याख्या—इस साखी में 'जहाँ न चीटी चढ़ि सकै' द्वारा गन्तव्य स्थान की दुर्गमता का संकेत किया गया है और 'राई ना ठहराय' उस स्थान की सूक्ष्मता का बोधक है । 'मन पवना की गमि नही' के द्वारा यह संकेत किया गया है कि वह स्थान मन और प्राण की पहुँच के बाहर है ।

कबीर कहते हैं कि जो पद इतना दुर्गम है कि चींटी के समान सँभालकर नपी-तुली गति से चलनेवाला साधक भी वहाँ तक नही पहुँच सकता, जो इतना सूक्ष्म है कि वहाँ राई के लिए भी स्थान नही है, जो संकल्प-विकल्पात्मक मन से परे है और जो प्राणो के आयाम से भी परे है, उस पद तक मैं पहुँच गया हूँ ।

तुलनीय—

जहि वण पवण ण संचरइ, रवि ससि णाह पवेस ।
तहि वढ़ चित्त विसाम करु, सरहें कहिय उएसु ॥

( सरहपा-दोहाकोष, पृ० २० )

अलंकार—सम्बंधातिशयोक्ति ।

**कबीर मारग कठिन[६] है, मुनि जन बैठे थाकि[७] ।**
**तहाँ कबीरा चलि[८] गया, गहि सतगुर की साषि[९] ॥ ९ ॥**

शब्दार्थ—थाकि=थककर, हारकर । साषि=साक्ष्य ।

---

१ ति०, त्रि०—चिउँटी । २. हनु०—नहि । ३. यु०-हनु०—वि०—मनुवा तहाँ ले राखिया, सोई पहुवा जाइ । ४. ना० प्र०—पवन का । ५. ति०—पहूँचा । ६.—ना० प्र०—अगम । ७. यु०—सब मुनि बैठे थाक, त्रि०—रिषि मुनि बैठे थाक, हनु०—मुनि जन बैठे हार । ८ हनु०, वि०, यु०—चढि । ९. हनु०—सतगुर मैं कनहार ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि अपने लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग अत्यंत कठिन है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी उस मार्ग पर चलने में थककर, हार मानकर बीच में ही बैठ गए। परन्तु सद्गुरु ने अपने अनुभव का जो साक्ष्य मुझे दिया अर्थात् यह बतलाया कि इस साधना द्वारा मैंने उस पद का साक्षात्कार कर लिया है, उसके बल पर मैं भी वहाँ तक पहुँच गया।

सुर नर थाके मुनि जनां, जहाँ[1] न कोई जाइ।
मोटे भाग कबीर के,[2] तहाँ रहे[3] घर छाइ[4] ॥ १० ॥
—३१२ ॥

शब्दार्थ—मोटे=बड़े।

व्याख्या—ब्रह्म-प्राप्ति का पद इतना दुर्गम है कि देवता, साधारण मनुष्य और मुनि सभी बीच में ही थककर, हार मानकर बैठ जाते हैं और वहाँ तक कोई नहीं पहुँच पाता है। कबीर के बड़े भाग्य है कि वह वहाँ तक पहुँच कर स्थायी रूप से निवास कर रहा है अर्थात् उनकी आत्मस्वरूप में पूर्ण स्थिति हो गई है।

●

१. हनु०, वि०, यु०–तहां। २ हनु०, वि०, यु०—मोटा भाग कबीर का। ३. अन्य—रहा। ४. वि०–छी लाय।

## ( १५ ) सूषिम जनम को अंग

इस अंग में 'सूषिम जनम' से कबीर का तात्पर्य यह है कि मनुष्य का जन्म दो प्रकार से होता है—(१) स्थूल, शारीरिक जन्म, जो कि माता के गर्भ से होता है। (२) सूक्ष्म, आध्यात्मिक जन्म जो साधना के द्वारा होता है। निम्न साखियों में इसी सूक्ष्म जन्म का वर्णन है।

> कबीर[1] सूषिम[2] सुरति का, जीव न जानैं[3] जाल।
> कहै कबीरा दूरि कर[4], आतम अदिष्ट[5] काल॥ १॥

शब्दार्थ—सुरति = चित्त का वह अवधान ( *Attention* ) जिससे साधक अनाहत नाद को सुनता रहता है और वह सुमिरन जिससे वह प्रभु का प्रेम-रस पीता रहता है। जाल = दाँव-पेंच, कौशल।

व्याख्या—कबीर कहते है कि सूक्ष्म सुरति में वह कौशल है जिसके द्वारा साधक सरलता से प्रभु तक पहुँच सकता है। 'सूक्ष्म' कहने का तात्पर्य यह है कि वह सर्वथा आन्तरिक सुमिरन है, स्थूल जप नही है। बेचारा जीव उसके इस कौशल को नही जानता है। यदि वह उसके कौशल को जान जाय तो सूक्ष्म सुरति का ऐसा प्रभाव है कि वह अपने अदृष्ट और काल ( संहारक शक्ति ) दोनों पर विजय प्राप्त कर सकता है। कबीर कहते हैं कि हे जीव ! उसे जानकर तू अपने अदृष्ट और काल को दूर भगा।

टिप्पणी—(१) इस व्याख्या में 'आतम' का अर्थ 'अपना' लिया गया है। यदि 'आतम' का अर्थ 'आत्मा' लिया जाय तो उसे सम्बोधन के रूप में लेना होगा और तब उसका अर्थ होगा—हे आत्मा ! तू अपने अदृष्ट और काल को दूर कर। किन्तु यह अर्थ उपादेय नही है, क्योकि आत्मा तो स्वरूप से ही अदृष्ट और काल से परे है, केवल जीव अदृष्ट और काल के वश में है।

(२) 'अदिष्टि' पाठ शुद्ध नही है, क्योकि उसका अर्थ हो जायेगा—जिसके दृष्टि नहीं है अर्थात् अंधा। यह अर्थ यहाँ कदापि नही लिया जा सकता। जिन लोगो ने 'अदिष्टि' पाठ रखा है, उन्होने भी उसका अर्थ 'अदृष्ट' ही किया है। वस्तुतः यहाँ पर 'अदृष्ट' पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ होता है—अपने कर्मो का वह फल जो देखा नही जा सकता—अपना भाग्य।

---

१ हनु० वि०, यु०—सुक्ष्म सुरति का मरम है। २ ति०—सुखिम। ३. ना० प्र०—जाणैं, अन्य–जानत। ४. ना० प्र०–करि। ५. ना० प्र०–अदिष्टि, हनु०, वि०, युगला०—आदिष्टि।

प्रांन पिंड[1] कौं तजि चलै[2], मुवा कहै सब कोइ।
जीव अछत[3] जांमैं मरै, सूषिम[4] लखै न कोइ॥ २॥

—३१४॥

शब्दार्थ—पिंड=शरीर। जांमैं=जिसमें। अछत=अक्षत, रहते हुए।

व्याख्या—जब प्राण शरीर को छोड़कर चलता है, तब सभी उस व्यक्ति को मृत कहते हैं। इस स्थूल मृत्यु को सभी जानते हैं। परन्तु उस सूक्ष्म मृत्यु को, जिसमें प्राण रहते हुए व्यक्ति मृत हो जाता है, कोई नहीं देख पाता। यह सूक्ष्म मृत्यु माया, वासना और निम्न प्रवृत्तियों का विनाश है।

टिप्पणी—कठोपनिषद् मे यमराज ने नचिकेता से योग की व्याख्या बताते हुए कहा है :—

योगः प्रभवाप्ययौ अर्थात् योग एक साथ ही प्रभव और अप्यय अर्थात् जन्म और मरण दोनों है। वासनाओं और निम्न प्रवृत्तियों का विनाश मरण है और 'स्व-रूप' में स्थित हो जाना जन्म है। इस साखी में भी जीवन्मुक्तावस्था का वर्णन किया गया है।

कबीर ने अन्यत्र भी कहा है—

ऊँचा तरुवर गगन फल, बिरला पंछी खाय।
वा फल को तो सोई चखै, (जो) जीवत ही मरि जाइ॥

अलंकार—विरोधाभास।

---

१. ना० प्र०—प्रौंण पड। २ वि०, हनु० ति०—चला। ३. ना० प्र०—छतौं। ४. तिवारी—सुखिम।

## (१६) माया को अंग

सामान्यतया माया आवरण और विक्षेप करनेवाली शक्ति मानी गयी है। किन्तु
बीर ने माया को विशेष रूप से मोहक और आकर्षक शक्ति के रूप में लिया है,
जससे वह जीव को सांसारिक विषयों की ओर आकृष्ट करके उन्ही मे फँसाए रहती है।

**जग हटवारा[1] स्वाद ठग, माया बेसाँ[2] लाइ।**
**रामचरन नीका गहो,[3] जनि जा[4] जनम ठगाइ ॥ १ ॥**

शब्दार्थ—हटवारा = हाट, बाजार। बेसाँ = वेश्या। लाइ = लगाकर। नीका =
अच्छी तरह।

व्याख्या—यह संसार एक बाजार है। इसमें दो बहकानेवाले हैं—एक तो स्वाद
रूपी ठग और दूसरे माया रूपी वेश्या। 'स्वाद' में विषयो के प्रति रति की व्यञ्जना है
और माया वेश्या है अर्थात् वह अपने रूप, हाव-भाव आदि प्रलोभनों द्वारा जीवो को फँसाने-
वाली है। बाजार कर्मक्षेत्र का प्रतीक है। यह संसार व्यवहार की कर्म की भूमि है।
यहाँ लेन-देन का सौदा चलता रहता है। परन्तु जैसे बाजार मे ठग अपनी ताक मे
रहते है और वेश्याएँ अपने हाव-भाव से लोगों को लुभाने में लगी रहती हैं, जिससे
बेचारा ग्राहक ठगा जाता है अथवा वेश्या के आकर्षण मे फँस जाता है, उसी प्रकार
विषयो के स्वाद जीव को अपने लक्ष्य से विमुख कर ठग लेते है और माया अपने
प्रलोभनों से उसे अपने परम लक्ष्य से विमुख कर देती है। कबीर कहते है कि हे जीव !
तू राम के चरण को अच्छी तरह पकड कर उनकी शरण मे जा, जिससे तेरा जन्म
ठगा न जाय।

अलंकार—साँगरूपक।

**कबीर माया पापिनी[5], फंद ले बैठी हाटि[6]।**
**सब जग तौ फन्दे परा[7], गया कबीरा काटि[8] ॥ २ ॥**

शब्दार्थ—पापिनी = पाप मे ले जानेवाली, दुष्टा। फंद = फंदा, पाश। हाटि =
बाजार में। काटि = काटकर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि पाप में ले जानेवाली माया इस संसार रूपी बाजार
में फदा लिये बैठी है। संसार के सारे लोग उसी पाश में फँस गये। केवल कबीर

---

१. ना० प्र०—हटवाडा। २ हनु०, युगला०—वेश्या। ३. हनु०, युगला०—राम नाम गाढा
गहो। ४ ना० प्र०–जिनि जाय, युगला०–जनि जाहु। ५. ना० प्र०—पापणीं। ६. हनु, वि०–हाट।
७ ना० प्र०–फंधै पड़्या, तिवारी–फँदे फँदिया। ८. हनु०, वि०—काट।

( प्रभु-शरण से ) इस फंदे को काटकर निकल गया अर्थात् इसके प्रलोभन से बच गया और परमार्थ को प्राप्त कर लिया ।

अलंकार—व्यतिरेक ।

> कबीर माया पापिनी[1], लालै[2] लाया लोग ।
> पूरी किनहुँ न भोगई[3], इनका इहै विजोग[4] ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—लालै = लालसा, तृष्णा ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि माया अद्भुत पाप में फँसानेवाली है । इसने लोगों को नाना प्रकार की लालसाओं में आकृष्ट कर रखा है । कोई भी इसका पूर्ण रूप से भोग नहीं कर सकता । वह एक की होकर नहीं रह सकती, क्योंकि वह वेश्या है । लोगों का यही विचित्र वियोग है ।

टिप्पणी—भाव यह कि विषय-भोग में मन और पदार्थ का संयोग रहता है । किन्तु भोग के अनन्तर मन को विषय से वियुक्त होना पड़ता है । यह वियोग भोग के क्षणिकत्व का द्योतक है । जीव पुनः उसका स्वाद लेना चाहता है और भोग के अनन्तर फिर वियोग होता है । यह क्षणिकत्व ही ध्वनित करता है कि सांसारिक सुख, सुख नहीं है; वियोग का दुःख है, विषय-भोग में यह वियोग अवश्यंभावी है । वास्तविक सुख शाश्वत है और वह केवल परमार्थ में है । इसी भाव को गीता में बहुत स्पष्ट रूप से इस प्रकार व्यक्त किया है—

> ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
> आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ ( ५।२२ )

'हे कुन्तीपुत्र ! विषयों के संयोग से उत्पन्न होनेवाले सभी भोग सुख के नहीं, दुःख के ही स्रोत हैं, क्योंकि उनका आदि और अन्त है और जिनका आदि और अन्त है, वे वास्तविक सुख नहीं हैं । इसलिए कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति उनमें रमण नहीं करता ।

अलंकार—(१) 'माया पापिनी' में मानवीकरण । (२) दूसरे चरण में काव्यलिंग ।

> कबीर माया पापिनी[5], हरि सौं[6] करै हराम ।
> मुखि[7] कड़ियाली कुमति[8] की, कहन[9] न देई राम ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—हराम = विमुख । कड़ियाली = लगी, लगाम ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जीव को पाप में फँसाने वाली दुष्टा माया, उसे प्रभु से विमुख कर देती है और अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है । वह मुख में दुर्बुद्धि की

---

१ ना० प्र०—पापणीं । २ हनु०, वि०—लोभ भुलाया । ३. हनु०, वि०—भोगिया । ४ हनु० वि०-गु०—यही वियोग । ५ ना० प्र०—पापणीं । ६ ना० प्र०—सौं, हनु०-वि०—सों । ७ अन्य—मुख । ८ हनु०, वि०-गु०—कुबुधि । ९ ना० प्र०—कहण ।

लगाम लगा देती है और रामनाम का उच्चारण नहीं करने देती है। वह अपने मोहक रूप से जीवों को अपनी ओर आकृष्ट करके प्रभु को भुलवा देती है।

अलंकार—रूपक, मानवीकरण।

जानौं[1] जे हरि कौं भजौं, यो मनि मोटी आस।
हरि विचि घालै[2] अन्तरा, माया बड़ी विसास[3] ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—जे=यदि। मनि = मन में। आस=आशा, तृष्णा। घालै=डारै, डालती है। विसास=( ला० अ० ) कपटी, छली।

व्याख्या—माया अपनी मोहक शक्ति से विषयो की ओर आकृष्ट करती है और परमार्थ से वियुक्त कर देती है। इस कारण मैं हरि को नही जान पाता। यदि जान सकूँ तो उसका भजन करूँ। मेरे मन में बड़ी आशा लगी है। परन्तु माया विश्वासघातिनी है। वह मेरे और प्रभु के बीच में व्यवधान डाल देती है। इसलिए मैं हरि का भजन नही कर पाता।

इस साखी का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है—सामान्यतया मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो मैं भगवान का भक्त हूँ, किन्तु मेरे मन में विपुल वासनाएँ और तृष्णाएँ स्थित है। वे माया की ही रूप है। वह ( माया ) मेरे और प्रभु के बीच में अन्तर डाल देती है। यह माया बड़ी कपटी है।

कबीर माया मोहिनी[4], मोहे जाँन सुजाँन[5]।
भागेहू छूटै नहीं[6], भरि-भरि मारै बाँन[7] ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—सुजाँन=चतुर, ज्ञानी।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि माया में विचित्र आकर्षण शक्ति है। श्रेष्ठ ज्ञानी भी उससे मोहित हो जाते है। उससे भागने पर भी छुटकारा नही मिलता, क्योकि वह आकर्षण के वाणो का तीव्र प्रहार किया करती है।

इस अर्थ में 'सुजाँन' को 'जाँन' का विशेषण लिया गया है। यदि दोनों को अलग-अलग संज्ञापद मानें तो अर्थ होगा—चतुर और ज्ञानी भी मोहित हो जाते है।

अलंकार— १) भागेहू छूटै नही' में विशेषोक्ति। (२) मानवीकरण।

कबीर माया मोहिनी[8], जैसी मीठी खांड़।
सतगुर की किरपा[9] भई, नहीं तौ[10] करती भांड़ ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—भांड़=विनाश, वरवादी।

---

१. ना० प्र०—जाणौं, हनु०—मै जाना हरि सों मिलूँ, गु०—मै जानौं हरि सों मिलो। २ हनु०-गु०—वि०—डारैं। ३. हनु०, वि०—गु०—पिसाच। ४ ना०प्र०—मोहनी। ५ ना० प्र०—जाणं सुजांण। ६. ना० प्र०—भागाँ हीं छूटै नहीं, ति०—भागाँ हूँ छाडै नहीं। ७. ना० प्र०—वाँण। ८ ना० प्र०—मोहनी, गुप्त—मोहणीं। ९ ना० प्र०—कृपा। १०. गु०—वि०—नातर, गुप्त—नहीं तर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि माया में विचित्र आकर्षण शक्ति है, जिसके द्वारा जीव विषयों को मधुर समझकर उनकी ओर आकृष्ट होता है। मैं भी उसके प्रलोभन में आ जाता। किन्तु सतगुरु की कृपा हो गई जिससे मैं बच गया, अन्यथा वह मेरा भी पूर्ण विनाश कर देती।

अलंकार—उपमा।

**कबीर माया मोहिनी[1], सब जग घाला घानि[2]।**
**कोइ एक जन ऊबरै[3], जिनि[4] तोड़ी कुल कानि[5]॥ ८॥**

शब्दार्थ—घाला = डाल दिया। घानि=घानी। कानि = मर्यादा।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि माया में एक विचित्र आकर्षण शक्ति है। उसने सबको भव की घानी में पेर डाला है, केवल वही उसके चंगुल से बच सकते हैं, जिन्होंने लौकिक परम्पराओं और मर्यादाओं के बंधन को तोड़कर सत्य के सुन्दर मुख को देखा है।

**कबीर माया मोहिनी[6], माँगी मिलै न हाथि[7]।**
**मना[8] उतारी झूठ[9] करि, (तब[10]) लागी डोलै साथि॥ ९॥**

शब्दार्थ—मिलै न हाथि = हाथ पर नही आती, वश में नही होती। मना = मन से।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि माया ऐसी मोहिनी है जो कि अनुनय-विनय करने पर हाथ में नही आती अर्थात् वह हमारे वश में नही होती। उससे अनुनय-विनय का भाव है—उसमें रत रहना। उस मोहिनी की यही विशेषता है कि जो उसकी ओर आकृष्ट होता है, वह उसी के वश में हो जाता है, उसका अनुचर होकर रहता है, वह स्वयं उसके वश में नही आती। परन्तु जब वह उसको असत्य समझकर अपने चित्त से अलग कर देता है अर्थात् उससे विरत हो जाता है, तब वह स्वयं अनुचर की भाँति उसके पीछे-पीछे लगी फिरती है।

अलंकार—विरोधाभास।

**माया दासी संत[11] की, ऊभी देइ असीस।**
**बिलसी अरु लातौं[12] छड़ी, सुमरि सुमरि जगदीस॥ १०॥**

शब्दार्थ—ऊभी = खडी हुई। लातौ छड़ी = ठुकरा दी गयी।

व्याख्या—प्राकृत जन माया के दास होते हैं। वे उसकी मोहक शक्ति के कारण सदा उसके वश में रहते है। किन्तु सन्त उसके दास नही होते। वह स्वयं सन्त की

१ ना० प्र०–मोहनी, गुप्त–मोहणीं। २ ना० प्र०–घाल्या घाणि। ३ हनु०, वि०–साधू ऊबरा। ४. हनु०, वि०—यु०—'जिनि' नहीं है। ५ ना० प्र०—काणि। ६. ना० प्र०—मोहनी। ७. वि०—हाथ। ८ ना० प्र०—मनह। ९ वि०—जूठ करू। १०. वि०–में 'तब' नहीं है। ११ हनु०–दास, यु०–वि०—साधु। १२ वि०–यु०–लाते, ति०—लातों।

दासी हो जाती है और एक आश्रित सेविका की भाँति खड़ी-खडी आशीर्वाद देती रहती है अर्थात् जय मनाती रहती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कोई दासी अपने प्रभु के सामने सदा हाथ पसारे हुए उसके आदेशों के संकेत की ओर देखती रहती है, उसी प्रकार माया सन्त के आदेशों का पालन करती रहती है। सामान्य लोग विषयों में फँसानेवाली माया के वशीभूत रहते है, किन्तु सन्त प्रभु के स्मरण-बल से विषयो का केवल उपयोग कर लेते है, उनके आकर्षण के वश में नही आते। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए कबीर ने कहा है—'बिलसी अरु लातौ छड़ी' अर्थात् सन्त मायाजन्य विषयो का भोग तो कर लेते है, परन्तु उन्हें लात मारकर दूर कर देते है।

**माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया सरीर।**
**आसा तृष्णां[1] नाँ मुई, यौं कहै[2] दास कबीर॥ ११॥**

व्याख्या—कबीर कहते है कि प्राणी का आवागमन होता रहता है। वह एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता रहता है। वह बार-बार मरता है, किन्तु शरीरान्त के साथ न तो माया की आकषण शक्ति का अन्त होता है और न मन की लिप्सा का अन्त होता है। प्राणी के भीतर आशा और तृष्णा बराबर बनी रहती है।

**आसा जीवै जग मरै, लोग मरे मरि जाइ[3]।**
**सोइ मूवे धन संचते[4], सो[5] उबरे जे खाइ[6]॥ १२॥**

व्याख्या—संसार के सभी लोग मरते रहते है, किन्तु वासना नही मरती। जो लोग मरते रहते है, वे जन्म धारण कर पुनः मरते है। मृत्यु से पिण्ड नही छूटता और तृष्णा निरन्तर साथ लगी रहती है। जो लोग केवल धन का संचय करते रहते है, उसका सम्यक् उपयोग करना नही जानते, वे मृत के समान है। किन्तु जो इस धन का उपयोग करते है, वे वस्तुतः जीवित है। इसी प्रकार जो केवल कर्मो का संचय करते रहते है, वे मृत के समान हैं। किन्तु जो कर्मो को ज्ञान और वैराग्यपूर्वक भोगकर उन्हें क्षीण कर देते है उनमें उनकी वासना नही रह जाती। वे ही वास्तव में जीवित है। उन्ही का जीवन सार्थक है।

अलंकार—विरोधाभास।

**कबीर सो धन संचिए, जो आगे को[7] होइ।**
**सीस[8] चढ़ाए पोटली[9], ले[10] जात न देखा[11] कोइ॥ १३॥**

शब्दार्थ—आगे को = भावी जीवन। पोटली = गठरी।

---

१. ना० प्र०—त्रिष्णाँ। २. ना० प्र०—कहि गया, हनु०—त्रि०—कथि कहै, गुप्त—कह गया। ३. ति०—जाँहि, हनु०—जाय। ४. ति०—धन संचै तेई मुए, हनु०—धन संचय सोऊ मरे। ५ हनु०, उबरै सो धन खाय। ६. ति०—खाँहि ७. ना० प्र०—आगैं कूँ, ति०—आगाँ कौं। ८. ति०—मूड, हनु०—माथ। ९ हनु०—गाठरी। १०. हनु०—'ले' नहीं है। ११. ना० प्र०—देख्या।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि सुकृत रूपी धन का संचय करो, जो भावी जीवन में काम आये। कर्म तीन प्रकार के होते हैं—क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध। जीव इस जीवन में जो कर्म करता है, वे क्रियमाण कहलाते हैं, उनका फल तत्काल नहीं मिलता। वे धीरे-धीरे संचित होते रहते हैं और भावी जीवन में उनका फल मिलता है। भावी जीवन में वही प्रारब्ध हो जाते हैं अर्थात् फल की प्राप्ति प्रारम्भ हो जाती है। कबीर का उपदेश है कि हे जीव! ऐसे पुण्य कर्मों का संचय करो जो तुम्हारे भावी जीवन में शुभ फल दें।

लोग सासारिक धन-संचय में लगे रहते हैं। प्राण निकलते समय मैंने किसी को भी सिर पर इस धन की गठरी ले जाते हुए नही देखा। किन्तु सत्कर्म रूपी धन ऐसा है जो जीव के साथ जाता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

> तिरिया त्रिष्नां पापिनी[१], तासों[२] प्रीति न जोर[३]।
> पेंड बैठि पाछे परै[४], लागै मोटी खोर[५]॥ १४॥

शब्दार्थ—तिरिया = स्त्री। पेंड बैठि=रास्ते में बैठकर, घात लगाकर। खोर=दोष।

व्याख्या—तृष्णा रूपी कामिनी पापिनी है। हे जीव! तू उससे प्रेम का नाता न जोड। वह घात में लगी रहती है। यदि उसे किञ्चित भी यह संकेत मिलता है कि जीव उसके आकर्षण में आ गया है तो वह पीछे पड़ जाती है अर्थात् वह जीव को सर्वरूपेण अपने वश में कर लेती है। बेचारा जीव उसके वश में आकर ऐसे कार्य करता है जिससे उसे भारी दोष लग जाता है।

अलंकार—रूपक।

> त्रिष्नां[६] सींची नां बुझै, दिन दिन बढ़ती[७] जाइ।
> जावासा[८] के रूष ज्यूं, घन[९] मेहां कुम्हिलाइ॥ १५॥

शब्दार्थ—जावासा = (सं०—यावासक) एक प्रकार का कँटीला पौधा जिसके पत्ते वृष्टि से मुरझाकर गिर जाते हैं। घन मेहां = घनी वृष्टि। कुम्हिलाय = (सं०—कु + म्लान) सूख जाना, मुरझाना।

व्याख्या—आग को शान्त करने का उपाय है—उस पर जल डालना। इससे वह बुझ जाती है। तृष्णा को शान्त करने के लिए बेचारा जीव सोचता है कि यदि उसका भोग कर लिया जाय तो वह मिट जायेगी। किन्तु तृष्णा ऐसी विचित्र आग है कि इसे

---

१. ना० प्र०—त्रीया त्रिणा पापणीं, हनु०—कबीर तृष्णाँ पापिनी। २. ना० प्र०—तासूँ, हनु०—तासु। ३ ना० प्र०—जोडि। ४ ना० प्र०—पैंडी चढि पाछां पडै। ५. ना० प्र०—खोडि। ६. ना० प्र०—त्रिष्णां। ७ गुप्त—वधती, हनु०—अधिकी लाभ। ८. ना० प्र०—जवासा, हनु०—जावासा के रूप ज्यों। ९ ना० प्र०—घण, हनु०—घना मेघ।

जितना ही भोग रूपी वारि के द्वारा शान्त करने का प्रयत्न किया जाता है, यह उतनी ही प्रज्वलित होती जाती है। परन्तु प्रभु की घनी कृपा-वृष्टि से यह उसी प्रकार वुझ जाती है, जैसे घोर वर्षा से जवासे का पौधा पत्रविहीन हो जाता है।

अलंकार—विशेषोक्ति, उपमा।

**कबीर जग की कौ कहै[1], भौ[2] जलि बूड़ैं दास।**
**पारब्रह्म पति छाँड़ि करि[3], करैं मांन[4] की आस॥ १६॥**

शब्दार्थ भौ जलि = संसार रूपी जल में। पति = स्वामी। मान = सम्मान, अहंभाव।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि साधारण सांसारिक लोगों की वात कौन कहे? इस भव-सागर में वे भक्त भी डूब जाते हैं जो प्रभु जैसे स्वामी को छोड़कर सम्मान की आशा में लोगों के सम्मुख अपने प्रभुत्व और सिद्धियो के प्रदर्शन में लगे रहते है।

रूपक—'भौ जलि' में रूपक।

**माया तजी तौ[5] का भया, जौ मान तजा नहिं जाइ[6]।**
**मानि बड़े मुनिवर[7] गिले, मांन[8] सबनि कौं[9] खाइ॥ १७॥**

शब्दार्थ—माया = विषयो का आकर्षण। गिले = निगल गया।

व्याख्या—धन-द्रव्य और विषयो के आकर्षण को छोड़ भी दिया जाय, तव भी पूर्णता नही प्राप्त होती, क्योंकि मान का लोभ जो कि सूक्ष्म अहंभाव का भयंकर बाह्य रूप है, नही छोड़ा जाता। अहंभाव और प्रतिष्ठा का लोम अन्योन्याश्रित है। मान के लोभ ने श्रेष्ठ मुनियों को भी खा डाला है अर्थात् उन्हें भी नष्ट कर दिया है। वे भी उसके कारण आध्यात्मिक उत्कर्ष से पतित हो गए है। मान का लोभ सवको खा जाता है अर्थात् नष्ट कर देता है।

**राँमहि थोरा[10] जानि करि, दुनियाँ आगैं दीन।**
**जीवाँ[11] कौं राजा कहै, माया के आधीन॥ १८॥**

शब्दार्थ—जीवाँ = साधारण प्राणी।

व्याख्या—लोग अज्ञानवश सर्वशक्तिमान राम की महत्ता में विश्वास न कर, उनकी सामर्थ्य को सीमित समझकर, संसार के तथाकथित ऐश्वर्यवान जनों के सामने अपनी दीनता प्रकट करते हैं और उनसे सहायता-प्राप्ति की आकाक्षा करते है। मायाजन्य अज्ञान

---

१. हनु०—क्या कहौं, यु०—कहा कहूँ २ हनु०-भव जल, यु०-जो भले। ३ हनु०, यु०-के। ४ ना० प्र०—मौंनि, हनु०-यु०—मनुष। ५ ति०-त। ६. ना० प्र०-मौंनि तजी नहीं जाइ। ७. ना० प्र०-मुनियर। ८. ना० प्र०-मानि। ९ ना० गुस—कूँ। १०. ना० प्र०—थोड़ा जाँणि। ११. हनु०—यु०—जीवन।

के अधीन होकर वे उन जीवों को स्वामी मान बैठते है जो कि स्वयं माया के वश में क्षुद्र दास है।

रज बीरज की कली[१], तापर साजा[२] रूप।
राँम[३] नाम बिन बूड़िहै, कनक कामिनी[४] कूप ॥ १९ ॥

व्याख्या—बेचारा मानव है क्या? स्त्री के रज और पुरुष के वीर्य के संयोग की एक कलिका मात्र। उसके ऊपर से हाड-मांस का सजाया हुआ रूप। उसमें इतनी सामर्थ्य कहाँ कि वह संसार के प्रलोभनों से बच सके। प्रभु-नाम के सहारे के बिना उसका कामिनी और कंचन रूपी कूप में डूब मरना अवश्यंभावी है।

अलंकार—रूपक।

माया तरुवर[५] त्रिविध का, साखा[६] दुख[७] संताप।
सीतलता सुपिनैं नहीं, फल फीका[८] तनि[९] ताप ॥ २० ॥

शब्दार्थ—त्रिविध = तीन प्रकार का, त्रिगुणात्मक। सुपिनैं = स्वप्न में भी। तनि = तन में, शरीर में।

व्याख्या—माया त्रिगुणात्मक ( सत्त्व, रजस्, तमस् ) वृक्ष है। दुःख और संताप इसकी शाखाएँ हैं। सामान्य वृक्षो में यह विशेषता होती है कि उसकी छाया मे शीतलता प्राप्त होती है, किन्तु माया ऐसा विचित्र वृक्ष है कि इससे स्वप्न मे भी शीतलता नही प्राप्त हो सकती है। यह सदा शोक और मोह का कारण बना रहता है। इसमें सत्त्व गुण दबा रहता है। अन्य वृक्षों से मीठा फल प्राप्त होता है, किन्तु इस वृक्ष का फल भी फीका और निस्सार होता है अर्थात् माया के वशीभूत होकर कोई भी जीव जीवन के माधुर्य का अनुभव नही कर सकता। इसके फल का स्वाद फीका होता ही है, तन में ताप भी पैदा करता है।

अलंकार—सांगरूपक। दूसरे चरण में व्यतिरेक।

कबीरा माया डाकिनी[१०], सब काहू[११] कौं खाइ।
दाँत उपारूँ[१२] पापिनी, जे[१३] संतों नियरे[१४] जाइ ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—डाकिनी = पिशाचिनी, राक्षसी। उपारूँ = उखाड़ लूँ। जे = यदि। नियरे = निकट।

व्याख्या—कबीर कहते है कि माया ऐसी भयंकर पिशाचिनी है जो सबको खा

---

१ ति०-कोयली। २ ना० प्र०-तापरि साज्या। ३. ति०-एक। ४. ना० प्र०-कांमणी, गुप्त-कांमनी। ५ ना० प्र०-तरवर। ६. वि०-सोक। ७ ति०-यु०-विखै। ८. ना० प्र०-फीको। ९ ति०-यु०-वि०-तन। १० ना० प्र०-डाकणीं। ११. ना० प्र०-किसही कौं। १२. ना० प्र०-उपाड़ौं पापणीं। १३. ति०-जे संतौं। १४. ना० प्र०-नेड़ी, वि०-यु०-जे संतां नीडे।

जाती है अर्थात् सबका विनाश करती है। परन्तु यदि वह संत के निकट फटके तो मैं उस पापिनी का दाँत उखाड़ दूँगा अर्थात् उसको असमर्थ कर दूँगा।

अलंकार—रूपक।

**नलनी[1] सायर घर किया, दव[2] लागी बहुतेन[3]।**
**जलही माहैं[4] जलि मुई, पूरब जनम लिखेन[5] ॥ २२ ॥**

शब्दार्थ—नलनी = कमलिनी (प्र० अ०) जीवात्मा। सायर = सागर (प्र० अ०) माया। दव = वड़वाग्नि। बहुतेन = ('तेन' तृतीया का बोधक) बहुत भारी। लिखेन = लेख के अनुसार।

व्याख्या—कमलिनी रूपी जीवात्मा ने माया रूपी सागर में निवास बनाया। उसने यही सोचा था कि इसमें हमें शीतलता प्राप्त होगी। उसको यह पता नही था कि सागर में वड़वानल है। उसके कारण भयंकर आग लग गई। जल में रहते हुए भी पूर्व-जन्म के कर्मों के लेखानुसार वह जल मरी अर्थात् उसका विनाश हो गया।

टिप्पणी—माया का सागर से सादृश्य बहुत व्यंजक है। सागर में क्षोभ होता रहता है, उसी प्रकार माया क्षोभ को उत्पन्न करती रहती है। नलिनी कोमल, श्वेत और शान्त होती है। इसीलिए उसकी तुलना जीवात्मा से की गई है। जलाशय में नलिनी की वृद्धि होती है, किन्तु माया ऐसा भयंकर जलाशय है कि आपाततः जल की प्रतीति होने पर भी उसके भीतर वड़वानल धधकता रहता है। यह माया की मोहक शक्ति का संकेत है जिसके कारण बेचारे जीव में विषय की तृष्णा जागृत होती है। यह तृष्णा ऐसी भयंकर आग है कि जल में रहते हुए भी बेचारी नलिनी रूपी जीवात्मा विनाश को प्राप्त होती है अर्थात् अपने स्वरूप का ज्ञान खोकर विषयों में आसक्त रहती है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति, विरोधाभास।

**कबीर गुण की बादली, तीतरवानीं छाँहि[6]।**
**बाहरि रहे ते[7] ऊबरे, भींगे मंदिर माँहि[8] ॥ २३ ॥**

शब्दार्थ—तीतरवानीं = तीतरवर्णी, तीतर (पक्षी) के वर्णवाली अर्थात् मिश्रित रंगवाली।

व्याख्या—इस साखी में विरोधाभास, लक्षणा और व्यञ्जना का अद्भुत चमत्कार है। त्रिगुणात्मिका (सत्त्व, रजस्, तमस्,) माया की उपमा बदली से दी गई है, जिसकी तीतरवानी अर्थात् रंग-बिरंगी मिश्रित छाया होती है। जैसे माया बहुरंगी है, वैसी ही उसकी छाया भी बहुरंगी है।

१. हनु०—ल्लनीं। २. ना० प्र०—दौं। ३. ना० प्र०—बहुतेंणि। ४. हनु०—माहीं। ५. ना० प्र०—लिपेणि। ६. हनु०—तीतिरवाली छाँह। ७. हनु०—सो। ८. हनु०—मोह।

मन्दिर का लक्ष्यार्थ है—आश्रय स्थल, सुरक्षित स्थान। मनुष्य वर्षा से बचने के लिए सुरक्षित स्थान पर जाता है। परन्तु जिस माया की छाँह को जीव ने अज्ञानवश अपना आश्रयस्थल बना रखा है, उसमें ऐसा वैचित्र्य है कि उस माया रूपी बदली की वर्षा से बचने के बजाय वह और भीग जाता है अर्थात् जिस माया रूपी बदली की छाँह को जीव ने अपना आश्रय बनाया था, वही उसके पतन का कारण हो जाती है। माया के वश में विषय-भोग में लिप्त रहने से जीव वासना और आसक्ति से लिप्त होकर अधोगति को प्राप्त होता है। जिन लोगों ने उस छाँह को अपना आश्रय-स्थल नहीं बनाया, उससे दूर रहे अर्थात् उसके प्रभाव से पृथक् रहे, वही भीगने से बच गए अर्थात् विषय-वासना में आसक्त नहीं हुए।

अलंकार—रूपक, विरोधाभास।

> कबीर माया मोहिनी[1], भइ अँधियारी[2] लोइ।
> जे[3] सूते ते मुसि गए[4], रहे वस्तु[5] कौं रोइ॥ २४॥

शब्दार्थ—लोइ=लोक, लोग। मुसि गए = लूट गए। वस्तु=पूँजी।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि माया में विचित्र मोहक शक्ति है। उसके कारण लोक में अज्ञान का अंधकार छा जाता है। जो अज्ञानवश मोह-निद्रा में पड़ गए, वे अपने मूलधन अर्थात् आत्मस्वरूप के ज्ञान को खो बैठे और उस मूलधन के लिए जीवन-भर बिलखते रहे।

> साँकर[6] हूँ तैं सबल[7] है, माया इहि[8] संसार।
> ते[9] क्यूं छूटैं बापुरे[10], बांधे[11] सिरजनहार॥ २५॥

शब्दार्थ—साँकर = जंजीर। सिरजनहार = स्रष्टा।

व्याख्या—इस संसार में माया जंजीर से भी अधिक दृढ़ बन्धन है। जब स्वयं स्रष्टा ने सबको माया रूपी बन्धन में बाँध रखा है तो बेचारे संसारी जीव (बिना गुरु की सहायता अथवा प्रभु-कृपा के) कैसे छूट सकते हैं?

दूसरे चरण का हनु०, वि० प्रतियों में पाठ इस प्रकार है—'अपने बल छूटैं नहीं, छुड़वै सिरजनहार।' इसका अर्थ होगा—वे अपनी सामर्थ्य से नहीं छूट सकते, जब प्रभु का अनुग्रह होता है, तभी वे माया से छूट सकते हैं।

अलंकार—व्यतिरेक।

---

१ ना०प्र०—मोह की। २. ना० प्र०—भई अंधारी। ३. वि०—जो सोये सो मुसि गए। ४ ना० प्र०—लिए। ५ ना० प्र०—बसत कूं, गु०—वि०—वस्तु को। ६ ना० प्र०—सकल ही। ७ ना० प्र० सब लूटै। ८. वि०—या, हनु०—यहि। ९ हनु०—वि०—अपने बल छूटैं नहीं, छुड़वै सिरजनहार। १०. ना० प्र०—बापुड़े। ११. ति०—जिनि बांधे।

बाड़ि[१] चढ़ंती वेलि[२] ज्यूं, उलझी[३] आसा फंध।
टूटै[४] पर छूटै नहीं, भई जो बाचाबंध[५] ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—बाड़ि = बाड़ पर, फसल की रक्षा के लिए काँटे-बाँस आदि के बनाये हुए घेरे को बाड़ कहते हैं। ( दे०—बृहत् हिन्दी कोश, पृ० ९६२ )। फंध = बन्धन वाचाबंध = वचनबद्ध।

व्याख्या—माया के कारण मानव में उत्पन्न तृष्णा, बाड़ पर चढ़ी हुई वेलि के समान है। उसका फंदा या बंधन बाड़ के काँटे के समान है। जिस प्रकार वेलि को बाड़ के काँटे से छुड़ाने का यत्न करने पर, उसे सुलझाने का प्रयत्न करने पर, वह उसी से अधिकाधिक उलझती जाती है। वह टूट भले ही जाय, किन्तु छूट नहीं पाती। उसी प्रकार जीव तृष्णा के फंदे में ऐसा फँसा रहता है कि प्रयत्न करने पर, समझाने-बुझाने पर वह तृष्णा कुछ समय के लिए क्षीण भले हो जाय, किन्तु सर्वथा विनष्ट नही होती वह जीव की अवचेतना मे वासना के रूप में विद्यमान रहती है। जैसे कोई वचनबद्ध मनुष्य अपने वचन से अलग नही होता, वैसे ही जीव तृष्णा से छुटकारा नही प्राप्त कर पाता।

अलंकार—उपमा।

सब आसन[६] आसा तणाँ[७], निवरति कोई नाँहि[८]।
निवरति कै निवहै नहीं[९], प्रवृत्ति[१०] परपँच माँहि ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—आसन = योगासन, हठयोग द्वारा प्रतिपादित बैठने और विभिन्न अंगो के व्यायाम की विधियाँ। तणाँ = राजस्थानी प्रयोग 'का' के अर्थ में। निवरत=निवृत्ति।

व्याख्या—कठिन योगासन लगानेवाले बड़े-बड़े योगी भी सिद्धि की आशा में लगे हुए हैं। ये आसन निवृत्ति या निरासक्ति की ओर ले जानेवाले नही हैं। जो प्रवृत्ति के प्रपंच में फँसे हुए हैं, उनसे निवृत्ति का निर्वाह नहीं हो सकता। प्रवृत्ति आसक्ति की ओर ले जाती है, चाहे वह आसक्ति सांसारिक विषयों के लिए हो या सिद्धि के लिए। निवृत्ति मुक्ति की ओर ले जाती है। जो किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति में फँसा हुआ है, भला वह निवृत्ति का निर्वाह कैसे कर सकेगा ?

कबीर इस संसार का[११], झूठा माया मोह।
जिहि घरि जिता[१२] वधावना, तिहि घरि तिता अँदोह[१३] ॥ २८ ॥

---

१, हनु०—वाट। २ ति०—हनु०—वेलरी। ३. ति०—हनु०—उरझी। ४. ना० प्र०—तूटै पणि ५ ना० प्र०—ज वाचा वंध। ६ ना० प्र०—आसण। ७ हनु०—तना। ८ ना० प्र०—निवर्तिकै को नाँहि। ९. हनु०—निवृत्ति को जानै नहीं। १०. ना० प्र०—परवति। ११. हनु०—वि०—या संसार क झूठी, यु०—या संसार को लाग्यो। १२ ना० प्र०—जिता वँधावणाँ, यु०—जेता वधवनाँ। १३. हनु०— वि०—यु०—घर तेता दोह।

## (१७) चाँणक को अंग

जीव विलंब्या जीव सौं, अलख न लखिया जाइ।
गोविंद मिलै न झल बुझै, रही बुझाइ बुझाइ ॥ १ ॥

शब्दार्थ—चाँणक = ( सं०-चाणक्य ) ई० पूर्व चौथी शताब्दी के राजनीति के एक आचार्य, जो पाटलिपुत्र के सम्राट् चन्द्रगुप्त के गुरु और मंत्री थे। ये परम चतुर थे। उन्ही के आधार पर यह शब्द बना है। भाव है—चातुर्य, चतुराई। विलंब्या = सहारा लेना, रमा रहना। झल = ज्वाला।

व्याख्या—एक जीव का दूसरे जीव में ही लगाव बना रहता है। वह उसी में भूला रहता है। अलक्ष्य ब्रह्म देखा नही जाता। इसलिए उसकी ओर प्रवृत्ति नही होती। कोई उसकी खोज ही नही करता। किन्तु जब तक प्रभु नही मिलते, तब तक दुःख की ज्वाला नही बुझ सकती। उसके बुझाने का चाहे जितना प्रयत्न क्यो न किया जाय।

अलंकार—'बुझाइ बुझाइ' में पुनरुक्ति-प्रकाश।

यही[1] उदर कै कारनैं[2], जग जाँच्यौ[3] निस जाम।
स्वामीपनो[4] जु सिरि चढ़्यो,[5] सर्‌यो न एको काम ॥ २ ॥

शब्दार्थ—जाँच्यौ = याचना करता रहा, माँगता फिरा। स्वामीपनो = स्वामित्व का भाव, अहं का भाव। सर्‌यो = सफल हुआ, सिद्ध हुआ। जाम = ( सं० याम ) प्रहर।

व्याख्या—इस उदर की पूर्ति के लिए बेचारा जीव दिन-रात संसार में सबसे याचना करता रहता है। याचक होते हुए भी उसका स्वामित्व का भाव, अहंता का भाव सिर पर चढा रहता है। इसलिए उसका लौकिक अथवा पारलौकिक कोई भी काम सिद्ध नही होता।

स्वामी होना[6] सोहरा[7], दोहरा[8] होना दास।
गाड़र आनी ऊन को[9], बाँधी चरै कपास ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—सोहरा = सरल। दोहरा = कठिन। दास = प्रभु का दास, भक्त। गाडर = भेंड।

---

१ ना० प्र०—इहा, हनु०—वि०—यु०—इस। २ ना०प्र०—कारणैं। ३ ना० प्र०—जाँचा। ४ ना० प्र०—स्वामी पणौं ति०—स्वामीपना, हनु०—स्वामीपन। ५ ति०—चढा। ६. ति०-सरा, ना० प्र०—सर्‌या, हनु०-सरे। ना० प्र०-हूँणा। ७. गुप्त-सोरहा। ८ ना० प्र०—दोद्धा हूँणा, गुप्त०--दोरहा। ९ ना० प्र०—आँणी ऊन कू।

व्याख्या—गद्दीधारी गुरु बन बैठना सरल है, किन्तु प्रभु का सच्चा भक्त बनना कठिन है। जो गुरुवा बन बैठता है, उसमें से अहं या स्वामित्व का भाव नही जाता। वह अनेक शिष्यों एवं गद्दी की सम्पत्ति में और अधिक स्वामित्व के भाव का बोध करने लगता है, जिससे उसके अहं का भाव और अधिक बढ जाता है। जैसे कोई गड़ेरिया भेंड़ को ऊन के लिए लाकर बांधे, किन्तु ऊन मिलना तो दूर रहा, वह बँधी हुई भेड निकट पडी हुई कपास की गाँठ को ही चर जाय, वैसी ही स्थिति उन लोगो की होती है जो कि साधु तो बनते है वैराग्य और मुक्ति के लिए, परन्तु अन्य लोगो के ऊपर अपना प्रभाव जमाने की प्रवृत्ति के कारण उनके सिर पर स्वामित्व का भाव सवार हो जाता है और वे लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाते है।

अलंकार—निदर्शना।

**स्वामी हूता[1] सेंत[2] का, पैकाकार[3] पचास।**
**राम नाँम काँठै[4] रह्या[5], करै सिषां[6] की आस॥ ४॥**

शब्दार्थ—सेंत का = मुफ्त का, बिना पूँजी लगाए हुए। पैकाकार = सेवक। काँठै रह्या = किनारे रहा। सिखा = शिष्य। आस = तृष्णा।

व्याख्या—तथाकथित साधु विशेष साधना किये बिना केवल वेष-भूषा से स्वामी बन बैठे और उनके पचासों शिष्य रूप में सेवक हो गए। रामनाम तो दूर रहा, उनके मन में शिष्यों में वृद्धि की तृष्णा बढती गयी। प्रभु की प्राप्ति के लिए जिस अहंता को समाप्त करना आवश्यक है, वह और बढती गयी तथा उसके कारण तृष्णा की वृद्धि होती गयी और उन्हे लक्ष्य की प्राप्ति न हो सकी।

**कबीर तष्टा[7] टोकनी[8], लीए[9] फिरै सुभाइ।**
**राम नाँम चीन्हे[10] नहीं, पीतलि[11] ही कै चाइ॥ ५॥**

शब्दार्थ—तष्टा = (फा०—तश्त > तश्ता > तष्टा) तसला। टोकनी = भिक्षा-पात्र। सुभाइ = स्वभाव।

व्याख्या—कबीर कहते है कि दिखावटी साधु अपने स्वभाव के अनुसार तसला और टोकनी (भिक्षा-पात्र) लिये घूमते रहते है। उनका रामनाम से कोई परिचय नही है। वे पीतल आदि धातुओ के बर्तनो और सिक्को की लालसा में ही लगे रहते है। उनकी सारी चतुराई सासारिक भोग तक ही सीमित रहती है।

हनु० वाली प्रति मे इसका पाठ इस प्रकार है—

---

१. हनु०—होना। २. ना० प्र०—सीतका, गुप्त०—सीति का। ३ हनु०—वि०—पैसे केर। ४ हनु०—वि०—धन बेंचि के। ५. ना० प्र०—रह्या। ६ ना०प्र०—सिषां, हनु०—वि०—सीष। ७. हनु०—वि०—यु०—तृष्ना टोकना। ८ ना० प्र०—टोकणी। ९ ति०—लीया, हनु०—वि०— लीया डोलें स्वाद, यु०—लीयें डोलें साधु। १०. हनु०—वि०—यु०—जाना। ११. हनु०—वि०—यु०—जनम गँवाया वाद।

कबीर तृष्णा टोकना, लीया डोलै स्वाद ।
राम नाम जाना नहीं, जनम गँवाया बाद ॥

इसका अर्थ इस प्रकार होगा—

कबीर कहते हैं कि तृष्णा रूपी टोकनी लिये हुए दिखावटी साधु विषयों के स्वाद के लिए घूमते-फिरते हैं। राम-नाम से उनका कोई परिचय नही होता। उनका जन्म व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है।

**कलि का स्वाँमी लोभिया, पीतल[1] धरी खटाइ ।**
**राजदुवारैं[2] यौं फिरै, ज्यौं हरहाई[3] गाइ ॥ ६ ॥**

शब्दार्थ—खटाइ = खटाई। हरहाई=नटखट।

व्याख्या—कलियुग के दिखावटी साधु लोभी होते हैं। वे पीतल में रखी हुई खटाई के समान विकृत या विकारग्रस्त हो जाते हैं। जिस प्रकार स्वाद के वशीभूत होकर नटखट गाय खेतों में घुस जाती है, उसी प्रकार इस युग के स्वामी-महंत आदि राज-दरबारो में लोभ और सम्मान के लिए भटकते फिरते हैं।

अलंकार—उपमा।

**कलि का स्वामी लोभिया, मनसा रहै[4] बंधाइ ।**
**देवै पैसा[5] ब्याज कौं, लेखा करता जाइ[6] ॥ ७ ॥**

शब्दार्थ—मनसा=( अरबी-मनशा ) कामना, अभिलाषा। बंधाइ = बढ़ाइ, वृद्धि। लेखा=हिसाब-किताब, आय-व्यय का विवरण।

व्याख्या–कलियुग का संन्यासी अपनी चतुराई में लगा रहता है। वह लोभ के वशीभूत रहता है। उसकी कामना या अभिलाषा बढ़ती ही जाती है। वह लोगों को ब्याज पर रुपये उधार देता है और उनका पूरा हिसाब-किताब रखता है। ऐसे स्वामियो और संसारी जीवो में क्या अंतर है ?

**कबीर कलि खोटी[7] भई, मुनियर मिलै न कोइ[8] ।**
**कामी[9] लोभी मसखरा,[10] तिनका[11] आदर होइ ॥ ८ ॥**

शब्दार्थ—मुनियर = मुनिवर। मसखरा = भोंडो बातो से दूसरो का विनोद करनेवाला।

---

१. ना० प्र०–पीतलि धरी पटाइ, हनु०-वि०—पीतल धरै खटाय। २. ना० प्र०–राजदुवारौं। ३. ना० प्र०–ज्यूँ हरिहाई, हनु०--वि०—ज्यो हरियाई। ४. ना० प्र०–धरा। ५ ना० प्र०—देहिं पईसा। ६. ना० प्र०–लेखा कारतां, वि०–यु०–लेख करत दिन जाय। ७ ति०—कलियुग आइया, हनु०-वि०—कलिजुग कठिन है। ८. हनु०-वि०—साधु न मानै कोय। ९. ना० प्र०—लालच। १०. ना० प्र०—मसखरा। ११. ना० प्र०–तिनकूँ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि कलियुग इतना खोटा हो गया है कि खोजने पर भी कोई सच्चा मुनि या साधु नही मिलता। कामी, लोभी और मसखरे लोगो का ही इस युग में आदर होता है।

तुलनीय—जो कह झूठ मसखरी जाना।

कलजुग सोइ गुनवन्त बखाना ॥

—मानस।

**चारि[1] वेद पंडित पढ़ै, किया न हरि से हेत।**
**बालि कबीरा ले गया, पंडित ढ़ूढ़ैं खेत ॥ ९ ॥**

शब्दार्थ—बालि=बाली।

व्याख्या—पंडित चारों वेदों का अध्ययन करके भी प्रभु से प्रेम करना नहीं जानता। उसे केवल वाक्य-ज्ञान होता है। वह वेदो के मर्म या सार का ग्रहण नहीं करता। वेद रूपी खेत में प्रेम और ज्ञान से युक्त बाल, जो सारतत्त्व है, उसे कबीर ने ग्रहण कर लिया और शब्दानुरागी पंडित केवल थोथे शब्दो मे उसे खोजते रहे।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

**बाम्हन[2] गुरु[3] जगत का, साधू[4] का गुरु नाहिं।**
**उरझि पुरझि करि मरि रहा,[5] चारिउ वेदाँ[6] माहिं ॥ १० ॥**

व्याख्या—ब्राह्मण संसार का गुरु भले ही हो, किन्तु वह साधु का गुरु नही हो सकता, क्योंकि स्वानुभूतिरहित साधारण जन कोरे मर्महीन शब्दों की चकाचौंध मे भले ही आ जायँ, किन्तु साधु का आधार स्वानुभूति है। वह आत्मसाक्षात्कार को ही परम तथ्य मानता है। शब्द-शास्त्री कोरे पंडित उसके गुरु नही हो सकते। जो कोरे शब्द-शास्त्री हैं, वे वेदो के शब्दजाल में उलझ-पुलझकर मरते रहते हैं।

**साकत सन[7] का जेवड़ा, भींगा सूँ कठठाइ।**
**दोइ अषिर गुरु बाहिरा, बाँधा[8] जमपुरि जाइ ॥ ११ ॥**

शब्दार्थ—साकत = शाक्त। जेवड़ा = रस्सी। कठठाइ = कड़ा होना। अषिर = अक्षर।

व्याख्या—शाक्त भी अपनी चतुराई से साधना को सांसारिक लाभ का साधन बनाता है। वह सन की रस्सी के समान है, जो भीगने से अधिक कठोर होती जाती है अर्थात् वह ( शाक्त ) वासना और लोभ से चिपककर और भी कठोर हृदय और सांसारिक हो

---

१. ना० प्र०—चारिउ वेद पढाइ करि, हरि सूँ न लाया हेत। २. ना० प्र०—ब्राह्मण। ३. ति०—हनु०, यु०—गुरु है। ४. ति०—भगताँ, हनु०—साधुन, यु०—करम भरम का खाहिं। ५. ति०—कै मरि गया, हनु०—यु०—कै मरि गए। ६. हनु-यु०—चारों वेदों। ७. ना० प्र०—सापित सण। ८ ना० प्र०—बाँध्या।

जाता है। उसके भीतर से उच्च आदर्शों और भावो का रस सूख जाता है। वह कतिपय वाह्य चमत्कारो में पड़ा रहता है और राम-नाम के दो अक्षरों की दीक्षा तथा गुरु-कृपा से विरहित रहता है। वह लौकिक सुखो को भले ही प्राप्त कर ले, किन्तु अपने पाप-कर्मो से बँधा हुआ वह यमपुर को अवश्य जायगा।

अलंकार—उपमा गर्भितरूपक।

पारोसी सो रूठना,[1] तिल तिल सुख की हानि[2]।<br>
पंडित भया[3] सरावगी, पानी पीवै छानि[4]॥ १२॥

शब्दार्थ—सरावगी = श्रावक, जैन-साधु।

व्याख्या—पंडित जैन-साधु के समान अहिंसा की ढोल पीटते है और बाह्याचार में इस सीमा तक अहिंसा-व्रत का पालन करते है कि जल को भी इसलिए छानकर पीते है कि कही उसमें कीटाणु न चले जायँ। वे वाह्याचार मे तो इतना बड़ा आडम्बर करते है, किन्तु वास्तविक व्यवहार में उनकी यह दशा है कि अपने पड़ोसी तक से रूठे रहते है। उनके प्रति हिंसात्मक व्यवहार करते हैं, जिससे वास्तविक सुख का क्षय होता है।

पंडित सेती कहि रहा[5], भीतरि भेदा[6] नाहि।<br>
औरां[7] कौं परमोधता, गया मुहरकां मांहि॥ १३॥

शब्दार्थ—परमोधता = प्रबोध। मुहरकां = (अ० मुहर्रिक) नेतागिरी, अगुआगिरी।

व्याख्या—पंडित को अनेक प्रकार से उपदेश दिया, किन्तु ठहरा तो वह पंडित—शब्दों का अनुरागी। उसके हृदय में उपदेश का मर्म प्रवेश न कर सका। परिणाम यह हुआ कि वह सदा शब्दजाल में ही पड़ा रहा। वह औरों को तो जगाने के लिए उपदेश देता रहा, किन्तु स्वयं मर्म को समझने की चेष्टा न की और न स्वयं उसे आचरण या व्यवहार मे चरितार्थ करने का प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि वह केवल ऊपरी नेतागिरी में ही रह गया और उसी के कारण विनाश को प्राप्त हो गया।

चतुराई सूवै पढ़ी, सोई पंजर मांहि।<br>
फिरि परमोधै[8] आंन कौं, आपन[9] समझै नांहि॥ १४॥

शब्दार्थ—सूवै = शुक, सुग्गा, तोता। पंजर = पिंजड़ा। आंन = अन्य, दूसरा। आपन = स्वयं।

व्याख्या—इस साखी में विचित्र ध्वनि है। जो तोता 'राम-राम' कहना सीख लेता है, वह बहुत चतुर समझा जाता है। परन्तु वह पिंजड़े मे ही बन्द रहता है। मुक्त आकाश

१. ना०प्र०—पाडोसो सू रूसणां। २ ना० प्र०—हांणि। ३ ना० प्र०—भए। ४. ना० प्र०—पांणी पीवें छांणि। ५ ना० प्र०—रहूया। ६ ना० प्र०—भेद्या। ७. ना० प्र०—औरूं। ८ ना० प्र०—प्रमोधै। ९. ना० प्र०—आपण।

में विचरनेवाला तोता 'राम-राम' तो नही कहता, किन्तु वह बन्धन से मुक्त रहता है। पिंजड़े में बन्द रहने का ध्वन्यार्थ है—बन्धन में फँसना। कबीर कहते है कि वह तोता केवल 'राम' शब्द का उच्चारण जानता है, किन्तु न तो उसके मर्म को जानता है और न राम के प्रति उसमें कोई लगाव ही होता है। परिणाम यह होता है कि 'राम-राम' रटते हुए भी वह बन्धन मे ही रहता है। वह औरो को तो उपदेश देता है, किन्तु स्वयं उसके मर्म को नही जानता। 'राम' शब्द के उच्चारण से सद्गति नही हो सकती। राम के प्रति प्रेम से ही कल्याण हो सकता है।

अलंकार—अन्योक्ति।

*रासि पराई राखतां,[1] खाया[2] घर का खेत।
औरों को परमोधता[3], मुख में पड़िया रेत[4]॥ १५॥

शब्दार्थ—रासि=अन्न का ढेर। राखतां = रखवाली करते हुए। परमोधता = उपदेश करता। मुख में पड़िया रेत = ( मु० ) मुँह मे धूल पड़ना, अपमानित होना, विनाश को प्राप्त होना।

व्याख्या—जो ढोंगी पंडित दूसरो को उपदेश देते फिरते है, पर स्वयं भक्ति की साधना नही करते, वे उस मूर्ख किसान के समान है जो दूसरों के खेत या अन्न के ढेर की रखवाली करता रहता है, किन्तु अपने अन्न की राशि की चिन्ता नही करता। परिणाम यह होता है कि उसका खेत पशु चर जाते है और अन्ततः उसे हानि उठानी पड़ती है। उसी प्रकार उन पंडितों की दशा होती है जो दूसरो को मुक्ति का उपाय बताते फिरते है, परन्तु अपने पाश-बन्धन को काटने की चिन्ता नही करते और अन्त मे अपमानित होकर विनाश को प्राप्त होते हैं।

अलंकार—अन्योक्ति।

तारा मंडल बैसि करि,[5] चंद[6] बड़ाई खाइ।
उदै भया जब सूर का, स्यूँ[7] तारां छिपि जाइ॥ १६॥

शब्दार्थ—बैसि करि = बैठकर। सूर = सूर्य। स्यूँ = सहित।

व्याख्या—जिस प्रकार रात्रि में तारा-मण्डल के बीच चन्द्रमा बड़ाई भोगता है अर्थात् सभी नक्षत्रों से श्रेष्ठ समझा जाता है, किन्तु सूर्योदय होने पर वह तारा-मण्डली सहित प्रभाहीन होकर छिप जाता है, उसी प्रकार थोथे पंडित अपने शिष्यो के बीच मे श्रेष्ठता को प्राप्त करते हैं, किन्तु सच्चे ज्ञानी साधक का सामना होते ही वे हतप्रभ हो जाते हैं।

अलंकार—अन्योक्ति।

---

*टिप्पणी—तिवारी, हनु०, की प्रतियों में साखी के चरणों का क्रम उल्टा है। १. तिवारी–बिरानी राखतां, हनु०–बिरानी राखते। २. हनु०–खाइन। ३. ना० प्र०–प्रमोधतां, हनु०–औरन को उपदेसते। ४. तिवारी–मुहड़ै पड़िया रेत, हनु०–मुहड़े परि गई रेत। ५. हनु०–त्रि०—ग्रु०—बैठि कै। ६. अन्य–चाँद। ७. अन्य—तब तारा।

**देखन कौं सब कोइ भले,[१] जैसे सित का कोट[२] ।**
**रवि[३] कै उदै न दीसहीं, बँधै न जल की पोट[४] ॥ १७ ॥**

शब्दार्थ—सित = शीत, ओस, कोहरा, तुषार । कोट = दुर्ग, किला, राशि । पोट = पोटली, गठरी ।

व्याख्या—वेश-भूषा और शब्दाडम्बर से युक्त उपदेशक, साधु-संन्यासी उसी प्रकार देखने में भले लगते है जैसे कुहरे का दुर्ग । जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही वह नही दिखलाई पडता अर्थात् उसका अस्तित्व मिट जाता है और उस जल की कोई गठरी भी नही बाँधी जा सकती है, उसी प्रकार ज्ञान के उदय होने पर इन आडम्बरी संन्यासियो का प्रभाव समाप्त हो जाता है और उनका कोई भी उपयोग नही रह जाता है ।

अलंकार—उपमा ।

**तीरथ करि करि जग मुआ[५], डूँघै[६] पानी न्हाइ ।**
**राँमहि[७] राम जपंतड़ाँ, काल घसीटा जाइ ॥ १८ ॥**

शब्दार्थ—डूँघै = ( पं०-डूँगा ) गहरा । जपंतडा = जपते हुए ।

व्याख्या—लोग तीर्थ-यात्रा करते-करते और गहरे जल में स्नान करते-करते मर गये । ऐसे लोग ऊपर से 'राम-राम' जपते रहे, किन्तु अन्त में काल उन्हे घसीट कर ले गया । वस्तुत: न तो तीर्थ-यात्रा से, न प्रसिद्ध नदियो में स्नान करने से और न यांत्रिक रूप से राम-नाम जपने से कोई जीव चरम लक्ष्य को पहुँच सकता है । ये सब वाह्याचार हैं । भक्ति-भावना के अभाव में सभी लोग जन्म-मरण के चक्र मे पड़े रहते हैं । उससे छुटकारा नही मिल पाता है ।

**कासी काँठै घर करै, पीवै निरमल[८] नीर ।**
**मुकति नहीं हरि नाँव[९] बिनु, यौं कहै दास कबीर ॥ १९ ॥**

शब्दार्थ—काँठै = कंठ, किनारा ।

व्याख्या—लोग प्रसिद्ध धार्मिक क्षेत्र काशी में गंगा के किनारे घर बनाकर रहते है और आजीवन गंगा का निर्मल जल पीते हुए मुक्ति की आशा करते हैं । भक्त कबीर कहते है कि यह भी वाह्याचार है । इस चतुराई से भी काम नही चलेगा । प्रभु-नाम की वास्तविक भक्ति के विना मुक्ति नही प्राप्त हो सकती ।

अलंकार—विनोक्ति ।

---

१. ना० प्र०—देषण के सवको भले, हनु०—देखत को सव को भलो, यु०—वि०—देखन का सव कोय भला । २ ना० प्र०—जिसे सीत के कोट, यु०—जैसे सीत का कोट । ३ हनु०— यु०—देखत ही दहि जायगा । ४. हनु०, यु०—बाँधि सकै नहि पोट । ५ ना० प्र०—मुवा । ६ ति०—जूड़ै पानी । ७. ति०—राम नाम जाने विना, काल गरासा जाइ । ८. ना० प्र०—निर्मल । ९. तिवारी०—नाउं ।

कबीर इस[1] संसार कौं[2], समझाऊँ[3] कै वार।
पूँछ जु[4] पकड़ैं भेड़ की, उतरा[5] चाहै पार॥ २०॥

शब्दार्थ—भेंड़ = गतानुगतिका या लकीर के फकीर का प्रतीक।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैं इस संसार के लोगों को कितनी बार समझाऊँ? वे भेड़ की पूँछ पकड़कर अर्थात् अज्ञानी गुरु का आश्रय लेकर भव-सागर पार करना चाहते हैं, जो कि असम्भव है।

कबीर मन फूला[6] फिरै, करता हूँ मैं[7] घरंम[8]।
कोटि[9] करम[10] सिरि ले चला[11], चेति न देखै भरंम[12]॥ २१॥

शब्दार्थ— फूला = प्रसन्न। धरंम = धर्म। भरंम = भ्रम।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जीव मन में फूला नही समाता कि मैं धर्म कर रहा हूँ। वह केवल बाह्याचार और कर्मकाण्ड को धर्म समझता है। ऐसे तथाकथित धर्म के नाम पर वह हिंसा, पाषंड आदि नाना प्रकार के कुकर्म करता रहता है। इन कर्मो का फल उसे अवश्य भोगना होगा। परन्तु वह धर्माडम्बर के कारण सचेत होकर अपने भ्रम को देखता ही नही।

मोर तोर की जेवरी[13], गलि बंधा[14] संसार।
कांसि[15] कुडुंवा सुत कलित, दाझनि[16] वारंवार॥ २२॥
—३६८॥

शब्दार्थ—गलि = गले में। कांसि=एक प्रकार की लम्बी घास। कुडुंवा = कुटुम्ब। सुत = पुत्र। कलित = कलत्र, स्त्री। दाझनि = जलना।

व्याख्या—संसार के लोगो के गले में 'मोर तोर' की भावना की रस्सी पड़ी हुई है और वह भावना कुटुम्ब, पुत्र, स्त्री आदि के रूप में व्यक्त होती है। परन्तु ये सम्बन्ध कांस नामक घास के समान वार-बार जलनेवाले है अर्थात् क्षणिक हैं। जिस प्रकार 'मेरापन' का भाव भ्रान्त है, उसी प्रकार अपने कुटुम्ब, वनिता, सुत आदि का भाव भी भ्रान्त है।

●

---

१. तिवारी–हनु०, यु०–या। २. हनु०, यु०–को। ३. तिवारी—यु०–समुझायौ। ४. ना० प्र०–ज। ५. ना० प्र०—उतर्‌या। ६. ना० प्र०—मन फूल्या, तिवारी–मनि फूला। ७. ति०—ज। ८. ना० प्र०— ध्रमं। ९. ति०-कोटि करम सिर परि चढ़ै, हनु०--कोटि कर्म जो शिर चढ़ै। १०. ना० प्र०–क्रम। ११. ना० प्र०—चल्या। १२. ना० प्र०–चेत न देखै भ्रमं, हनु०--जौ तन देखै मर्म। १३. ना० प्र०—जेवड़ी। १४. ना० प्र०—बलि वंध्या। १५ ना० प्र०—काँ सिकट्टुँ वाझुत कल्वि, गुप्त–काँहसि कँडूवा। १६. ना० प्र०—दाझण।

## ( १८ ) करनी विना कथनी को अंग

कथनी कथी[1] तो क्या भया[2], जौ करनीं[3] नाँ ठहराइ।
कालबूत के[4] कोट ज्यौं[5], देखत[6] ही ढहि जाय॥ १॥

शब्दार्थ—कथनी = मुख से ज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें करना, उपदेश। करनी = जीवन मे, व्यवहार में, क्रियाकलाप में ज्ञान को चरितार्थ करना। कालवूत = ( फा०—कालवुद ) वह कच्चा भराव जिस पर मेहराव वनाई जाती है, ढांचा। कोट = ढेर।

व्याख्या—वड़े-वड़े सिद्धान्तो की बातें और लम्बे-लम्बे उपदेश आदि से क्या लाभ, यदि उन्हे कार्य रूप में परिणत करके जीवन में चरितार्थ न किया जाय। वे कालवूत के ढेर के समान है, जो क्षण-भर में ही नष्ट हो जाते हैं। जीवन में उनका कोई उपयोग नही।

अलंकार—उदाहरण।

जैसी मुख तैं[7] नीकसै, तैसी चालै चाल।
पारब्रम्ह नियरा[8] रहै, पल मैं करै निहाल॥ २॥

शब्दार्थ—नियरा=निकट। निहाल = पूर्णकाम,सन्तुष्ट।

व्याख्या—यदि कोई उपदेश के अनुरूप आचरण भी करे, कथनी और करनी में सामञ्जस्य स्थापित करे तो वह परब्रह्म के विलकुल निकट हो जाय, जो कि उसे क्षण-भर में पूर्णकाम कर देगा।

जैसी मुख[9] तैं नीकसै, तैसी चालै नाँहि।
मानुख[10] नहीं ते स्वान गति, बाँधे[11] जमपुर जाँहि॥ ३॥

शब्दार्थ—स्वान = ( स०-श्वान ) कुत्ता।

व्याख्या—जिन व्यक्तियो की कथनी-करनी में सामञ्जस्य नही है, वे वास्तव में मनुष्य नही है। उनकी गति उस कुत्ते के समान है जो भौंकता वहुत है, किन्तु करता कुछ नही। वे अपने कर्मो के द्वारा बँधे हुए कालग्रस्त होगे।

अलंकार—अपह्नुति।

---

१. ना० प्र०—कथणीं कथी, हनु०, वि०—कथनी कथै। २. हनु०, वि०-यु०—हुआ. ३. ना० प्र०—जे करणीं, यु०- वि०-करनी ना, हनु०—करनी नहिं। ४. हनु०—वि०-यु०—का। ५ ना० प्र०—ज्यूँ। ६. ना० प्र०—देषतहीं। ७. हनु०-से। ८. ना० प्र०—नेड़ा। ९ ना० प्र०—मुष। १०. ना० प्र०—मानिप, हनु०-मनुप नहीं वह श्वान गत। ११. ना० प्र०—बाँध्या।

पद गाए मन हरखियाँ[1], साखी कहैं[2] अनन्द।
जौ तत नाउँ न जानियाँ, गल मैं परिया फंद[3] ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—हरखियाँ = प्रसन्न होकर। जौ = यदि। तत = तत्त्व।

व्याख्या—बहुत से लोग मन की उमंग में भक्तिपूर्ण पदों को गाते हैं और बड़े आनन्द से अच्छी-अच्छी साखियों का पाठ करते हैं, किन्तु वे भी उसी कथनी की सीमा में हैं। यदि वे परमतत्त्व के रहस्य को नही जानते और जो कुछ गाते या सुनते हैं, उसे जीवन में उतारते नहीं, तो वे भी मोक्ष की ओर नही जा सकते, बंधन में ही पड़े रहते हैं। उनका संगीत और उपदेश एक प्रकार की आत्म-प्रवंचना है।

करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि करि तूँड।
जानैं[4] बूझै कछु नहीं, यों ही अंधा[5] रूँड ॥ ५ ॥
—३७३ ॥

शब्दार्थ—तूंड = ( सं०—तुंड ) मुख। रूँड=धड़। दीसै = दिखाई पड़ता है। करता दीसै कीरतन = कीर्तन करता हुआ दिखलाई पड़ता है।

व्याख्या—बहुत से कीर्तन करनेवाले मुख ऊँचा करके कीर्तन करते हुए दिखलाई पड़ते हैं, परन्तु वे कीर्तन के मर्म को समझते नही। उनका इस प्रकार का कीर्तन ऐसे योद्धा के समान है जिसका सिर कट गया है और केवल धड़ रह गया है जिसको दिखलाई कुछ नही पड़ता। वह यो ही यन्त्रवत् इधर-उधर अस्त्र चलाता रहता है।

अलंकार—उपमा।

•

---

१. ना० प्र०—हरषियाँ। २. ना० प्र०—साषी कह्याँ। ३. ना० प्र०—सो तत नाँव न जाणियाँ, गल पै पड़िया फँध। ४. ना० प्र०—जाँणैं। ५. ना० प्र०—आँधाँ।

# ( १९ ) कथनी बिना करनी को अंग

**मै जान्यौ[1] पढ़िबौ भलौ, पढ़िबा तैं भल[2] जोग।**
**राँम नाँम सूँ प्रीति करि, भल भल नींदौ लोग[3] ॥ १ ॥**

शब्दार्थ—तै = से। पढ़िबा ( राज० ) = पढ़ने से। जोग = हृदय का लगाना। भल भल = भले ही, चाहे।

व्याख्या—मैं शास्त्र-पठन के विरुद्ध नही हूँ। मै यह जानता हूँ कि शास्त्रज्ञान अच्छा है। किन्तु यदि वह केवल बौद्धिक स्तर पर रह गया, जीवन का अंग न बन सका, साधना में अवतरित न हो सका तो वह किस काम का ? पढ़ने से कही अधिक उपयोगी है—साधना। हे जीव ! राम-नाम से प्रेम कर। भले ही लोग तुम्हे अपढ़ समझकर तुम्हारी निन्दा करते रहें। अपढ राम का भक्त, पढे हुए, किन्तु भक्तिहीन, साधनाहीन व्यक्ति से कही अच्छा है।

**कबिरा[4] पढ़िवा दूरि करि, पुस्तक देइ[5] बहाइ।**
**बावन अखिर[6] सोधि करि, ररै ममै चित लाइ ॥ २ ॥**

शब्दार्थ—वहाइ = फेंक दे।

व्याख्या—कबीर कहते है कि शब्दजाल मे मत पडो। पुस्तक को फेंक दो। इससे अध्यात्म ज्ञान नही हो सकता। वर्णमाला के बावन अक्षरो को भली प्रकार से शोध करके 'र' और 'म' इन दो अक्षरो को ग्रहण करो। उनमें अपना हृदय लगाओ। राम की भक्ति करो। केवल इसी से अध्यात्म-ज्ञान हो सकेगा।

तुलनीय—

तुलसीदास ने भी कहा है—

एक छत्रु, एकु मुकुटमनि, सब बरननि पर जोउ।
तुलसी रघुबर नाम के, बरन बिराजत दोउ ॥
( मानस—१।२० )

**कबीर पढ़िबा दूरि करि, आथि पड़ा[7] संसार।**
**पीर[8] न उपजी प्रीति सूँ, तौ क्यूँ करि करै पुकार ॥ ३ ॥**

शब्दार्थ—आथि = अस्त होना, समाप्त होना।

---

१. ना० प्र०—जान्यूँ। २. ना० प्र०—थैं भलो। ३ ति०—भगति न छाडौ राम की, भावे निदंउ लोग। ४. ति०-कबीर। ५ ति०—पुसतग देहु। ६ ना० प्र०—अषिर सोधि कै, गुप्त—अष्षर। ७. ना० प्र०—पढ्या। ८ ना० प्र०—पीड।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि भक्तिविहीन शास्त्र का अध्ययन दूर करो। केवल वाक्य-ज्ञान में निपुण संसार अस्त होने के निकट है। यदि हृदय में प्रभु के प्रति सच्चे प्रेम की वेदना न हुई तो शुष्क शब्दों से प्रभु का पुकारना व्यर्थ है।

**पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।**
**एकै आखर[1] पीव का,[2] पढ़ै सो[3] पंडित होइ॥४॥**
**—३७७॥**

व्याख्या—केवल धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन करने से कोई सच्चा ज्ञानी नही हो जाता। ग्रन्थो को पढ़-पढ़कर संसार के प्राणी काल-कवलित होते चले गए। किन्तु कोई भी उनके द्वारा ज्ञानी न बन सका। जिसने प्रियतम के एक अक्षर को जान लिया है, वही वास्तविक ज्ञानी है।

टिप्पणी—यहाँ 'आखर' शब्द का बोधक है।

अलंकार—उल्लास।

---

१. ना० प्र०—अषिर। २. ति०—प्रेम का। ३. ना० प्र०—सु।

# (२०) कामी नर को अंग

कामिनि काली नागिनी,[१] तीनो[२] लोक मँझारि[३] ।
रांम[४] सनेही ऊबरे, विषयी[५] खाये झारि ॥ १ ॥

शब्दार्थ—मँझारि = बीच में । ऊबरे = वचे । झारि = पूर्ण रूप से ।

व्याख्या—कामिनी तीनो लोकों ( पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग ) में काली नागिनी के समान है । उसने विषयासक्त लोगो को पूर्ण रूप से खा डाला है अर्थात् नष्ट कर दिया है। केवल राम के भक्त ही वच सके ।

अलंकार—रूपक ।

कामिनि[६] मीनीं[७] खाँड़[८] की, जे छेड़ौ[९] तौ खाइ ।
जे[१०] हरि चरणाँ[११] राचिया, तिनके निकट[१२] न जाइ ॥ २ ॥

शब्दार्थ—मीनी = ( सं० मक्षिका ) मधुमक्खी । खाँड = ( ल० ) शहद । राचिया= यह शब्द 'रचना' और 'रंजन' दोनों का तद्भव है । पहले का अर्थ है—रचना, दूसरे का अर्थ है—अनुरक्त । यहाँ दूसरे अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

व्याख्या—कामिनी शहद की मधुमक्खी के समान है । जिस प्रकार मधुमक्खी को थोडा भी छेडा जाय तो वह कष्ट देती है, वैसे ही कामिनी के प्रति यदि थोड़ा भी अनुराग दिखाया जाय तो वह फँसाकर नष्ट कर देती है । किन्तु जो लोग भगवान के चरणो में अनुरक्त है, वह उनके पास नही फटकती । भाव यह है कि यदि कोई कामवश स्त्री के प्रति आकृष्ट होता है और उसके आकर्षण को यदि वह जान लेती है तो वह उसे अपने वश में करके सर्वथा विनष्ट कर देती है, परन्तु जो भगवान के भक्त हैं उनके हृदय में काम का संचार नहीं होता या काम की प्रवलता नही रह जाती । चित्त तो एक ही है, उसे चाहे काम में लगा दो, चाहे राम में ।

तुलनीय—

जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम ।
दोऊ कवहूँ ना मिलै, रवि रजनी इक ठाम ॥
—कवीर

अलंकार—रूपक ।

---

१ ना० प्र०—कॉमणि काली नागणीं । २. ना० प्र०—तीन्यूँ, ति०—तीनिउं, यु०—तीन । ३. हनु० मझार, यु०—मझार । ४ हनु०—यु०—नाम । ५. ति०—विखई, यु०—विपिया । ६. ना० प्र०—कॉमणि । ७. यु०—मीठी खॉड सी । ८. ना० प्र०—पॉणि । ९. यु०—छेरे तेहि । १०. यु०—जो । ११. यु०—चरने । १२. ना० प्र०—निकटि ।

परनारी राता फिरैं,[1] चोरी विढ़ता खाँहि[2]।
दिवस चारि सरसा रहै, अंति समूला जांहि[3] ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—राता = अनुरक्त । विढता = कमाई, वढती । सरसा = हरे-भरे, आनन्द-पूर्वक । जांहि = नष्ट हो जाते हैं ।

व्याख्या—जो पराई स्त्री मे अनुरक्त रहते हैं अथवा जो चोरी की कमाई से अपना निर्वाह करते हैं, वे दोनों चार दिनो अर्थात् अल्पकाल के लिए भले ही फले-फूलें किन्तु अन्त में वे समूल नष्ट हो जाते हैं ।

टिप्पणी—इस साखी में 'सरस' शब्द मे व्यञ्जनात्मक श्लेष है । परनारी में अनुरक्त व्यक्ति थोड़े दिनों के लिए रस ( आनन्द ) का अनुभव भले ही करें, किन्तु अंत में नष्ट हो जाते हैं । ऐसे ही चोरी की कमाई खानेवाले थोड़े दिनों के लिए भले ही सरस अथवा समृद्ध दिखाई दें, किन्तु अंत में उनका विनाश अवश्यंभावी है ।

परनारी पर सुन्दरी, बिरला बंचै कोइ ।
खातां मीठो खांड सी, अन्तकालि विष होइ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—विरला = कोई । खातां = खाने मे ।

व्याख्या—दूसरे की स्त्री अथवा दूसरे की सुन्दर बेटी या बहू के आकर्षण से कोई विरले ही बचते हैं । वह ऐसी खाँड़ के समान है जो खाते या भोगते समय मधुर प्रतीत होती है, किन्तु अंतकाल में विषवत् सिद्ध होती है ।

अलंकार—उपमा ।

परनारी[4] के राचनैं[5], औगुन है गुन नाँहि[6] ।
खार समुंद में माछली,[7] केती[8] बहि बहि जाँहि ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—औगुन = दोप । खार = खारी ।

व्याख्या—पराई स्त्री में अनुरक्त होने मे सब दोप-ही-दोप है, अच्छाई कोई नही । जिस प्रकार न जाने कितनी मछलियाँ नदियों के प्रवाह में बहकर समुद्र के खारे जल में पहुँच जाती हैं, वैसे ही न जाने कितने लोग परनारी के मोह में पड़कर दुःखपूर्ण भव-सागर में निमग्न हो जाते हैं ।

अलंकार—निदर्शना ।

---

१. हनु०, वि०—यु०—रहै । २. हनु०, वि०—यु—बैठत खाय । ३. हनु०, वि०—यु०—अन्त समूला जाय । ४. अन्य—नारी केरे राचनैं । ५. ना० प्र०—राचणैं । ६. ना० प्र०—औगुण है गुण नाँहि । ७. ना० प्र०—षार समंद मै मछला, हनु०-वि०-खार समुन्दर माछली । ८. ना० प्र०—केता ।

परनारी कौं राचनौं,[1] जस ल्हसुन की खानि[2] ।
कोने बैठे खाइए,[3] परगट होइ निदानि[4] ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—खानि = खाना । निदानि = अन्त में ।

व्याख्या—पराई स्त्री के साथ भोग ल्हसुन के खाने के समान है । जैसे ल्हसुन को कितने ही कोने या एकान्त स्थान मे बैठकर खाया जाय, किन्तु फिर भी उसकी गन्ध प्रकट हो जाती है, वैसे ही पराई स्त्री से कितना ही छिपकर भोग-विलास करें, अन्त में उसकी जानकारी हो ही जाती है ।

यदि ना० प्र० का 'पूणें' पाठ लिया जाय, तब भी अर्थ में अन्तर नहीं आता । 'पूणें' का अर्थ है—शून्य या सूनसान ।

अलंकार—उपमा ।

नर नारी सब नरक है,[5] जब लग[6] देह सकाम ।
कहै कबीर ते रॉम के,[7] जे सुमिरैं निहकाम[8] ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—निहकाम = निष्काम ।

व्याख्या—जब तक देह में कामयुक्त तादात्म्य बना रहता है, तब तक चाहे नर हो या नारी, वह काम उसे नरक की ओर ले जाता है । अध्यात्म से विमुख होना और काम में रत होना ही नरक की ओर जाना है । जो निष्काम भाव से प्रभु का स्मरण करते हैं, वे प्रभु के द्वारा स्वीकृत हो जाते है या अपना लिये जाते है । इसमें एक व्यंजना यह है कि जब तक व्यक्ति सकाम है, तब तक वह सुमिरन करने पर भी प्रभु द्वारा अपनाया नहीं जा सकता ।

सोरठा—नारी सेती नेह, बुधि विवेक सबही हरै ।
काँइ[9] गँवावै[10] देह, कारज[11] कोई ना सरै ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—सेती = से । कांइ = क्यो । सरै = सिद्ध होना, फलदायक ।

व्याख्या—नारी में अनुराग, बुद्धि और विवेक दोनों को हर लेता है । लोग व्यर्थ में इस अनुराग में अपने शरीर को क्यो नष्ट करते है, जबकि उससे कोई काम सिद्ध नही होता । इसमें सब हानि-ही-हानि है, लाभ कुछ भी नही ।

तुलनीय—

बुधि बल सत्य सील सब मीना ।
बसी सम तिय कहहिं प्रबीना ॥
—तुलसी, मानस ।

---

१. ना० प्र०—कौं राचणौं, अन्य—का राचना । २. ना० प्र०—जिसी ल्हसण की षांनि, अन्य—ज्यों ल्हसुन की खान । ३ ना० प्र०—पूणैं बैसि रषाइए, यु०—कोने बैठिकै खाइए । ४. ना० प्र०—दिवानि । ५. हनु०—नफर है, यु०—नर कहै । ६. तिवारी०—लगि । ७ हनु०—ते राम का, यु०—सो राम, का । ८ हनु०-यु०—जो सुमिरै निष्काम । ९. हनु०—काह, यु०—वृथा । १०. ना० प्र०—गमावै । ११. ना० प्र०—कारिज ।

**नाना भोजन स्वाद सुख, नारी सेती रंग।**
**बेगि छाँड़ि पछतायगा[१], ह्वैहै मूरति भंग[२] ॥ ९ ॥**

शब्दार्थ—रंग = रति।

व्याख्या—मानव में जितनी सहज प्रवृत्तियाँ हैं, उनमें दो मुख्य है—आहार सहज प्रवृत्ति ( Food Instinct ) और काम सहज प्रवृत्ति ( Sex Instinct )। पहली प्राण-संरक्षण के लिए है और दूसरी संतान-संरक्षण के लिए। प्रकृति ने इन दोनों प्रवृत्तियों को इन्ही दो उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दिया है। जब इन उद्देश्यो को छोड़कर मानव आहार को स्वाद के लिए और नारी को रति के लिए ग्रहण करने लगता है, तब उसका विनाश होता है। इसी तथ्य को लक्ष्य करके कबीर ने इस साखी मे कहा है कि यदि कोई नाना प्रकार के भोजन स्वाद-सुख के लिए खाता है और नारी का रंग अर्थात् रति के लिए उपयोग करता है तो उसका विनाश अवश्यंभावी है। कबीर कहते है कि ऐसे प्रेम को छोड़ दो, अन्यथा बाद में पछताओगे और तुम्हारा शरीर प्रणष्ट हो जायगा, तुम्हारा जीवन विनष्ट हो जायगा।

**नारि नसावै तीनि गुन,[३] जेहि[४] नर पासैं होइ।**
**भगति मुकति निज ग्यान मैं,[५] पैसि न सकई कोइ।[६]। १० ॥**

व्याख्या—जो पुरुष नारी के संसर्ग में लिप्त रहता है, उसके तीन गुण—भक्ति, मुक्ति और ज्ञान नष्ट हो जाते हैं। ऐसा व्यक्ति न तो भक्ति में प्रविष्ट हो सकता है, न मुक्ति में और न ज्ञान में।

**एक कनक अरु कामिनीं[७], विष फल किया उपाय[८]।**
**देखत[९] ही ते विष[१०] चढ़ै, चाखत ही मरि जाय[११] ॥ ११ ॥**

शब्दार्थ—उपाय = उत्पन्न।

व्याख्या—कनक ( सोना और धतूरा ) तथा कामिनी ये दोनो विप-फल के समान उत्पन्न किये गये हैं। इनके दर्शन मात्र से विष चढ़ जाता है अर्थात् मोह का नशा छा जाता है और इनका स्वाद लेने से तो मनुष्य का विनाश ही हो जाता है।

अलंकार—'कनक' शब्द में श्लेष, दूसरी पक्ति में 'चपलातिशयोक्ति।

---

१. हनु०—पछताहुगे। २ हनु०-मूरति होइहै भंग। ३. ना० प्र०-तीन सुख। ४. ना० प्र०-जा, तिवारी०-जौ, हनु०-वि०—जो। ५ हनु०-भक्ति मुक्ति निज ध्यान में, यु०-भक्ति मुक्ति अरु ज्ञान में। ६ हनु०, वि०—पैठिन सकही कोय, यु०-पैठि न सक्कै कोय। ७. ना० प्र०-कामिनी। ८ ना० प्र०—कीएउ पाइ, हनु०-विचार०-लिया उपाय। ९. ना० प्र०- देखै ही थैं विप चढ़ै। १०. तिवारी०—विख। ११. ना० प्र०-खाँये सू मरि जाइ।

एक कनक अरु कामिनी[1], दोइ अगिन[2] की झाल।
देखे[3] ही तैं[4] परजरै, परसां[5] ह्वै पैमाल ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—झाल = लपट। परसां = स्पर्श करने से। परजरै = प्रज्वलित। पैमाल = ( फा०-पायमाल ) पाँव तले रौंदा हुआ, दुर्दशाग्रस्त।

व्याख्या—स्त्री और स्वर्ण दोनो आग की लपट के समान है जिनके देखने ही से शरीर प्रज्वलित हो जाता है अर्थात् आकर्षण की उष्णता जाग उठती है और स्पर्श करने से तो मनुष्य विनष्ट ही हो जाता है।

अलंकार—रूपक, चपलातिशयोक्ति, व्यतिरेक।

कबीर[6] भग की प्रीतड़ी,[7] केते गए गडंत।
केते औरौ जांहिगे,[8] नरक[9] हसंत हसंत ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—गडंत = कब्र मे गाड़ दिए गए।

व्याख्या—कबीर कहते है कि स्त्री के प्रेम में फँसकर न जाने कितने लोग कब्र में गाड दिए गए तथा और न जाने कितने लोग हँसते-हँसते नरक मे जायेंगे।

टिप्पणी—'हसंत हसंत' में विचित्र व्यञ्जना है। मनुष्य समझता है कि वह सुख भोग रहा है, आनद उठा रहा है, किन्तु वह जा रहा है नरक की ओर। 'हसंत हसंत' सुख-बोध का प्रतीक है।

जोरू जूठनि[10] जगत की, भले बुरे का[11] बीच।
उत्तिम[12] ते अलगे रहै, निकटि रहै ते नीच[13] ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—बीच = अंतर। जोरू = स्त्री।

व्याख्या—स्त्री जगत् की जूठन के समान है। उसी के द्वारा भले-बुरे का अतंर ज्ञात होता है। जैसे उत्तम लोग जूठन से दूर रहते है, परन्तु नीच जूठन को ही अपनाते हैं, वैसे ही उत्तम लोग स्त्री के संसर्ग से दूर रहते हैं और जो नीच है वे उसके संसर्ग को ही जीवन का लक्ष्य समझते है।

अलंकार—रूपक।

---

१ ना० प्र०-कामिनी। २ ना० प्र०-दोऊ अगनि हनु०-गु०-दोऊ अग्नि। ३. हनु०-विचार०-देखत ही ते परजरे,। ४. ना० प्र०—तन प्रजलैं। ५ ना० प्र०—परस्यां, हनु०-परसि करै। ६ हनु०, गुप्त०-कबिरा। ७ गु०-प्रीतरी। ८ ना० प्र०—अजहूँ जायसी। ९ ना० प्र०—नरकि, गु०—नरके। १० ना० प्र०—जूठणि, हनु०—जूठन ११ गु०-विचार०—के। १२. ना० प्र०-उत्यम, गु०— वि०-उत्तम सो अलगा रहै। १३. ति०-मिलि खेलें ते नीच, हनु०, गु०-वि०—मिलि खेलं सो नीच।

नारी कुंड नरक का,[1] विरला थाँभै[2] वाग[3]।
कोइ[4] साधू जन ऊबरै[5], सब जग मूवा लाग[6] ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—थाँभै = रोकना। वाग = लगाम। मूवा = मर गया। लाग = लगकर।

व्याख्या—नारी नरक का कुण्ड है। कोई विरला व्यक्ति ही उस ओर जाने से नियन्त्रण रूपी लगाम लगा पाता है अर्थात् इन्द्रियों पर नियन्त्रण कर पाता है। विरले संयमी पुरुष ही उससे बच पाते हैं, अन्यथा अधिकांश लोग उसके पीछे लगकर विनाश को प्राप्त होते हैं।

अलंकार—रूपक।

सुन्दरि तैं[7] सूली भली, बिरला बंचै[8] कोइ।
लोह[9] लिहाला अगनि[10] मैं, जरि वरि[11] कोइला होइ ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—लिहाला = डाला गया, पड़ा हुआ।

व्याख्या—सुन्दरी से शूली अच्छी है। शूली पर चढ़ा हुआ व्यक्ति शायद बच भी जाय, किन्तु नारी में आसक्त पुरुष विनष्ट होने से बच नही सकता। जैसे आग मे डाला हुआ अत्यन्त पुष्ट लोहा भी जलकर खाक हो जाता है, वैसे ही शक्ति-सम्पन्न पुरुष भी नारी के चंगुल में फँसकर विनाश को प्राप्त होता है।

अलंकार—निदर्शना।

अंधा नर चेतै नहीं, कटै न संसै सूल।
और गुनह हरि वकसिहैं[12], कॉमी डाल न मूल ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—और = अन्य। गुनह = अपराध। वकसिहैं = क्षमा कर देंगे।

व्याख्या—अज्ञानांध मनुष्य श्रेय को नही जान पाता। इसलिए उसके संशय का शूल समाप्त नहीं होता। जब तक अज्ञान है, तब तक प्रभु के विषय में, परम श्रेय के विषय में उसको संशय बना रहता है। वह जो कुछ इन्द्रियों से अनुभव करता है, उसी को सत्य मान लेता है। परमात्मा, मोक्ष आदि के विषय मे उसे संदेह बना रहता है। प्रभु एक वार चाहे अन्य अपराधों को क्षमा भी कर दे, किन्तु कामी को वह डाल और मूल सहित अर्थात् सम्पूर्ण रूप से नष्ट कर देते हैं।

भगति बिगाड़ी कॉमियाँ,[13] इन्द्री केरे स्वादि।
हीरा खोया हाथ तैं[14], जनम गँवाया[15] वादि ॥ १८ ॥

---

१. हनु०, वि०-यु०-कुंडी नरक की। २ ना० प्र०-थंभै। ३. तिवारी-यु०-वागि। ४. ना० प्र०-कोई। ५ हनु०, यु०—वि०-ऊनरा। ६ ति०—यु०—लागि। ७. ना० प्र०—थैं, हनु०, त्रि०—यु०—ते। ८. अन्य-बाँचै। ९ हनु०-लोहै अग्नि ज्यों, यु०— त्रि०-लुहालै अगिनि मैं। १०. तिवारी०-आगि ज्यूँ। ११. ना० प्र०—जलि बलि। १२. ना० प्र०—बकससी। १३. यु०—भक्ति बिगारी कामियाँ। १४. ना० प्र०-थैं, यु०-सो। १५. यु०—गँवायो।

नारि पराई आपनी,[१] भुगतें[२] नरकहि जाइ ।
आगि आगि सब[३] एक है, देत हाथ जरि जाइ[४] ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—भुगतें = भोग करने से ।

व्याख्या—काम का सहज भाव मनुष्य को सन्तानोत्पत्ति के लिए मिला है, भोग-तृप्ति के लिए नही । यदि वह भोग की लालसा से काम की तृप्ति करता है तो चाहे अपनी नारी हो या पराई, वह नरक मे ही जाएगा । आग चाहे अपने घर की हो या पराए घर की, है तो आग ही । उसमें हाथ डालते ही व्यक्ति जल जाता है । उसी प्रकार जब हम भोग-वासना से नारी के प्रति आकृष्ट होते हैं, तब वह चाहे अपनी हो या पराई, हमारा विनाश अवश्यंभावी है ।

यदि ना० प्र० का पाठ 'आगि आगि सबरो कहै, तामैं हाथ न वाहि' लिया जाय तो अर्थ होगा—आग को सभी आग ही कहते हैं। इसलिए उसमें हाथ न डाल । 'वाहि' का अर्थ है—डालना, ले जाना ।

अलंकार—दृष्टान्त ।

कबीर[५] कहता जात हौं,[६] चेतै[७] नहीं गँवार ।
वैरागी गिरही कहा, काँमी वार न वार ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—गिरही = गृही, गृहस्थ । वार-पार = एक किनारा, दूसरा किनारा ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मैं कितनी ही चेतावनी देता हूँ, किन्तु मूर्ख व्यक्ति चेतता नही । उसने चाहे संन्यास ले लिया हो अथवा वह गृहस्थ हो, यदि वह विषयी हो जाता है, काम में सदा लिप्त रहता है तो उसका न यहाँ ठिकाना है न वहाँ । उसकी न इस लोक में सद्गति है न परलोक में ।

ग्यॉनी तौ नीडर भया, मॉनै नॉही संक ।
इन्द्री केरे वसि पड़ा[८], भूँजै[९] विखै निसंक ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—नीडर=निडर, निर्भय । भूँजै=भोगता है ।

व्याख्या—शास्त्र, पोथी-वाचक तथाकथित ज्ञानी तो और भयंकर दु:स्थिति में रहता है । उसे लोकमत का भय नही रहता । वह समझता है कि मुझे ज्ञानी समझकर लोग मेरे कर्मो में दोष नही निकालेंगे । इसलिए उसे लोकापवाद का भय नही रह जाता और वह इन्द्रियो के वश में होकर निश्चिन्त भाव से विषयो का सेवन करता रहता है ।

---

१. ना० प्र०—आपणीं । २ ना० प्र०—भुगत्यां । ३. ना० प्र०—सबरो कहै, यु०—सब एक सी । ४ ना० प्र०—तामैं हाथ न वाहि । ५ यु०--हनु०—कहता हूँ कहि जात हूँ । ६. ति०--हूँ । ७. यु०—समुझै, हनु०—मानै । ८ ना० प्र०—पड्या । ९ ना० प्र०—भूँचै विषै ।

ग्यॉनी मूल गँवाइया, आपै[1] भये करता।
तातैं[2] संसारी भला, मन में रहै डरता॥ २७॥
—४०४॥

शब्दार्थ—आपै = स्वयं। तातैं = इससे। कर्त्ता = स्रष्टा, परमात्मा।

व्याख्या—तथाकथित पंडितमन्य ज्ञानी, जिसको 'सोहं' अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ, का मिथ्याभिमान हो जाता है, वह अपने मूल अर्थात् आत्मस्वरूप से च्युत हो जाता है और उसे विषयजन्य दोषों का ध्यान नही रह जाता है। वह विषय-भोग के वशीभूत हो जाता है। उससे तो संसारी पुरुष अच्छा है, क्योंकि वह अपने को कर्त्ता तो नहीं समझता है। उसके मन में लोकमत या ईश्वर का कुछ भय तो बना रहता है।

---

१. ना० प्र०—आपण। २. ना० प्र०—तावँ।

# ( २१ ) सहज को अंग

सहज = 'सहज' शब्द का अर्थ है—सह जायते इति सहजः अर्थात् जो स्वभावतः है। सहजावस्था वह है जिसमें आत्म-अनात्म, पुरुष-प्रकृति, शिव-शक्ति, प्रज्ञा-उपाय, निवृत्ति-प्रवृत्ति समरस रहते हैं। जब जीव अनात्म की ओर उन्मुख हो जाता है और आत्म-स्वरूप से वियुक्त हो जाता है; प्रवृति की ओर, संसार की ओर, विषयो की ओर उन्मुख रहता है, तब असहजावस्था कहलाती है। सहज-साधना का लक्ष्य है—शिव-शक्ति, प्रवृत्ति-निवृत्ति, करुणा-उपाय को पुनः अपनी स्वाभाविक अवस्था-समरसता-में कर देना—कबीर के शब्दों में 'राम-रस' का अनुभव।

> सहज-सहज सब कोइ[1] कहै, सहज न चीन्है कोई।
> जिहि[2] सहजै विषया[3] तजौ[4], सहज कहीजै[5] सोइ॥ १॥

व्याख्या—सभी 'सहज सहज' कहते है, सहज की दुहाई देते हैं परन्तु 'सहज' को पहचानता कोई नही। जो सत्पुरुष की स्थिति में रहता है, सरलता से विषयों को छोड़ देता है, उनकी ओर आकृष्ट नही होता, वह स्वभावत. आत्म-स्वरूप में स्थित रहता है। वस्तुतः उसी को 'सहज' कहना चाहिए।

अलंकार—पुनरुक्तिप्रकाश, यमक।

> सहज-सहज सब कोइ[6] कहै, सहज न चीन्है[7] कोई।
> पाँचौ[8] राखै पसरती[9], सहज कहीजै[10] सोइ॥ २॥

शब्दार्थ—पाँचौ=पाँच इन्द्रियाँ। राखै=वश में रखता है। पसरती=विषयों की ओर फैलती हुई।

व्याख्या—सहज का नाम तो सभी लेते है, किन्तु वस्तुत 'सहज' को कोई जानता नही। जो विषयों की ओर प्रवृत्त होती हुई, पसरती हुई इन्द्रियों को वश में रखता है, उसी को 'सहज कहना चहिए।

यदि 'परसती' पाठ लिया जाय तो भी अर्थ में कोई अंतर नही आता। इस पाठ में 'परसती' का अर्थ होगा—विषयो का स्पर्श करती हुई।

अलंकार—पुनरुक्तिप्रकाश, यमक।

---

१. ना० प्र०—सबको। २. ना० प्र—जिन्ह, हनु०—यु०—वि०—जा। ३. गुप्त—विषिया। ४. अन्य—तजै। ५. अन्य—कहावै। ६ ना० प्र०—सबको। ७ हनु०—जानै। ८. ना० प्र०—पोचू। ९. ना० प्र०—परसती, गुप्त—परसता। १० अन्य—कहावै।

सहजैं-सहजैं सब गए[1], सुत वित कामिनि काम[2]।
एकमेक ह्वै मिलि रहा[3], दास[4] कबीरा राम ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—सहजैं-सहजैं=सरलतापूर्वक। सुत=पुत्र। वित = सम्पत्ति। कामिनि=स्त्री।

व्याख्या—इस साखी में 'सहजैं-सहजैं' पारिभाषिक अर्थ में नही प्रयुक्त हुआ है। यहाँ 'सहजैं' का अर्थ है—सरलतापूर्वक, स्वतः। साधना दो प्रकार की होती है—एक तो नाना प्रकार की यन्त्रणाओं से इन्द्रियों की प्रवृत्तियों को बलपूर्वक दबाना और दूसरे प्रभु में इतना तीव्र अनुराग हो जाना कि विषयो का आकर्षण स्वतः छूट जाय। कबीरदास की साधना इसी दूसरे प्रकार की थी और उसी दृष्टि से वह कहते है कि मेरी पुत्र, धन, कामिनी और काम में आसक्ति सहज भाव से अर्थात् सरलतापूर्वक चली गई और मैं राम से एकरस हो गया। मैं तो इसी को 'सहज' कहता हूँ।

अलंकार—पुनरुक्तिप्रकाश।

सहज सहज सब कोइ[5] कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिहि[6] सहजै[7] साहिब मिलै, सहज कहीजै[8] सोइ ॥ ४ ॥
—४०८ ॥

व्याख्या—'सहज' शब्द का प्रयोग सभी लोग करते है, किन्तु कोई उसे पहचानता नहीं। जिस साधना से सहज में, स्वभावतः, सरलता से प्रभु से एकाकार हो जाया जाय, उसी को वस्तुतः सहज कहना चाहिए।

अलंकार—पुनरुक्तिप्रकाश, यमक।

---

१. हनु०-वि०-यु०-गया। २. ना० प्र०-कांमणि, हनु०-वि०-यु०-काम निकाम। ३ ना० प्र०-रह्या। ४. ना० प्र०-दासि। ५. ना० प्र०-सबको। ६. ना० प्र०--जिन हनु०-वि०-जा। ७. ना० प्र०-हरि जी। ८ अन्य- कहावै।

शब्दार्थ—केतकी=एक छोटा पौधा जिसमें सुगंधित पुष्प होता है।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि प्रभु का सच्चा भक्त केतकी पुष्प के समान है और प्रभु के सभी सेवक भ्रमर के समान हैं। जहाँ-जहाँ कबीर की जैसी सच्ची भक्ति है, वहाँ प्रभु का निवास रहता है और प्रभु के सारे भक्त उन पर भ्रमर के समान मँडराते रहते हैं।

अलंकार—रूपक।

# (३१) मधि को अंग

'मधि को अंग' में कबीर उस पद की ओर संकेत कर रहे हैं जिसे गीता में 'द्वन्द्वातीत' कहा है—

निर्मानमोहा जितसंग दोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ( १५।५ )

अर्थात् जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिजन्य दोष जीत लिया है, जिनकी परमात्मा के स्वरूप में निरन्तर स्थिति है, जिनकी कामना नष्ट हो गयी है, जो सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से वियुक्त है, ऐसे ज्ञानीजन उस परमपद को प्राप्त होते हैं।

इसी अवस्था को नाथ सम्प्रदाय और कबीर मे 'सहजावस्था' कहा गया है। इसमें सभी द्वन्द्व अवशोषित हो जाते हैं। इसी को 'सामरस्य' की अवस्था भी कहते हैं। इसी में 'उन्मनी' का अनुभव होता है।

'मधि' का दूसरा योगपरक अर्थ है—इड़ा और पिंगला के मध्य सुषुम्ना का मार्ग—मध्य मार्ग।

**कबीर[1] मधि अंग जे को रहै, तौ तिरत न लागै बार।**
**दुइ-दुइ अंग सूँ लाग करि, डूबत है संसार॥ १॥**

शब्दार्थ—जे को=जो कोई। मधि=मध्यमार्ग, द्वन्द्वातीत। दुइ दुइ = द्वन्द्व।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जो मध्य मार्ग का अनुसरण करता है, उसे भव-सागर पार करते देर नही लगती। जो द्वन्द्व के चक्कर में रहता है, वही संसार में डूबता है। द्वन्द्व का तात्पर्य है—सुख-दु.ख, प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि।

**कबीर दुविधा दूरि करि, एक अंग ह्वै लागि।**
**यहु सीतल वहु तपति है,[2] दोऊ कहिए आगि॥ २॥**

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि दुविधा को छोड़कर, अतिवादी दृष्टियो को त्यागकर मध्यम मार्ग में लग जाना चाहिए। अत्यधिक शीतलता और अत्यधिक ताप दोनो अग्नि के समान विनाशक है। इसलिए मध्यम मार्ग ही श्रेयस्कर है।

---

१. यु०—वि०-मध्य अंग लागा रहै, तरत न लागै वार।
दो दो अंग सो लागता, यौं बूड़ा संसार॥ १॥

२. यु०—वि०-वा शीतल वा तपत है।

टिप्पणी—(१) यहाँ 'एक अंग' से तात्पर्य है—मध्यम मार्ग।

(२) लौकिक जन में वायु चन्द्रनाड़ी और सूर्यनाड़ी के द्वारा गतिशील रहती है। सुषुम्ना इन दोनो के बीच में है। उसका दूसरा नाम ही है—मध्यनाड़ी अथवा ब्रह्म नाड़ी। यहाँ 'सीतल' से चन्द्रनाड़ी का संकेत है और 'तपति' से सूर्य नाड़ी का। कबीर कहते है कि कहने के लिए एक नाड़ी शीतल है और दूसरी ऊष्ण। किन्तु आध्यात्मिक जीवन की दृष्टि से दोनो ही आग के समान है। संकल्प-विकल्पात्मक मन तब तक लय को प्राप्त नही हो सकता, जब तक वायु का संचार 'मध्य नाड़ी' से न हो और जब तक संकल्प-विकल्पात्मक मन का लय नही हो जाता, तब तक सत्य का साक्षात्कार नही हो सकता।

अनल आकासाँ[1] घर किया, मद्धि[2] निरन्तर बास।
बसुधा व्योम बिरकत रहै,[3] बिना[4] ठौर बिस्वास ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—अनल=एक पक्षी ( विस्तार के लिए देखिए १३।९ )। आकासाँ=अन्तरिक्ष में। बिरकत=विरक्त।

व्याख्या—अनल पक्षी अन्तरिक्ष में अपना नीड़ बनाता है और आकाश तथा पृथ्वी, भूर्लोक और स्वर्लोक के बीच में ही निरन्तर वास करता है। वह पृथ्वी और आकाश दोनों से दूर रहता है। यद्यपि अन्तरिक्ष में कोई प्रत्यक्ष आश्रय नही है, तथापि अपने अडिग विश्वास से वह वहाँ स्थित रहता है। ठीक इसी प्रकार साधक को द्वन्द्वो से अलग रहकर 'सहज-समरस' अवस्था में स्थित रहना चाहिए, जो मानव द्वारा कल्पित निश्चित स्थानो से अतीत है।

यदि 'बिन ठाहर बिस्वास' पाठ लिया जाय तो भी अर्थ मे अन्तर नही आता। 'ठाहर' का अर्थ है—स्थल।

बासुरि[5] गमि ना रैनि[6] गमि, नाँ सुपिनंतर[7] गंम।
कबीर तहाँ बिलंबिया, जहाँ छाँह[8] नहि घंम[9] ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—बासुरि=दिन। रैनि = रात। सुपिनंतर=स्वप्न में भी। बिलंबिया = स्थित। घंम = घाम, धूप।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मैं उस द्वन्द्वातीत अवस्था में स्थित हूँ जहाँ न दिन की पहुँच है, न रात की, जो स्वप्नो मे भी नही जाना जा सकता और न जहाँ छाया है, न धूप।

बासर-रैन, धूप-छाँह आदि द्वन्द्व के उदाहरण है।

---

१ शु०—वि–अकासे। २ ना० प्र०–मधि, शु०–मध्य। ३. ति०–गुप्त-वास बिगता रहै। ४ ना० प्र०–बिनठा हर, ति० गु०–बिन ठाहर। ५ शु०, वि०–बासर गम नहिं रैन गम, नहि सपनेतर गाम। ६. ना० प्र०–रैणि। ७. ना० प्र०–सुपनें तरगंम। ८. ना० प्र०—छाँहड़ा न। ९. शु० वि०—घाम।

जिहि पैंडै[१] पंडित गए, दुनियाँ[२] परी[३] बहीर।
औघट घाटी गुर[४] कही, तिहिं चढ़ि रहा[५] कबीर ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—पैंडै = मार्ग। बहीर = जनसमूह, भीड़ ( दे०—संक्षिप्त शब्दसागर, पृ० ७१९ )। औघट = विकट मार्ग। घाटी = पर्वतों के बीच का सँकरा मार्ग।

व्याख्या—जिस मार्ग से शास्त्रज्ञानी पंडित लोग गये हैं और जिस परम्परा के मार्ग पर संसार की भीड़ चलती रहती है, कबीर उस मार्ग पर नहीं चले। उस परमतत्त्व का मार्ग अत्यन्त दुर्गम ( अवघट्ट ) है। वह दुर्गम, कठिन और सँकरा मार्ग गुरु ने बतलाया और कबीर ने उसी मार्ग द्वारा परमतत्त्व तक आरोहण किया।

टिप्पणी—'औघट घाटी' में जिस विकट मार्ग का संकेत किया गया है, उसका वर्णन कबीर ने निम्न साखी में भी किया है:—

घट माँहै औघट लहा, औघट माँहै घाट।
कहि कबीर परचा भया, गुरू दिखाई बाट ॥
( ५१९ )

सुरग[६] नरक तै मै रहा, सतगुर के परसादि[७]।
चरन कँवल की मौंज मैं, रहौं[८] अंति अरु आदि ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—रहा = विलग रहा, पृथक् रहा। अंति अरु आदि = निरन्तर।

व्याख्या—सत्गुरु की कृपा से मैं स्वर्ग-नरक दोनों से दूर हूँ। ये दोनो भोग के स्थान है। इनमें जन्म-मरण का चक्कर लगा रहता है। मैं तो निरन्तर प्रभु के चरण-कमल के आनन्द में निमग्न रहता हूँ।

अलंकार—'चरन कँवल' मे रूपक।

हिन्दू मूये[९] राँम कहि, मूसलमान खुदाइ।
कहै[१०] कबीर सो जीवता, दुइ[११] मैं कदे न जाइ ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—मूये = मर गये। कदे = कभी भी।

व्याख्या—हिन्दू लोग परमतत्त्व के लिए 'राम-राम' रटते हुए और मुसलमान परम-तत्त्व को 'खुदा' में सीमित करके नष्ट हो गये। कबीर कहते है कि वास्तव में वही जीवित हैं जो राम और खुदा के भेद में कभी नही पड़ता, जो इन दोनों में व्याप्त अद्वैत-तत्त्व को देखता है। जीवन की सार्थकता इस भेद-वुद्धि से ऊपर उठना है।

---

१ ति०—मारगि। २ ति०—तेई गई। ३. गुप्त—पई। ४ ति०—रॉम की। ५ ना० प्र०—रह्या। ६ ना० प्र०—स्रग नृक थैं हूँ रह्या, गुप्त०—सरग नरक थैं हूँ रह्या, यु०—वि०—नरक स्वर्ग ते मै रहा। ७. ना० प्र०— प्रसादि। ८ ना० प्र०—रहिस्यूँ अंतिरु आदि, यु०—वि० रहसी अन्त रु आदि। ९. ति०, वि०, यु०—मूवा। १०. यु०—वह। ११ ति०—जो दुहुं कै निकटि न जाइ, यु०, वि०—दोउ के संग न जाइ।

दुखिया मूवा दुख कौं, सुखिया सुख कौं झूरि।
सदा अनंदी राँम के, जिनि सुख-दुख मेल्है दूरि ॥ ८॥

शब्दार्थ—झूरि = संतप्त, चिन्तित। मेल्है = फेंक दिया।

व्याख्या—दुःखी व्यक्ति दुःख के कारण पीडित रहता है और सुखी अधिक सुख की खोज में संतप्त रहता है। कबीर कहते है कि राम के भक्त, जिन्होंने दुःख-सुख के द्वन्द्व का परित्याग कर दिया है; सदा आनन्द मे रहते है।

कबीर हरदी पीयरी, चूना ऊजल भाइ।
राँम सनेही यूँ मिलै, दोनउं[1] वरन गँवाइ[2] ॥ ९॥

शब्दार्थ—वरन = रंग। भाइ (से भाव) = प्रकार, ढंग।

व्याख्या—इस साखी में कबीर ने आध्यात्मिक जीवन की एक उच्च स्थिति का संकेत किया है। हल्दी पीली होती है और चूना श्वेत रंग का होता है। परन्तु जब दोनों एक में मिलते है, तब एक नया लाल रंग बन जाता है। इसी प्रकार जब राम और उनके भक्त मिलते है, तब न तो भक्त का आपा रह जाता है और न ब्रह्म का निर्गुणत्व। भक्त एक नई स्थिति में परिणत हो जाता है, जहाँ न तो वह पूर्णरूपेण मनुष्य है और न पूर्ण ब्रह्म। वह रूपान्तरित हो जाता है और भागवती स्थिति में जीवन व्यतीत करता है। वह एक God-man भागवत पुरुष हो जाता है।

अलंकार—निदर्शना।

काबा फिर[3] कासी भया, राँमहि[4] भया रहीम।
मोट[5] चून मैदा भया, बैठि कबीरा जीम ॥ १०॥

शब्दार्थ—चून = चूनी, आटा। जीम = (सं०—जेमनम् = जिम्=भोजन करना) भोजन।

व्याख्या—सम्प्रदाय के आग्रहों को छोड़कर मध्यम मार्ग को अपनाने पर काबा काशी हो जाता है और राम रहीम बन जाते है। सम्प्रदायो की रूढियाँ समाप्त हो जाती है। भेदो का मोटा आटा अभेद का मैदा बन जाता है। हे कबीर! तू इस अभेद रूपी मैदे का भोजन कर, स्थूल भेदों के चक्कर में न पढ।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

धरती[6] अरु असमान बिचि, दोइ[7] तूँबड़ा अबध।
षट दरसन संसै[8] पड़ा, अरु[9] चौरासी सिध[10] ॥ ११॥

—५३६॥

---

१. ना० प्र०–दून्यूं। २. गुप्त–गमाइ। ३. ति०—फिरि। ४. ना० प्र०–रौंम, यु०, वि०—राम जु (जो)। ५ गुप्त—मोठ। ६. ति०–सुरग पताल के बीच मै, यु०—वि०—धरती और अकास में। ७. ति०–दोइ तुमरिया वद्ध, यु०–वि०–दो तूँबरी अवद्ध। ८. ति०, यु०, वि०–धोखें पड़े। ९ यु०, वि०–औ। १० ति०–सिद्ध।

शब्दार्थ—दोइ तूँवड़ा = दो तुंबा–सूर्य नाड़ी और चन्द्र नाड़ी, इड़ा-पिंगला। अवध = ( i ) अवधि, अवकाश, 'मधि सुनि' अर्थात् ब्रह्म नाड़ी। ( ii ) अवध्य, अविनाश्य। षड़दरसन = न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा।

व्याख्या—( i ) यदि 'अवध' का अर्थ अवधि या अवकाश लिया जाय तो अर्थ इस प्रकार होगा—पृथ्वी और आकाश रूपी दो तुंबों के बीच एक विस्तृत अवकाश है। इसी प्रकार इस शरीर में सूर्य और चन्द्र अर्थात् इड़ा और पिंगला नाड़ी रूपी दो तुम्बों के बीच में एक अवकाश है, जिसे कबीर ने 'मधि सुनि' कहा है। उसे लोग नहीं जानते। वही ब्रह्म नाड़ी है। उसको न जानने के कारण छहो दर्शन और चौरासी सिद्ध संशय में पड़े रहते हैं।

तुलनीय—चंद सूर दोइ तूँवा करिहूँ, चित चेतनि की डाँड़ी।
सुषमन तंती बाजण लागी, इहि बिधि त्रिष्णा षाँड़ी॥
—कबीर ग्रन्थावली—पद सं० १९६।

( ii ) यदि 'अवध' का अर्थ अवध्य या अविनाश्य लिया जाय तो इस साखी का अर्थ इस प्रकार होगा—

पृथ्वी और आकाश के बीच में द्वैत-दृष्टि का तुंबा अवध्य ( अविनाश्य ) है। उसका सरलता से विनाश नहीं किया जा सकता। उसी द्वैत के कारण छहो दर्शन और चौरासी सिद्ध संशय में पड़े रहते हैं तथा सत्य को ग्रहण नहीं कर पाते।

●

## ( ३२ ) सारग्राही को अंग

खीर[१] रूप हरि[२] नॉव है, नीर आन[३] व्यौहार।
हंस रूप कोइ साधु है, तत का जाननहार[४] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—खीर = क्षीर, दूध । आन = अन्य । तत = तत्त्व, सार ।

व्याख्या—यह संसार दूध के समान है । दूध में लगभग अस्सी प्रतिशत नैसर्गिक रूप से जल रहता है, शेष दूध का सार रहता है । इसी प्रकार इस संसार में केवल प्रभु का नाम वास्तविक दुग्ध तत्त्व है, अन्य प्रकार के व्यवहार जल के समान हैं । हंस में यह विशेषता होती है कि वह अपने चंचु से तात्त्विक दूध या दूध के सार को ग्रहण कर लेता है और शेष जल के अंश को छोड़ देता है । इसी प्रकार सन्त इस संसार में प्रभु-नाम रूपी सारतत्त्व को ग्रहण कर लेते हैं तथा अन्य सांसारिक व्यवहार का परित्याग कर देते हैं ।

अलंकार—परम्परित रूपक ।

कबीर साकत[५] कोइ नहीं, सबै वैस्नौं[६] जॉनि ।
जा[७] मुखि रॉम न ऊचरै[८], ताही तन की हॉनि[९] ॥ २ ॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि वस्तुतः स्वभाव से कोई शाक्त नहीं है, सभी के भीतर प्रभु विद्यमान है। इसलिए सभी को वैष्णव अर्थात् विष्णु का भक्त समझो । जिसके मुख से राम का नाम नही निकलता, यह समझ लो कि उसका मानव-तन व्यर्थ हो गया, क्योकि मानव-शरीर से ही भक्ति हो सकती है ।

टिप्पणी—कबीर के समय 'शाक्त' बहुत बदनाम हो चुके थे और प्रायः लोग 'शाक्त' को नास्तिक समझने लगे थे ।

कबीर[१०] औगुन[११] नॉ गहै, गुन[१२] ही कौं ले बीनि ।
घट-घट महु[१३] के मधुप ज्यौं[१४], परमातम[१५] ले चीन्हि ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—महुँ = मधु, शहद । मधुप = मधुमक्षिका, मधु को पीनेवाली ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि लोगो के अवगुण मत ग्रहण करो । उनमें विद्यमान गुणों को चुनकर ले लो । जिस प्रकार मधुमक्षिका पुष्प के अन्य उपादानों को छोड़कर

---

१. ना० प्र०—पीर, यु०, वि०—क्षीर । २ वि०—सतनाम है, यु०—हरि नाम है । ३. यु०, वि०—रूप । ४. ति०, यु०, वि०—छांननहार, ना० प्र०—जॉनणहार । ५ ना० प्र०—सापत को । ६. ना० प्र०—वैशनों जॉणि । ७. ति०—जिहि । ८ ना० प्र०—उचरै । ९. ना० प्र०—हॉणि । १०. यु०—औगुन को तो ना गहै । ११. ना० प्र०—औगुणॅ । १२. ना० प्र०—गुण । १३. यु०, वि०—म.के । १४ ना० प्र०—ज्यु । १५. ना० प्र०—पर आत्म् ।

केवल सार रूप मधु को ग्रहण कर लेती है, उसी प्रकार तुम भी जीवो में विद्यमान सार रूप प्रत्यगात्मा ( जो परमात्मा का अंश है ) को ग्रहण करो और अवशिष्ट को छोड़ दो।

अलंकार—उपमा।

वसुधा वन बहु भाँति है, फूलै[1] फलै अगाध।
मिष्ट सुवास कबीर[2] गहि, विषम गहै[3] नहिं साध ॥ ४ ॥
—५४० ॥

शब्दार्थ—विषम = दूषित।

व्याख्या—इस संसार में विविध प्रकार के वन है जो अत्यधिक फल-फूलो से लदे हुए हैं। कबीर कहते हैं कि उनमें से मीठे फलो और सुगन्धित पुष्पो को ग्रहण करो। विवेकशील लोग दूषित वस्तुओ को ग्रहण नही करते।

अलंकार—अन्योक्ति।

---

१. ना० प्र०—फूल्यौ फल्यौ, यु०, वि०—फूल फूल। २. यु०, वि०—कविरा गहै। ३. ना० प्र०—कहै किहि, यु०, वि०—गहै कोइ।

## (३३) विचार को अंग

राम[1] राम सब कोइ कहै, कहिबे[2] बहुत विचार।
सोई रॉम सती[3] कहै, सोई कौतिकहार[4] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—विचार = भेद। सती = सत्यनिष्ठ। कौतिकहार = दिखावा करनेवाला, पाखंडी।

व्याख्या—राम का नाम सभी लेते है, किन्तु उसके उच्चारण में बहुत भेद रहता है। वही रामनाम सत्यनिष्ठ संत कहता है और उसी का उच्चारण पाखंडी पुरुष भी करता है। संत पूर्ण मनोयोग के साथ उसका स्मरण करता हे और ढोंगी केवल दिखावे के लिए, दूसरों पर प्रभाव जमाने के लिए 'राम' का नाम लेता है।

आगि कहै[5] दाझै नहीं, जे[6] नँहि[7] चंपै पाँइ।
जब लगि भेद न जाँनिए,[8] राम कहा[9] तौ काँइ ॥ २ ॥

शब्दार्थ—दाझै=दग्ध होना। चंपै = चाँपना, दबाकर रखना।

व्याख्या—आग का नाम लेने मात्र से कोई जलता नही, जब तक कि वह उस पर अपना पैर दबाकर न रखे। इसी प्रकार जब तक कोई रामनाम के रहस्य को नही जानता, उसके मर्म में अपने को डुबो नहीं देता, तब तक केवल नाम लेने से क्या लाभ ?

अलंकार—निदर्शना।

कबीर सोचि बिचारिया, दूजा कोई नाँहि।
आपा पर जबचीन्हिया, (तब) उलटि समाना माँहि ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—आपा = आत्मतत्त्व। पर = दूसरा जड़तत्त्व। माँहि = में, भीतर।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मैंने भलीभाँति विचार कर लिया है कि इस संसार में प्रभु के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही है। उसी प्रभु का अंश प्रत्यगात्मा अर्थात् अपने भीतर विद्यमान आत्मा है। जब मैंने इस आत्मतत्त्व को जड़तत्त्व से भिन्न समझ लिया, तब पराङ्मुखी भाव से उलटकर प्रत्यङ्मुखी भाव मे समा गया अर्थात् उस प्रत्यगात्मा से युक्त हो गया।

---

१. ना० प्र०—राँम नाँम सब को कहै। २. गु०, वि०—कहने माँहि। ३. गु०, वि०—जो सति (सती)। ४ ना० प्र०—कौतिगहार। ५ ना० प्र०—कह्याँ। ६. गु०, वि०—पाँव न दीजै माँहि। ७. ना० प्र०—नहीं। ८. ति०, गु०, वि०—जो पै भेद न जांनिए (जानहीं)। ९ ना० प्र०—कह्या।

पानी[1] केरा पूतरा, राखा[2] पवन संचारि।
नाना बांनी[3] बोलिया, जोति धरी करतारि ॥ ४ ॥

व्याख्या—कबीर कहते है कि मानव का यह शरीर जलबुद्बुद्वत् क्षणभंगुर है। वह केवल प्राण के संचार से गतिमान है और नाना प्रकार की वाणी बोलता है। उसमें सारतत्त्व केवल कर्त्ता की ज्योति है।

नौ मन[4] सूत अलूझिया[5], कबीर[6] घर घर बारि।
तिनि सुलझाया बापुरे[7], (जिनि) जानी[8] भगति मुरारि ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—अलूझिया=उलझा हुआ। बारि = द्वार पर। बापुरे=बेचारे।

व्याख्या—कबीर कहते है कि प्रत्येक घर के द्वार पर नौ मन सूत उलझा पड़ा है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अनेक प्रकार के कर्म-जाल में फँसा हुआ है। वही विनत व्यक्ति जो प्रभु की भक्ति का रहस्य समझ सके है, इस कर्म-जाल को सुलझाने में समर्थ हो सके है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

आधी साखी[9] सिरि कटै[10], जौ रे[11] बिचारी जाइ।
मन[12] परतीति न ऊपजै, (तौ) राति दिवस मिलि गाइ[13] ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—सिरि कटै=आपा का विनाश, अहं की समाप्ति। बिचारी=विचारपूर्वक।

व्याख्या—यदि चिन्तन-मननपूर्वक साखी को समझा जाय तो आधी साखी ही आपा का विनाश करने के लिए पर्याप्त है। परन्तु चाहिए—श्रद्धा। यदि मन में श्रद्धा-विश्वास नही है तो दिन-रात सारी साखियो को मिलकर गाने से भी कोई लाभ नही।

सोई[14] आखर सोइ बैन, जन[15] जू जू बाचवंत।
कोई[16] एक मेलै लवनि[17], अमीं रसाइंन[18] हंत ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—जू जू = भिन्न-भिन्न। वाचवंत = बाँचते है, बोलते है। लवनि = लावण्य। हंत = होता है।

व्याख्या—संतों की वाणियो के अक्षर और वचन तो वही रहते है, परन्तु पाठक अपनी-अपनी मनोवृत्ति के अनुसार उनको पृथक्-पृथक् रूप में ग्रहण करते है। कोई ऐसा

---

१ ना० प्र०—कबीर पाँणी केरा पूतला। २. ना० प्र०–राख्या पवन सँवारि। ३ ना० प्र०—बाँणी, यु०, वि०–वानी बोलता। ४. ना० प्र०—मण। ५ यु०, वि०–अरूझिया। ६. यु०–कबिरा। ७ ना० प्र०–बापुडे। ८. ना० प्र०—जाणी। ९ ना० प्र०—सापी। १० ति०–खंडै। ११. ना० प्र०—जोर, यु०, वि०—जोरे। १२ यु०, वि०—मनहिं प्रतीत। १३. यु०, वि०–भरि गाय। १४. ना० प्र०—सोई अपिर सोई बैयन, यु०, वि०–सोइ अक्षर सोई भनै। १५ यु०, वि०—सोई जन जीवंत, गुप्त—जन जुजुवाचंवत। १६. यु०, वि०—अकिलमंद कोइक मिलै, अमि महारसीहं पिवत। १७. गुप्त–कै लवणि, ना० प्र०—लवणि। १८. ना० प्र०—रसाँइण तुत।

विरला ही होता है जो मन के सच्चे भाव को उनमे मिला सकता हो जिससे कि उन वाणियों का भाव अमृत-रसायन रूप हो जाता है।

यदि 'लवनि' का अर्थ 'नमक' लिया जाय तो उसका अर्थ होगा---यद्यपि वह रसायन अमृत है तथापि कुछ लोग अपने अज्ञान और दम्भवश उसमें लवण मिला देते है अर्थात् उसके रस को भंग कर देते हैं।

**हरि मोतिन[1] की माल है, पोई काचै तागि।**
**जतन[2] करो झटका घनां, टूटैगी कहूँ लागि ॥ ८ ॥**

शब्दार्थ—पोई=पिरोई।

व्याख्या—हरि-भक्ति कच्चे धागे में पिरोई गई मोती की माला के समान है। यदि इस भक्तिरूपी माला के साथ तर्क-वितर्क, संशय-विवाद का जोर लगाओगे तो गहरे झटके लग जाने से यह माला टूट जाएगी।

भक्ति, श्रद्धा और प्रेम से होती है। तर्क-वितर्क का कोई अन्त नही। इसी प्रकार संशय का भी कोई अन्त नही। इनके द्वारा भक्ति-मार्ग में विघ्न ही उपस्थित होता है।

तुलसीदास ने भी कहा है—

जे श्रद्धा संबल रहित, नहिं संतन कर साथ।
तिन्ह कहँ मानस अगम अति, जिन्हहि न प्रिय रघुनाथ ॥
—मानस

अलंकार—रूपक।

**मन नहिं[3] छाड़े बिषै, बिषै न छाड़े मन कौं।**
**इनको इहै सुभाव, पूरि लागी जुग जन कौं ॥**
**खंडित मूल बिनास, कहौ किम बिगतह[4] कीजै।**
**ज्यों[5] जल मैं प्रतिबिम्ब[6], त्यों सकल रामहि[7] जानीजै[8] ॥**
**सो मन सो तन सो बिषै, सो त्रिभुवनपति कहूँ कस।**
**कहै कबीर बंदहु[9] नरा, ज्यूँ जल पूरा सकल रस[10] ॥ ९ ॥**
—५४९

शब्दार्थ—जुग = दोनो।

व्याख्या—मन विषयो में आसक्त रहता है और विषय मन को आकृष्ट करते रहते हैं। इन दोनों का यही स्वभाव है कि दोनो पूरी तरह से मनुष्य के पीछे लगे या चिपके हुए है। अतः प्रभु-भक्ति के अतिरिक्त संसार से निष्कृति का अन्य उपाय नही है।

---

१. ना० प्र०—मोत्याँ। २. ना० प्र०—जतन करी झंटा घणाँ। ३. ना० प्र०—नहीं। ४. गुप्त—विग्रह। ५. ना० प्र०—ज्यूँ। ६. ना० प्र०—प्रतिब्यंब। ७. गुप्त—राम। ८. ना० प्र०—जीणीजै। ९. ना० प्र०—ब्यंदहु। १०. गुप्त—सर।

प्रभु का प्रत्याख्यान किसी प्रकार नही किया जा सकता। वह प्रभु जो मन, इन्द्रिय, वचन से विगत अर्थात् परे हैं, उसका खण्डन कर, कोई मूल से विनाश नही कर सकता, क्योंकि जिस प्रकार जल की प्रत्येक राशि में सूर्य का प्रतिविम्ब विद्यमान है उसी प्रकार संसार की प्रत्येक सत्ता में राम विद्यमान हैं।

अंतिम वाणी में कबीर अवतार-पूजा का निषेध करते हुए कहते है कि जैसे जल प्रत्येक रस में व्याप्त है, उसी प्रकार जो राम सर्वत्र व्याप्त है, उनकी वंदना करो। जो मानव-शरीर धारण किये हुए है, उनमें वैसा ही मन है, वैसा ही शरीर है, उन्हे भी विषय उसी प्रकार आकृष्ट करते हैं जैसे अन्य जन को। फिर हम उन्हें त्रिभुवनपति अर्थात् ईश्वर कैसे कहें ?

अलंकार—उपमा।

## (३४) उपदेश को अंग

हरि[1] जो यहै विचारिया, साखी[2] कही कबीर।
भौसागर मैं जीव है, सुनिकै[3] लागै तीर॥ १॥

शब्दार्थ—विचारिया = निश्चय किया। तीर = किनारे।

व्याख्या—प्रभु ने यह निश्चय कर प्रेरणा दी कि हे कबीर! तुमने जो प्रत्यक्ष अनुभव किया है, उसे साखी द्वारा व्यक्त करो। जीव भव-सागर में पड़ा हुआ है। वह तुम्हारी वाणी सुनकर भव-सागर के किनारे लग जाएँगे अर्थात् पार कर जाएँगे।

यदि 'जे कोइ पकड़ै तीर' पाठ लिया जाय तो अर्थ होगा—सम्भव है उसके द्वारा कोई भव-सागर के किनारे लग जाय।

कली[4]काल ततकाल है, बुरा करो[5] जिनि कोइ।
अनबोवै[6] लुनता नहीं, बोवै लुनता होइ॥ २॥

शब्दार्थ—कलीकाल = कलियुग। लुनता = काटना।

व्याख्या—कलिकाल सद्यःफलदायक है। इसमें अच्छे-बुरे कर्मों का फल तत्काल मिलता है। इसलिए किसी को बुरा कर्म नही करना चाहिए। जो जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल मिलता है। कर्म करना बोने के समान है। फल मिलना काटने के समान है। विना बोये हुए कोई काट नही सकता। जो जैसा बोता है, वैसा ही काटता है। ( As you sow, so do you 1eap. )

यदि 'अंन बावैं लोहा दाहिणै' पाठ लिया जाय तो अर्थ होगा, दाहिने हाथ में लोहा अर्थात् हल और बायें हाथ में अन्न लेकर जो जैसा बोता है, वैसा ही काटता है।

अलंकार—अर्थान्तरन्यास।

कबीर संसा जीव मैं, कोइ[7] न कहै समझाइ।
बिधि-बिधि बाँणी बोलता, सो कत गया बिलाइ॥ ३॥

शब्दार्थ— संसा=संशय। कत = कहाँ। बिधि-बिधि = विविध।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जीव मे एक बड़ा भारी सशय है कि मरने के बाद क्या गति होती है? इसको कोई समझाकर नही बतला पाता। जब तक शरीर में प्राण

---

१ ग्रु०, वि०—अतर याहि, हनु०—हरि जिव यही विचारिये। २ ना० प्र०—सापी। ३. ना० प्र०—जे कोइ पकड़ै तीर। ४. हनु०, वि०, ग्रु०—काल काल। ५. ग्रु०, वि०—ना करिए, हनु०—न कहिए। ६. ना० प्र०— अनबावै लोहा दाहिणैं, बोवै सुलुणता होइ, हनु०—अनबाये सो दाहिनो, केय सूल तन होय। ७. ना० प्र०—कोई।

है, तब तक वह नाना प्रकार की वाणी बोलता है। निधन होने पर वह बोलनेवाला कहाँ विलीन हो गया ? इसे कोई नहीं बता पाता।

कबीर संसा दूरि करि, जाँमण मरण भरंम।
पंचतत्त तत्तहि मिले, सुरति समाना मंन ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—जामंण = जन्म लेना। पंचतत्त = पंचभूत (पृथ्वी, जल, पावक, गगन, समीर), सुरति = प्रत्यगात्मा का प्रतीक।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जन्म-मरण के विषय में अपने भ्रम को दूर करो। आत्मा का न जन्म होता है, न मरण। जन्म-मरण शरीर का धर्म है। जिन पाँच तत्त्वों से यह शरीर बना है, वे तत्त्व अपने मूल पंच-महाभूतों में मिल जाते हैं और मन प्रत्यगात्मा में समा जाता है।

टिप्पणी—मृत्यु के समय शरीर के पाँच तत्त्व पंचमहाभूतों मे समा जाते है। परन्तु जीव के मन और बुद्धि आत्मा के साथ शरीर छोड़ते हैं।

मानस में बालि की मृत्यु पर उसकी पत्नी तारा को समझाते हुए इसी प्रकार राम ने कहा था—

छिति जल पावक गगन समीरा, पंच रचित अति अधम सरीरा।
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा, जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा ॥
—किष्किन्धा०-११-४।५

गिरही[1] तौ चिंता घनी, बैरागी तौ भीख[2]।
दुहु[3] कात्यॉं बिचि जीव है, द्यौ[4] हनै संतौ सीख[5] ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—कात्यॉं=काती, कर्तरी, कैंची। द्यौ = दोनों। हनै = नष्ट कर देती है।

व्याख्या—गृहस्थ हो या वैरागी, चिंता से कोई मुक्त नहीं है। गृहस्थ नाना प्रकार की घोर चिन्ताओ से ग्रस्त रहता है और वैरागी को भिक्षा की चिंता बनी रहती है। बेचारे जीव की स्थिति इन दोनो के बीच वैसी ही है, जैसी कैंची के दो फलकों के बीच वस्त्र की होती है। संतो की शिक्षा इन दोनों चिंताओ को नष्ट कर देती है।

बैरागी बिरकत[6] भला, गिरही चित्त उदार।
दुहुँ[7] चूका रीता पड़ै, ताकौं[8] वार न पार ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—बिरकत=विरक्त। रीता= रिक्त।

१. ना० प्र०—ग्रिही कं च्यंता घणीं। २. ना० प्र०—भीष। ३. गु०, वि०—दोनों के बिच जीव है; देहु न संतो सीख। ४. गुप्त—धीह नै। ५. ना० प्र०—सीष। ६. गु०—तो विरक्त। ७. तिवारी, हनु०, गु०—दोऊ चूकि खाली पड़ै। ८. ना० प्र०—ताकूँ।

व्याख्या—वैरागी यदि वास्तव में विरक्त है तो वह श्रेष्ठ है और गृहस्थ यदि उदार चित्त का है तो श्रेष्ठ है। यदि ये दोनो उन गुणों से च्युत हो गये तो अपने वैशिष्ट्य से रिक्त हो गये अर्थात् वैरागी न सच्चा वैरागी रहा और न गृहस्थ, सच्चा गृहस्थ। ऐसे च्युत जनों का कोई ठौर-ठिकाना नही।

जैसो उपजै पेड़ सूँ, तैसी निवहै ओरि।
पैका-पैका जोड़ता, जुड़िसी लाख[1] करोरि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—ओरि = अन्त। निवहै = निर्वाह, संरक्षण। पैका-पैका = थोड़ी-थोड़ी रकम, पैसा-पैसा।

व्याख्या—पेड़ में जैसा फल लगता है, यदि तदनुरूप अन्त तक उसका संरक्षण हो तो वह सार्थक हो जाता है, ऐसे ही गुरु से जो उपदेश मिला है उसका अन्त तक निर्वाह हो जाय तो जीवन सार्थक और फलदायक हो जाता है। जैसे पैसा-पैसा जोड़ने से लाख-करोड़ एकत्र हो जाता है, वैसे ही उपदेश के अनुसार निरन्तर साधना से अन्त में संसिद्धि ( पूर्णता ) प्राप्त हो जाती है।

अलंकार—दृष्टान्त।

कबीर हरि के नाव सौं[2], प्रीति रहै इकतार।
तौ मुख तैं मोती झरैं[3], हीरा[4] अनंत अपार ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—इकतार = एकरस। मोती=( प्र० अ० ) ज्ञानयुक्त वचन। हीरा=( प्र० अ० ) आत्म-ज्योति, आत्म-दर्शन।

व्याख्या—कबीर कहते है कि यदि प्रभु के नाम के प्रति हृदय में अनवरत प्रेम बना रहे तो साधक एक ऐसी स्थिति को पहुँच जाएगा, जहाँ उसके मुख से ज्ञान के मोती झरने लगेंगे और उसे उस आत्मज्योति का दर्शन होगा जो अनन्त और अपार है।

यदि 'हीरे अन्त न पार' पाठ लिया जाय तो अर्थ होगा—जिनका अन्त और पार न हो।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

ऐसी बानी[5] बोलिए, मन का आपा खोइ।
अपना[6] तन सीतल करै, औरन[7] कौं सुख होइ ॥ ९ ॥

व्याख्या—कबीर कहते है कि अपने मन का अपनत्व और अहंकार छोड़कर ऐसी मधुर वाणी बोलना चाहिए जिससे स्वयं को शीतलता प्राप्त हो और दूसरों को भी सुख मिले।

---

१ ना० प्र०—लाप करोडि। २ ना० प्र०—गूँ। ३ ना० प्र०—झड़ं। ४ ना० प्र०—हीरे अंत न पार। ५ ना० प्र०—वाँणी। ६. हनु०, यु०, त्रि०—औरन। ७. हनु०, वि०, यु०—आपुहि।

सो०—कोइ एक राखै सावधान, चेतनि पहरैं जागि।
बस्त[1] न बासन सूँ खिसै, चोर न सकई लागि ॥ १० ॥
--५५९

शब्दार्थ—राखै = रक्षा करे। चेतनि = सचेत होकर। बासन = थैली। खिसै = खिसकना, गिरना।

व्याख्या—यदि कोई सावधान रहकर सचेत रहते हुए पहरे में जागता हुआ अपने सामान को रखवाली करता है तो उसकी वस्तु न तो थैली से खिसक सकती है और न चोर उसको चोरी कर सकते है। इसी प्रकार जो आत्मारूपी धन की रक्षा मे सावधान रहता हुआ, माया-निद्रा मे न फँसकर जाग्रत रहता है, उसका आत्मारूपी परमधान सुरक्षित रहता है और काम-क्रोधादि चोर उसके पीछे नही लग सकते।

अलंकार—अन्योक्ति।

---

१. ना० प्र०—बस्तन।

## ( ३५ ) वेसास को अंग

जिनि नर[1] हरि जठराहँ, उदिक थैं पिंड[2] प्रकट कीयौ।
सिरजे श्रवण कर चरन, जीव जीभ मुख तास दीयौ॥
उरध पाव अरध सीस, बीस पषां इम रखियौ[3]।
अंन पान जहाँ जरै, तहाँ तैं अनल न चखियौ[4]॥
इहि भाँति भयानक उद्र में उद्र न कबहूँ छंछरै।
कृसन कृपाल कबीर कहि, इम प्रतिपाल न क्यौं करै॥ १॥

शब्दार्थ—वेसासु=विश्वास। जठराहँ=पेट में। उदिक थै=रज-वीर्य के द्वारा। पिंड=शरीर। पषां=पक्ष, १५ दिन। रखियौ = रक्षा किया। अनल=जठराग्नि। उद्र = उदर, पेट। छंछरै = छूँछा, खाली। प्रतिपाल = रक्षा।

व्याख्या—जिस प्रभु ने गर्भ में रज और वीर्य से मनुष्य के शरीर का निर्माण किया, जिसने उसको कान, हाथ, पैर, जिह्वा, मुख आदि दिया, जिस प्रभु ने गर्भ में ऊपर पैर और नीचे सिर की दशा में दस मास तक सुरक्षित रखा। जिस जठराग्नि में भुक्त अन्न, जल आदि जीर्ण हो जाते हैं, वहाँ भी तू उस जठराग्नि से बचा रहा। इस प्रकार माँ के भयानक पेट में भी तेरा उदर कभी खाली नही रहा, तेरा पोषण मिलता रहा। जब उदर में इस दशा में उदार प्रभु तेरा पोषण करता रहा, कबीर कहते हैं तो वह कृपालु प्रभु अब तेरा प्रतिपालन क्यो न करेगा? अर्थात् हे मनुष्य! तू प्रभु की उदारता पर विश्वास रख। वह तेरी रक्षा करेगा।

भूखा भूखा क्या करै, कहा सुनावै लोग।
भाँड़ा गढ़ि[5] जिन मुख दिया, सोई पुरवन[6] जोग॥ २॥

शब्दार्थ—भाँड़ा = बरतन ( ला० अ० ) शरीर।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे जीव! तू 'भूखा-भूखा' की रट क्यो लगाये हुए है? लोगों को अपनी भूख की कहानी क्यों सुनाता है? जिस दयालु प्रभु ने तेरे शरीर रूपी घड़े को गढ़कर मुख दिया है, वही उदर-पूर्ति भी करेगा।

रचनहार कौं[7] चीन्हि लै, खावे[8] कौं क्या रोइ।
दिल मन्दिर रौं पैसि[9] करि, तांनि[10] पछेवरा सोइ॥ ३॥

---

१ गुप्त—नरहरि। २. गुप्त—प्यंट, ना० प्र०—पंड। ३ ना० प्र०—रषियो। ४. ना० प्र०—चषियौं। ५ ना० प्र०—घडि जिनि, यु०—गढिया। ६ ना० प्र०—पूरण, यु०, वि०—पूरन। ७ ना० प्र०—कूँ यु०, वि०—को। ८ ना० प्र०—खैबे कूँ कहा रोइ, यु०—खावे को क्या, वि०—खाने को क्या। ९. तिवारी, यु०, वि०—पैठि कै। १० ना० प्र०—ताँणि पछेवडा, यु०—तानि पछौरा, वि०—तान पिछोरी।

शब्दार्थ—पछेवरा = चादर।

व्याख्या—हे जीव! तू अपने स्रष्टा को पहचान। खाने के लिए क्यों रोता है? अपने हृदय रूपी मन्दिर में प्रविष्ट होकर अर्थात् अन्तर्मुखी होकर तू प्रत्यगात्मा को पहचान और विश्वास रूपी चादर ओढ़कर सुख की नींद सो अर्थात् निश्चिन्त हो जा।

रांम नांम करि बोंहड़ा[1], बोहौ[2] बीज अघाइ।
खंड[3] ब्रह्माण्ड सूखा परै, तऊ न निष्फल जाइ॥ ४॥

शब्दार्थ—बोंहड़ा = बीज। बोहौ=बोओ। अघाइ=जी-भरकर।

व्याख्या—रामनाम का बीज लो और उस बीज को जी-भरकर अपने जीवन-क्षेत्र में बोओ। चाहे चारों ओर सूखा पड़ जाय, कहीं भी वर्षा न हो अर्थात् चाहे जैसी विषम परिस्थिति क्यों न हो, यह बीज उगेगा ही। वह कभी निष्फल नहीं जा सकता। राम-नाम से संसिद्धि अवश्य प्राप्त होगी।

अलंकार—विशेषोक्ति, रूपक।

चिंतामनि[4] चित मैं बसै, सोई चित मैं आंनि[5]।
बिन[6] चिंता चिंता करै, इहै[7] प्रभु की बांनि[8]॥ ५॥

शब्दार्थ—चिन्तामनि = वह मणि जो चिंतन करते ही वाञ्छित फल प्रदान करती है। चिंता = (१) ध्यान, (२) ख्याल।

व्याख्या—तेरे भीतर सभी वाञ्छित पदार्थों को देनेवाला समर्थ ईश्वररूपी चिंता-मणि विद्यमान है। तू उसी में चित्त को लगा। प्रभु का यही स्वभाव है कि वह सब का ख्याल रखते हैं, कोई उनका चिंतन करे या न करे।

अलंकार—विभावना, यमक।

कबीर[9] का तूं चितवै, का[10] तेरे[11] चिंते होइ।
अनचिन्ता[12] हरि जी करै, जो[13] तोहि चिंति[14] न होइ॥ ६॥

शब्दार्थ—चितवै=चिंता करता है। अनचिन्ता = जो नहीं सोचा गया है। जो तोहि = जिससे तुझे।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! तू क्या चिंता करता है। तेरे चिंता करने

१. गुप्त-बोहना, गु०—बहु डरो। २. ना० प्र०—बोही। ३. ना० प्र०-अति कालि दुका पड़ै, तौ निरफल कदे न जाइ। ४. ना० प्र०-च्यंतामणि मन। ५. ना० प्र०—आंणि। ६. ना० प्र०—बिन च्यंता च्यता करै, गु०-बिना प्रेम चिंता करै, त्रि०—बिना प्रभु चिंता करै। ७. गु०, त्रि०—यह गुरु की बानि। ८. ना० प्र०—बांणि। ९. गु०-कबिरा क्या मैं चितऊँ, त्रि०-कबीर चिंता क्या करूँ। १०. गु०, मन चिंता क्या होइ, त्रि०-चिंता सो क्या होइ। ११. ना० प्र०—मेरा च्यन्त्या। १२. ना० प्र०-अणच्यन्त्या, निरारी, त्रि०-आपन चिंता हरि करै, त्रि०-मेरी चिंता। १३. गु०, त्रि०-चिंता मोहि न कोय। १४. ना० प्र०—च्यन्त।

मीठा[1] खाँड़ मधूकरी, भाँति भाँति कौ[2] नाज।
दावा किसही[3] का नहीं, बिना[4] विलायत राज ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—मधूकरी=भिक्षान्न। राज=राजा। विलायत (अ०) देश, राज्य।

व्याख्या—भिक्षा से प्राप्त भोजन में भाँति-भाँति का अन्न रहता है। वह खाँड़ के समान मीठा होता है। उसमें किसी एक व्यक्ति का दावा नही रहता। मधूकरी से सन्तुष्ट ऐसा साधु बिना राज्य के ही राजा है।

अलंकार—विभावना।

माँनि महातम प्रेम रस, गरवातन[5] गुण नेह।
ए सबही अहला[6] गया, जबहिं[7] कहा कछु देह ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—माँनि = सम्मान। महातम = माहात्म्य। गरवातन = गुरुत्व, गौरव। अहला=अहरा, जलते हुए कंडो की आग। अहला गया (मुहा०) = भाड़ में गया, भस्म हो गया।

व्याख्या—किसी व्यक्ति से किसी वस्तु की याचना करते ही सम्मान, माहात्म्य, प्रेम-भाव, गौरव, गुण और स्नेह आदि सभी नष्ट हो जाते है।

माँगन[8] मरन समान है, बिरला बंचै कोइ।
कहै[9] कबीरा रांम सौं, मति रे[10] मँगावै मोहि ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—बंचै = बचना।

व्याख्या—यद्यपि माँगने से कोई बच नही पाता, प्रत्येक को कुछ-न-कुछ आवश्यकता पड़ती रहती है और उसे माँगना पडता है तथापि माँगना मृत्यु के समान दुःखदायी है। कबीर राम से प्रार्थना करते है कि हे प्रभु! मैं ऐसी स्थिति मे कभी न आऊँ कि मुझे कभी किसी से कुछ माँगना पड़े।

अलंकार—उपमा।

पांडर[11] पिंजर मन भँवर, अरथ अनूपम बास।
रॉम[12] नॉम सींच्या[13] अँमी, फल लागा बिस्वास[14] ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—पांडर = कुंद का पुष्प। पिंजर = शरीर। अरथ = मनोरथ। अँमी = अमृत।

---

१ तिवारी–कबीर भली, यु०, वि०—रुव ते भली। २ यु०, वि०, गुप्त—का। ३ यु०–किसहू, वि०–किसी का। ४ ना० प्र०–बिन बिलाइति वड राज। ५ ना० प्र०—गरवा तण। ६. ना० प्र०–अहला गया। ७ ना० प्र०—जबही कह्या। ८ ना० प्र०–माँगण मरण। ९ ना० प्र०–कहै कबीर रघुनाथ सूँ। १० ना० प्र०–मतिर। ११ ना० प्र०—पाडल पजर, यु०–पंडल पिंजर। १२ यु०, वि०–एक नाम सींचा। १३ ना० प्र०– सींच्या। १४ ना० प्र०—वेसास।

व्याख्या—भक्ति में विश्वास ही फलदायक होता है। भक्ति की साधना के लिए शरीर, मन, मनोरथ, रामनाम का जप और विश्वास—ये आवश्यक अंग हैं। इस तथ्य को कबीर ने सांगरूपक के माध्यम से इस प्रकार प्रस्तुत किया है।

शरीर कुंद की झाड़ है, उसके पुष्प में मनोरथ की अनुपम सुगंध है। उस पर मनरूपी भ्रमर मँडराता रहता है। उस झाड़ को साधक रामनाम जपरूपी अमर प्राणदायिनी शक्ति से सींचता रहता है। तब उसमें विश्वास के फल लगते हैं। यही भक्ति की सार्थकता है।

अलंकार—सांगरूपक।

मेरि[1] मिटी मुकता भया, पाया ब्रह्म[2] बिसास।
अब मेरे दूजा कोइ[3] नहीं, एक तुम्हारी आस॥ १७॥

व्याख्या—मैं और मेरापन का भाव समाप्त हो गया। अब मैं इस सीमा से मुक्त हो गया और मेरी ब्रह्म में पूर्ण निष्ठा हो गयी। हे प्रभु! अब मेरे लिए कोई दूसरा नही है, केवल तुम्हारा भरोसा है।

जाके[4] हिरदै हरि बसै, सो नर[5] कलपै कांइ[6]।
एकै[7] लहरि समुंद की, दुख दालिद[8] सब जाइ॥ १८॥

शब्दार्थ—कांइ=क्यो। कलपै=कलपना, तड़पना, विलखना।

व्याख्या—जिसके हृदय में प्रभु का वास है, वह और किसके लिए कलपता है? भगवान के अनुग्रहरूपी समुद्र की एक लहर मात्र से उसके सभी दुःख और दारिद्रय समाप्त हो जाते हैं।

पद गावै[9] लौलीन ह्वै, कटी[10] न संसै पास।
सबै पछोड़े[11] थोथरे, एक दिना बिस्वास[12]॥ १९॥

शब्दार्थ—लौलीन=ज्योति में लीन होकर, प्रभु में लीन होकर। पास=पाश, बंधन। पछोड़े=पछोरना, सूप में रखकर फटककर साफ करना। थोथरे=थोथा, निस्सार।

व्याख्या—यदि संशय का बंधन नही कटा तो सर्वथा तल्लीन होकर पद गाने से कुछ भी लाभ नही हो सकता। विश्वास के बिना सारी साधना वैसे ही निस्सार है जैसे बिना अन्नकण के थोथे तुष को पछोरना।

अलंकार—उपमा, विनोक्ति।

---

१ ना० प्र०—मेर। २. तिवारी-अणभ निवास। ३ ना० प्र०—को। ४. ना० प्र०—जाकी दिल में। ५ तिवारी, यु०—जन। ६. यु०—काहि। ७. ना० प्र०—एक। ८. ना० प्र०—दलिद्, यु०—दरिद्र वहि जाहि। ९ ना० प्र०—गाएँ लंलीन। १०. यु०—कटै। ११. ना० प्र०—पिछोड़े, यु०—पिछोरे थोथरा। १२. ना० प्र०—बेसास।

गावन[1] ही मैं रोवना[2], रोवन[3] ही मैं राग।
इक[4] बैरागी ग्रिह करै[5], एक[6] ग्रिही बैराग ॥ २० ॥

व्याख्या—एक दिखावे में गाता है, किन्तु भीतर से रोता है अर्थात् दुःखी है। दूसरा ऊपर से तो रोता हुआ प्रतीत होता है, किन्तु भीतर से गाता है अर्थात् सुखी है। ठीक इसी प्रकार एक ऊपर से तो वैरागी है, किन्तु भीतर से आसक्त रहने के कारण गृहस्थी से बँधा है और दूसरा ऊपर से घर-गृहस्थी तो बनाये हुए हैं, किन्तु भीतर से वह अनासक्त है। उसमें विषयों के प्रति वास्तविक वैराग्य है। अतः वह प्रसन्नचित्त है।

कबीर के कहने का भाव यह है कि वैराग्य का सम्बन्ध हृदय से है, घर-गार्हस्थ्य से नही।

अलंकार—विभावना, निदर्शना।

गाया तिन[7] पाया नहीं, अनगायाँ[8] तै दूरि।
जिनि गाया बिस्वास सौं[9], तिन[10] राम रहा[11] भरपूरि ॥ २१ ॥
—५८०

व्याख्या—जिन्होने बिना विश्वास के भगवान का गुणगान किया, भक्ति का ढिंढोरा पीटा, उन्होंने भगवान को कभी नही प्राप्त किया और जो किसी प्रकार भी भगवान का नाम लेते ही नही, उनसे तो वह दूर ही है। जो विश्वासपूर्वक राम-नाम का गान करते है, उनके रोम-रोम में प्रभु व्याप्त रहते हैं।

---

१ ना० प्र०–गावण। २ ना० प्र०–रोज है। ३. ना० प्र०–रोवण। ४. यु०, वि०–इक वन ही में घर करै। ५. ना० प्र०—मैं। ६. ना० प्र०–इक गृही मै वैराग, यु०, वि०—इक घर ही वैराग। ७ ना० प्र०—तिनि, यु०, वि०—जिन। ८ ना० प्र०—अणगांयां थैं, यु०, वि०—अनगाए ते। ९ अन्य–गहि। १० तिवारी, यु०—तिनसो राम हजूरि, वि०—ताके सदा हजूर। ११ ना० प्र०—रह्या।

## (३६) पीव पिछाँणन को अंग

संपुट[1] माँहि समाइया, सो साहिब नहिं[2] होइ।
सकल माँड मैं रमि रहा[3], साहिब[4] कहिए सोइ॥ १॥

शब्दार्थ—पीव=प्रिय, प्रभु। पिछाँणन=पहचान। संपुट=ढक्कनदार डिबिया, पिटारी। माँड=ब्रह्माण्ड।

व्याख्या—जिस शालिग्राम को लोग डिबिया में बन्द रखते है और उनका पूजन करते हैं, वह प्रभु नही है। वह संकुचित सीमाओ में बाँधा नही जा सकता। जो सकल ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त है, वही प्रभु का वास्तविक स्वरूप है।

रहै निराला माँड तैं[5], सकल माँड तिहि[6] माँहि।
कबीर[7] सेवै तास कौं[8], दूजा कोई[9] नाँहि॥ २॥

व्याख्या—प्रभु ब्रह्माण्ड से परे भी है और सकल ब्रह्माण्ड उसी में है। वह विश्वोत्तीर्ण भी हैं और विश्वव्यापी भी हैं। कबीर उसी प्रभु की भक्ति करते हैं, क्योकि उसके अतिरिक्त और कुछ है ही नही।

टिप्पणी—विश्व और ईश्वर के सम्बन्ध में तीन दृष्टियाँ है—

(१) ईश्वर विश्व से बिलकुल अलग है। उसने विश्व की सृष्टि कर दी है, किन्तु वह उसमें व्याप्त नहीं है। सृष्टि के उपरान्त वह संसार से कोई प्रयोजन नही रखता। इसे केवलीश्वरवाद ( Deism ) कहते है।

(२) विश्व की सृष्टि करके ईश्वर उसी मे समा गया है। जो विश्व है, वह ईश्वर है; जो ईश्वर है, वह विश्व है। इसके अतिरिक्त ईश्वर और कुछ भी नही है। इसे विश्वेश्वरैक्यवाद ( Pantheism–All is God ) कहते है।

(३) ईश्वर विश्वमय (Immanent) भी है और विश्वोत्तीर्ण (Transcendent) भी है। विश्वमय के दो भाव है—( क ) विश्व मे 'वह' व्याप्त है, ( ख ) विश्व 'उसके' भीतर है अर्थात् वह अन्तर्वर्ती भी है और अतिवर्ती भी है।

विश्वेश्वरैक्यवाद ( Pantheism ) में एक दोष है। उससे यह ध्वनित होता है कि ईश्वर का विश्व में निःशेषीकरण हो गया है। वह विश्व से परे कुछ भी नही है। वह विश्व बनाकर उसी में समाविष्ट हो गया। कबीर इस दोष से मुक्त थे। उनका

---

१. ना० प्र०—संपटि। २. ना० प्र०—नहीं। ३. ना० प्र०-रह्या। ४. गु०-मेरा साहब सोय। ५. ना० प्र०—थैं। ६. ना० प्र०—ता। ७. गु०—सेव कबीरा तासु कूँ। ८. ना० प्र०—कूँ। ९. तिवारी, गु०—सेवै।

कहना है कि सारा विश्व प्रभु मे है—'सकल मांड तिहि मांहि'। इसे दर्शनशास्त्र में ईश्वरस्थ-विश्ववाद ( Panen-theism—All is in God ) 'कहते हैं। कबीर यह भी मानते हैं कि उसका विश्व में निःशेषीकरण नही हो गया है। वह इसके अतिरिक्त भी है—'रहै निराला मांड तै।' ठीक यही मन्तव्य उपनिषदों का भी है—

'पादोऽस्य सर्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि।'
( छान्दो० ३।१२।३६ )

अर्थात् यह सारा विश्व उसका चौथाई भाग है। उसका तीन चौथाई अमर भाग दिव्यलोक मे है अर्थात् विश्व उसका अल्पांश है, बहुलांश उससे परे है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी कहा गया है कि वह ( ईश्वर ) विश्व को चारो ओर से आवृत करके, इसके अतिरिक्त भी दस अंगुल विद्यमान है अर्थात् वह विश्व से परे भी है :—

स भूमि विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।
( श्वेता० ३।१४ )

भोलै[1] भूली खसम कै, बहुत किया बिभिचार।
सतगुर गुर[2] बतलाइया, पूरवला[3] भरतार॥ ३॥

शब्दार्थ—भोलै = भोलेपन में, अज्ञान में। खसम ( फा० ) = पति। गुर=भेद, युक्ति। पूरवला = पूर्व का, अनादि, नित्य।

व्याख्या—अविद्या के कारण अपने अज्ञान में मैं अपने वास्तविक पति को भूल गया था। इसलिए अन्य देवताओ की उपासना करता रहा। अपने पति ( प्रभु ) से व्यवहार छोड़कर अन्य देवताओ की उपासना व्यभिचार ही है। सद्गुरु ने युक्ति बतला दी। इस प्रकार मुझे अनादि, नित्य, पूर्व पति प्राप्त हो गए।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

जाकै मुँह माथा नहीं, नाहीं[4] रूप कुरूप।
पुहुप बास तैं[5] पातरा, ऐसा तत्त[6] अनूप॥ ४॥
—५८४

व्याख्या—इस साखी मे कबीर ने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया है। जिसके न मुख है, न सिर, जो न रूपवान है न कुरूप, जो पुष्पवास से भी अधिक सूक्ष्म है, मेरा प्रभु ऐसा ही अनुपम तत्त्व है।

अलंकार—व्यतिरेक।

---

१. तिवारी-भोरै। २. तिवारी—आंनि। ३. ना० प्र०-पूरिवला। ४. ना० प्र०—नहीं रूपक रूप। ५. ना० प्र०—कै पहतला। ६. गुप्त—तत्व।

## ( ३७ ) बिर्कताई कौ अंग

मेरे मन मै परि[1] गई, ऐसी एक दरार।
फाटा फटिक[2] पषांन ज्यौं, मिला[3] न दूजी बार ॥ १ ॥

शब्दार्थ—बिर्कताई=विरक्ति। फटिक=स्फटिक, बिल्लौर। पषान=पाषाण, पत्थर। दरार = रन्ध्र।

व्याख्या—जैसे फटे हुए बिल्लौर पत्थर में दरार पड़ जाने से वह पुनः नहीं जुड़ सकता, उसी प्रकार मेरे मन में संसार से ऐसी विरक्ति पैदा हो गई कि अब उसके प्रति अनुराग नहीं जग सकता।

टिप्पणी—आध्यात्मिक जागर्ति में इष्ट का बदलना प्रथम अवस्था है। इस साखी में इष्ट ( Value ) परिवर्तन का सुन्दर वर्णन है।

अलंकार—उपमा।

मन फाटा[4] बाइक बुरै, मिटी[5] सगाई साक।
जैसे[6] दूध तिवास का, उलटि[7] हुआ जो आक ॥ २ ॥

शब्दार्थ—बाइक = (१) एक बार, (२) वाक्य, वचन। सगाई = सम्बन्ध, प्रेम। साक=साख, विश्वास। तिवास=तीन दिन का बासी। आक = मदार।

व्याख्या—(१) इस साखी में 'बाइक' शब्द सबसे टेढ़ा है। यदि 'बाइक'>बारिक= एक बार के अर्थ में लिया जाय, तो साखी का भाव इस प्रकार होगा—

जैसे तीन दिन का बासी दूध फटकर मदार के दूध की तरह विषैला हो जाता है, वैसे ही मेरा मन एक बार ही एकदम संसार से बुरी तरह से फट गया और उसके प्रति अनुराग और विश्वास जाता रहा।

(२) यदि 'बाइक' वाक्य का तद्भव ( वर्ण-विपर्यय ) माना जाय तो अर्थ इस प्रकार होगा—

कहा जाता है कि कबीर के दो विवाह हुए थे। उनकी पहली पत्नी कुरूपा और मूर्खा थी। वह कबीर की भक्ति-भावना का सदैव विरोध करती रहती थी ( दे० संत कबीर, पद संख्या ६ )। उसी पत्नी की ओर संकेत करते हुए कबीर कहते है कि जैसे तीन दिन का बासी दूध फटकर मदार के दूध की तरह विषैला हो जाता है, वैसे ही पत्नी के कटु वाक्य से मेरा मन संसार से विरक्त हो गया और उसके प्रति अनुराग और विश्वास जाता रहा।

---

१. ना० प्र०—पडि। २. ना० प्र०—फटक पषाँण ज्यूँ। ३. ना० प्र०—मिल्या, यु०—मिलै। ४. यु०—फाटै। ५ यु०—मिटै। ६. ना० प्र०—जौ परि। ७. ना० प्र०ऊ—कटि हूआक।

कबीर ने अन्यत्र भी कहा है—

कबीर त्यागा ग्यान करि, कनक कामिनी दोइ ।

—३७।४

अलंकार—उपमा ।

**चंदन भागां गुन[1] करै, जैसे चोली पंन[2] ।**
**दोइ जो[3] भागा[4] ना मिलै, मुकताहल[5] अरु मंन ॥ ३ ॥**

शब्दार्थ—भागां = टूटने पर, अलग होने पर । चोली=पान की डिबिया । पंन = पान । मुकताहल = मोती, मुक्ताफल । मंन=मन ।

व्याख्या—संसार में कुछ ऐसे पदार्थ है जो अलग होने पर गुणकारी होते है, जैसे चंदन का टुकड़ा सुगधि देता है तथा जैसे डिबिया का पान फेरने से सडता नही अर्थात् गुणकारी रहता है । किन्तु कुछ पदार्थ ऐसे होते है जो भग्न होने पर, फिर कभी नही मिलते । वे गुणकारी नही रहते, जैसे मोती और मन ।

**पासि बिनंठा कापड़ा[6], कदे सुरंग[7] न होइ ।**
**कबीर त्यागा[8] ग्यान करि, कनक कांमिनी[9] दोइ ॥ ४ ॥**

शब्दार्थ—पासि = ( सं० पाशु ) धूल-मिट्टी । बिनंठा = विनष्ट हुआ । कदे=कभी ।

व्याख्या—धूल से विनष्ट हुए अर्थात् मैले कपडे में कभी अच्छा रंग नहीं चढ़ सकता । कबीर कहते है कि ऐसे ही जब मन मैला हो जाता है, तब उसमें ईश्वर के प्रति अनुराग नही हो सकता । दो ऐसे विषय है—कनक और कामिनी, धन की तृष्णा और स्त्री की कामना जिनसे मन मलिन होता है । अतः कबीर ने ज्ञानपूर्वक उनके दोषो को समझ कर दोनो का परित्याग कर दिया ।

**चित चेतनि मै गरक ह्वै[10], चेति[11] न देखै मंत ।**
**कत[12] कत की सल[13] पाड़िए, गलबल सहर अनंत[14] ॥ ५ ॥**

शब्दार्थ—चेतनि = चैतन्य । गरक ह्वै = डूबकर, लीन होकर । चेति = सावधान होकर । मंत=मंत्र, परामर्श, उपदेश । कतकत = किस-किसका । सल = सिकुड़न । पाडिए=फेंकना । गलबल = गड़बड़ । सहर = नगर ।

व्याख्या—चित्त को चैतन्य में लीन कर अर्थात् आत्मलीन होकर गुरु के उपदेश को विचार कर क्यो नही देखता ? सारे नगर में गड़बड़ी है अर्थात् चारो ओर दोषपूर्ण वातावरण है । तुम किस-किसका दोष दूर करते फिरोगे ? एक गुरु का उपदेश ग्रहण करके चित्त को प्रभु मे लीन करो ।

---

१ ना० प्र०—गुण । २ गु०—पान । ३ ना० प्र०—जन । ४ गुप्त—भागे । ५. गु०—इक मोती इक मान, गुप्त—मोताहल । ६ ना० प्र०—कपडा । ७. ना० प्र०—सुराग । ८. ना० प्र०—त्याग्या । ९ ना० प्र०—कामनी । १० गु०—रह्यो । ११ गु०—जागि न देख्यो मित्त । १२. गु०—कहाँ-कहाँ सल पारिहो । १३ ना० प्र०—सालि । १४ गु०—अनित्त ।

जाता है सो जान[1] दे, तेरी दसा न जाइ।
खेवटिया की नाव ज्यों[2], घनें[3] मिलैंगे आइ ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—खेवटिया = मल्लाह, नाविक।

व्याख्या—तू अपनी हानि की चिन्ता न कर। जो जाता है उसे जाने दे। इससे तेरी दशा जानेवाली नही है अर्थात् तेरा कुछ बिगड़नेवाला नही है। जैसे केवट की नाव पर लोग चढ़ते-उतरते रहते हैं, वैसे ही तेरे जीवन में वस्तुओ का आना-जाना लगा ही रहेगा। तू सांसारिक हानि की चिन्ता न कर। यदि हानि होगी तो लाभ भी होगा। जैसे केवट की नौका से यदि कुछ लोग उतरते है तो घने अर्थात् बहुत से लोग चढ़ते भी हैं। अतएव हानि-लाभ की चिंता किये बिना तू साधना में चित्त को लगा।

अलंकार—उपमा।

नीर पियावत[4] क्या फिरै, घर[5] घर सायर बारि।
त्रिखावंत[6] जो होइगा, (सो) पीवेगा झख[7] मारि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—सायर = सागर। त्रिखावंत = प्यासा।

व्याख्या—इस साखी में कबीर तथाकथित व्यवसायी गुरुवा लोगों को सम्बोधित करते हुए कहते है कि तुम ज्ञानामृत का जल सबको पिलाने की व्यर्थ चेष्टा क्यों करते हो? प्रत्येक घट में उस ज्ञानामृत-सागर का जल विद्यमान है, जिसे प्यास होगी वह स्वयं विवश होकर उसे पी लेगा।

यहाँ 'घर' शरीर का, 'सायर बारि' हृदय में विद्यमान आत्मस्वरूप का, 'भिखावंत' उस व्यक्ति का प्रतीक है जिसमें प्रभु-मिलन की आकांक्षा जागृत हो गयी है। इस साखी में यह संकेत किया गया है कि आध्यात्मिक तत्त्व सभी के भीतर विद्यमान है, किन्तु उसके भीतर साधारण जन की प्रवृत्ति नही होती।

अलंकार—अन्योक्ति।

सतगंठी[8] कोपीन दै[9], साधु न मानै संक।
राँम अमलि माता रहै, गिनै[10] इन्द्र कौ रंक ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—सतगंठी=(१) सात गाँठवाली, जीर्ण-शीर्ण। (२) सत्य की गाँठ लगी हुई। कोपीन=लँगोटी। अमलि = नशे मे। माता=मस्त, उन्मत्त। रंक=दरिद्र।

व्याख्या—संत सात गाँठोवाली अर्थात् फटी लँगोटी बाँधे हुए भी किसी बात की चिंता नहीं करता। वह अपनी निर्धनता में ही सन्तुष्ट रहता है। 'सतगंठी' में 'सत्य की

---

१. ना० प्र०—जाँण। २. ना० प्र०—ज्यूँ। ३ ना० प्र०—घणें। ४. ना० प्र०—पिलावत। ५. ना० प्र०—सायर घर-घर बारि। ६ ना० प्र०—जो त्रिपावंत ७. ना० प्र०—झपमारि। ८. गुस-कबीर गाँठी कोपीन है। ९ ना० प्र०—है। १०. ना० प्र०—गिणैं।

गाँठ' की भी व्यञ्जना है। जिसने सत्य को अपना लिया है, उसे किस बात की चिन्ता ? वह राम-भक्ति के नशे में चूर रहता है और इन्द्र को भी अपने आगे दरिद्र गिनता है !

अलंकार—व्यतिरेक।

दावै दाझन[1] होतु है, निरदावै निहसंक[2]।
जे नर[3] निरदावै रहैं, ते गिनैं[4] इन्द्र कौं रंक ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—दावै=अधिकार, स्वत्व, कामना। निरदावै=निष्काम।

व्याख्या—लाभ की आकांक्षा अर्थात् कामना से ताप ही होता है। निष्काम व्यक्ति निश्चिन्त रहता है। ऐसे निष्काम व्यक्ति इन्द्र को भी दरिद्र समझते हैं।

अलंकार—व्यतिरेक।

कबीर[5] सब जग हेरिया[6], मंदल[7] कंधि चढ़ाइ।
हरि बिन अपना[8] कोइ नहीं, देखे[9] ठोकि बजाइ ॥ १० ॥
—५९४

शब्दार्थ—हेरिया=खोजा। मंदल=मर्दल, मृदंग-जाति का एक वाद्य।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैंने कन्धे पर मर्दल लादकर अर्थात् चारों ओर ढोल पीटकर सारे संसार में खोजा, परन्तु हरि के सिवाय ऐसा कोई न मिला जिसे वास्तव में अपना कहा जा सके। इस तथ्य को मैंने भली-भाँति ठोक-बजाकर अर्थात् परीक्षण करके देख लिया है।

ना० प्र० की प्रति में 'हेरिया' के स्थान पर 'हंढिया' पाठ है, जिसका अर्थ है—छानबीन करना।

---

१ ना० प्र०—दाझण होत। २. तिवारी—रहै निसक। ३. तिवारी—जन। ४. ना० प्र०—गणैं। ५ गु०—कबिरा। ६. ना० प्र०—हंढिया। ७. ना० प्र०—मदिल, गु०—मेलेउ कंध। ८. ना० प्र०—अपनाँ को। ९ गु०—सब देखा।

## ( ३८ ) समरथाई कौ अंग

नाँ कछु किया न करि[1] सका, नाँ करने[2] जोग सरीर ।
जो[3] कछु किया सो[4] हरि किया, (ताथैं) भया कबीरकबीर[5] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—समरथाई = सामर्थ्य । कबीर ( फा० ) श्रेष्ठ ।

व्याख्या—मैंने अपने से कुछ नही किया । मेरे मे कुछ कर सकने की सामर्थ्य भी नही है । यह पार्थिव शरीर किसी कार्य के योग्य नहीं है । मेरे जीवन में जो कुछ बन पड़ा है, वह सब प्रभु ने किया है । उन्ही के अनुग्रह से कबीर ( साधारण व्यक्ति ) कबीर ( श्रेष्ठ ) हो गया ।

अलंकार—यमक ।

कबीर किया[6] कछु होत नहिं, अनकीया सब[7] होइ ।
जौ[8] कीएं ही होत है, तौ करता औरै कोइ ॥ २ ॥

शब्दार्थ—अनकीया=बिना किये हुए ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मनुष्य ईश्वर के अनुग्रह के बिना, केवल अपनी साधना से कुछ नहीं प्राप्त कर सकता । यदि भगवदनुग्रह प्राप्त हो जाता है तो बिना साधना किये ही सब कुछ प्राप्त हो जाता है । यदि साधना, तपस्या आदि से कुछ होता भी है तो उसका वास्तविक कर्त्ता कोई और ही अर्थात् प्रभु है ।

इस साखी में इस बात का संकेत है कि जीव केवल अपनी साधना से पूर्णता नही प्राप्त कर सकता । जब अन्तरात्मा यह जान लेता है कि जीव में संस्कारों द्वारा यह योग्यता आ गई है कि वह अब पूर्णता को प्राप्त कर सकता है, तब वह उस जीव मे पर्याप्त उत्कण्ठा, गुरु की प्राप्ति आदि साधन जुटा देता है । इससे साधक प्रगति करने लगता है । यही ईश्वर का अनुग्रह है ।

अलंकार—भेदकातिशयोक्ति, विरोधाभास ।

जिसहि[9] न कोइ तिसहि तूँ, जिस तूँ तिस सब कोइ[10] ।
दरगह[11] तेरी साँइयाँ, नाँमहरूँम[12] न होइ ॥ ३ ॥

---

१ ना० प्र०—करि सक्या, गुप्त—करहिंगे । २. ना० प्र०—करणें । ३. ना० प्र०—जे । ४. ना० प्र०—सु, वि०—साहिब । ५ यु०, वि०—दूसरा कबीर नहीं है । ६. ना० प्र०—किया । ७ यु०, वि०—ही । ८. ना० प्र०—जे किया कुछ होत है, यु०, वि०—कीया जो कछु होय तो । ९ यु०, वि०—जिस नहिं । १० यु०, वि०—होय । ११. ना० प्र०—दरिगह । १२ ना० प्र०—नाँम हरू मन, तिवारी—मेटि न सक्कै कोय, यु०—मेटि सकै नहिं कोइ ।

गाँठ' की भी व्यञ्जना है। जिसने सत्य को अपना लिया है, उसे किस बात की चिन्ता ? वह राम-भक्ति के नशे मे चूर रहता है और इन्द्र को भी अपने आगे दरिद्र गिनता है।

अलंकार—व्यतिरेक ।

> दावै दाझन[१] होतु है, निरदावै निहसंक[२] ।
> जे नर[३] निरदावै रहैं, ते गिनैं[४] इन्द्र कौ रंक ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—दावै=अधिकार, स्वत्व, कामना । निरदावै=निष्काम ।

व्याख्या—लाभ की आकांक्षा अर्थात् कामना से ताप ही होता है। निष्काम व्यक्ति निश्चित रहता है। ऐसे निष्काम व्यक्ति इन्द्र को भी दरिद्र समझते है ।

अलंकार—व्यतिरेक ।

> कबीर[५] सब जग हेरिया[६], मंदल[७] कंधि चढ़ाइ ।
> हरि बिन अपना[८] कोइ नहीं, देखे[९] ठोकि बजाइ ॥ १० ॥
> —५९४

शब्दार्थ—हेरिया=खोजा । मंदल=मर्दल, मृदंग-जाति का एक वाद्य ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मैंने कन्धे पर मर्दल लादकर अर्थात् चारों ओर ढोल पीटकर सारे संसार मे खोजा, परन्तु हरि के सिवाय ऐसा कोई न मिला जिसे वास्तव में अपना कहा जा सके। इस तथ्य को मैंने भली-भाँति ठोक-बजाकर अर्थात् परीक्षण करके देख लिया है।

ना० प्र० की प्रति में 'हेरिया' के स्थान पर 'हुंढिया' पाठ है, जिसका अर्थ है—छानबीन करना ।

---

१. ना० प्र०—दाझण होत। २ तिवारी—रहै निसंक। ३. तिवारी—जन। ४. ना० प्र०—गणैं। ५ यु०—कबिरा। ६. ना० प्र०—ढूंढिया। ७ ना० प्र०—मदिल, यु०—मेलेउ कंध। ८. ना० प्र०—अपनाँ को। ९. यु०—सब देखा।

यदि ना० प्र० का पाठ 'अपना वाना वाहिया कहि कहि थाके माइ' लिया जाय तो अर्थ इस प्रकार होगा—

लोग अपनी प्रवृत्ति के अनुसार उस पर अपने भावों को आरोपित करते रहते हैं और उसके विषय में कह-कहकर थक जाते हैं, किन्तु उसका वर्णन नहीं कर पाते हैं।

अलंकार—'अबरन' शब्द में श्लेष, विशेषोक्ति।

> झल बाँवै झल दाँहिनैं[1], झलहि[2] माँहि व्यौहार।
> आगैं पीछैं झलमई[3], राखै सिरजनहार॥ ७॥

शब्दार्थ—झल=ज्वाला। बाँवै = बाँए। झलमई = अग्निमय।

व्याख्या—संसार में जीव के दाहिने-बाएँ, आगे-पीछे चारों ओर ज्वाला ही ज्वाला है और उसका सारा व्यवहार अर्थात् उसके सारे कार्य इसी ज्वाला के भीतर ही होते हैं। ऐसी स्थिति में भगवान ही उसकी रक्षा कर सकते हैं। उसमें स्वयं बचने की सामर्थ्य नहीं है।

यहाँ ज्वाला का तात्पर्य है–त्रिताप। ताप तीन होते हैं। आधिभौतिक-आध्यात्मिक और आधिदैविक। मनुष्य इसी त्रिताप से घिरा हुआ है।

> साँई मेरा बानियाँ[4], सहजि[5] करै व्यौपार।
> बिन डाँड़ी बिन पालरै[6], तौलै सब संसार॥ ८॥

व्याख्या—मेरा प्रभु अद्भुत व्यापारी है। वह सहज रूप में व्यापार करता है। वह बिना डंडी और पालड़े के सारे संसार को तराजू पर तौल लेता है।

भाव यह है कि संसार के प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्म के अनुसार वह फल देता है। उसके न्याय का तराजू ऐसा है जिसमें डाँड़ी और पलड़े की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक व्यक्ति का भाग उसके कर्म के अनुसार प्राप्त हो जाता है।

तुलनीय—लाल जी साहब मेरा बानिया, सहज किया वोहार।
बिन डंडी बिन पालड़ै, तोले इह संसार॥
—लालदास।

अलंकार–विभावना।

> कबीर[7] वार्‌या नाँव पर, कीया राई लौंन[8]।
> जिसहि[9] चलावै पंथ तूँ, तिसहि[10] भुलावै कौंन[11]॥ ९॥

शब्दार्थ— नाँव = नाम। कीया राई लौंन (मु०) = न्यौछावर किया। भुलावै=भ्रमित करना।

---

१. यु०–दाहने। २ यु०–झल ही में व्यवहार। ३ यु०–झल जलै। ४. ना० प्र०–वाणियाँ। ५ यु०–सहज करै व्यवहार। ६. ना० प्र०–पालड़ै। ७. यु०, त्रि०–वारी हरि के नाम पर। ८ ना० प्र०–लूँण। ९. यु०–जिसे। १०. यु०, त्रि०–तिसे। ११. ना० प्र०–कौंण।

शब्दार्थ—दरगह=दरबार में। नाँमहरूँम=महरूम=वञ्चित, 'ना' का निरर्थक प्रयोग हुआ है, जैसे 'बेफजूल' में 'बे' का।

व्याख्या—जिसका कोई भी आश्रय नही है, उसका भी आश्रय तू ही है। जिसे तेरा आश्रय प्राप्त है, उसको सभी के आश्रय स्वतः प्राप्त हो जाते है। हे प्रभु! तेरे दरबार में कोई वञ्चित नही रहता अर्थात् तेरी कृपा सब को प्राप्त होती है।

**एक[1] खड़े ही ना लहैं, और[2] खड़े[3] बिललाइ।**
**साँई[4] मेरा सुलषनां, सूतां देइ जगाइ॥ ४॥**

शब्दार्थ—बिललाइ=बिलखना। सुलषनां=सुलक्षण, चतुर, भला।

व्याख्या—कुछ दरबार ऐसे होते है जहाँ कुछ लोग खड़े रहते हुए भी कुछ नही पाते, उल्टे वे खडे-खड़े बिलखते रहते है। परन्तु मेरा प्रभु ऐसा भला है कि वह सोये हुए को भी जगाकर देता है।

तिवारी की प्रति में 'साईं मेरा सुलषना' के स्थान पर 'समरथ मेरा साँइयाँ' पाठ है। इसका अर्थ होगा—मेरा प्रभु सर्वशक्तिमान है।

अलंकार—व्यतिरेक।

**सात समुंद की मसि करौं, लेखनि सब बनराइ।**
**धरती सब कागद करौं, (तऊ) हरि गुन[5] लिखा न जाइ॥ ५॥**

शब्दार्थ—मसि=स्याही।

व्याख्या—यदि मैं सातो समुद्रो की स्याही बना डालूँ, समस्त बनराजि की लेखनी बनाऊँ और सारी पृथ्वी को कागज के रूप में ग्रहण करूँ तो भी प्रभु के गुणो का वर्णन सम्भव नही।

अलंकार—अतिशयोक्ति, विशेषोक्ति।

**अबरन कौं[6] क्या बरनिये, मोपै बरनि[7] न जाइ।**
**अबरन[8] बरनै बाहिरा, करि करि थका उपाइ॥ ६॥**

शब्दार्थ—अबरन=(१) अवर्णनीय। (२) अवर्ण, जिसका कोई रंग-रूप नही है। बरनै=वर्णन के। बाहिरा=बाहर, परे।

व्याख्या—जो अवर्णनीय है या अरूप है, उसका वर्णन कैसे हो सकता है? मेरे लिए उसका वर्णन असम्भव है। वह वर्णन से परे है। लोग अनेक उपाय करके थक गए किन्तु उसका वर्णन नही कर सके।

---

१ ना० प्र०-एक खडे ही लहै। २. तिवारी-एक। ३ ना० प्र०-खडा। ४ तिवारी, गु०, वि०-समरथ मेरा साँइयाँ। ५. ना० प्र०-गुणँ लिख्या। ६ ना० प्र०-कौं का, गु०-का क्या। ७ ना० प्र०-लिख्या, गुप्त—लख्या। ८ ना० प्र०-अपना बाना बाहिया, कहि कहि थाके माइ।

यदि ना० प्र० का पाठ 'अपना बाना वाहिया कहि कहि थाके माइ' लिया जाय तो अर्थ इस प्रकार होगा—

लोग अपनी प्रवृत्ति के अनुसार उस पर अपने भावों को आरोपित करते रहते हैं और उसके विषय में कह-कहकर थक जाते हैं, किन्तु उसका वर्णन नहीं कर पाते हैं।

अलंकार—'अवरन' शब्द में श्लेष, विशेषोक्ति।

झल बाँवै झल दाँहिनैं[1], झलहि[2] मांहि व्यौहार।
आगैं पीछैं झलमई[3], राखै सिरजनहार ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—झल=ज्वाला। बांवै = बाँए। झलमई = अग्निमय।

व्याख्या—संसार में जीव के दाहिने-बाएँ, आगे-पीछे चारों ओर ज्वाला ही ज्वाला है और उसका सारा व्यवहार अर्थात् उसके सारे कार्य इसी ज्वाला के भीतर ही होते हैं। ऐसी स्थिति में भगवान ही उसकी रक्षा कर सकते हैं। उसमें स्वयं बचने की सामर्थ्य नहीं है।

यहाँ ज्वाला का तात्पर्य है–त्रिताप। ताप तीन होते हैं। आधिभौतिक-आध्यात्मिक और आधिदैविक। मनुष्य इसी त्रिताप से घिरा हुआ है।

सांई मेरा बानियाँ[4], सहजि[5] करै व्यौपार।
बिन डाँड़ी बिन पालरैं[6], तौलै सब संसार॥ ८ ॥

व्याख्या—मेरा प्रभु अद्भुत व्यापारी है। वह सहज रूप में व्यापार करता है। वह बिना डंडी और पालड़े के सारे संसार को तराजू पर तौल लेता है।

भाव यह है कि संसार के प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्म के अनुसार वह फल देता है। उसके न्याय का तराजू ऐसा है जिसमें डांड़ी और पलड़े की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक व्यक्ति का भाग उसके कर्म के अनुसार प्राप्त हो जाता है।

तुलनीय—लाल जी साहब मेरा बानिया, सहज किया वोहार।
बिन डंडी बिन पालड़ै, तोले इह संसार ॥
—लालदास।

अलंकार–विभावना।

कबीर[7] वार्‌या नाँव पर, कीया राई लौनं[8]।
जिसहि[9] चलावै पंथ तूँ, तिसहि[10] भुलावै कौन[11] ॥ ९ ॥

शब्दार्थ— नाँव = नाम। कीया राई लौनं (मु०) = न्योछावर किया। भुलावै=भ्रमित करना।

---

१. यु०–दाहनै। २. यु०–झल ही में व्यवहार। ३ यु०–झल जलै। ४. ना० प्र०–बाणिया। ५ यु०–सहज करै व्यवहार। ६ ना० प्र०–पालै। ७ यु०, वि०–वारी हरि के नाम पर। ८. ना० प्र०–लूंण। ९. यु०–जिसे। १०. यु०, वि०–तिसे। ११. ना० प्र०–कौंण।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मैने प्रभु के नाम पर अपने को सर्वरूपेण समर्पित कर दिया है। जिसे भगवान सन्मार्ग पर लगा देते है, उसे पथभ्रष्ट कौन कर सकता है ?

कबीर करनी[१] क्या करै, जे[२] रांम न करै सहाइ।
जिहि जिहि डाली पग धरै[३], सोई नइ[४] नइ जाइ ॥ १० ॥

शब्दार्थ—जे=यदि। नइ-नइ = झुक जाना।

व्याख्या—कबीर कहते है कि यदि मनुष्य को भगवान की सहायता न मिले तो वह अपने उपाय से क्या कर सकता है ? कोई भी साधना प्रभु अनुग्रह के विना सफल नही हो सकती। प्रभु की सहायता के विना साधक जिस डाल का आश्रय लेकर ऊपर चढ़ना चाहता है अर्थात् साधना में जिस मार्ग का अवलम्ब लेकर आगे बढना चाहता है, वही डाल नीचे झुक जाती है और साधक के नीचे गिर जाने की आशंका उत्पन्न हो जाती है अर्थात् वह मार्ग उसकी साधना में सहायक नही होता।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

जदि का माइ जनमियाँ, काहू न पाया सुख।
डाली डाली मै फिरौ[५], पातौं पातौं दु.ख ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—जदि का=जब से। माइ = माता।

व्याख्या—मुझे जब से माता ने जन्म दिया, मैंने कही सुख नही पाया। वस्तुत. परिवर्तनशील संसार मे शाश्वत सुख असम्भव है। यदि मैं डाल-डाल पर रहता हूँ तो दुःख आगे पात-पात पर रहता है अर्थात् मैं जितना ही दु.ख से बचने का उपाय करता हूँ, उतना ही दु ख प्रत्यक्ष दिखायी देता है। केवल प्रभु की शरण मे ही सुख है।

अलंकर—लोकोक्ति।

साँई[६] सौं[७] सब होत है, बंदे तै[८] कछु नाँहि।
राईं तै[९] परबत करै, परबत राई माँहि ॥ १२ ॥
—६०६

शब्दार्थ—बंदे = सेवक। राई = एक प्रकार की बहुत छोटी सरसो।

व्याख्या—जीवन में जो कुछ भी साध्य है, वह प्रभु की कृपा से ही होता है। इस सेवक के प्रयत्न से नही हो सकता। उसमें ऐसी शक्ति है कि वह राई को पर्वत में परिवर्तित कर सकता है अर्थात् क्षुद्र को महान् बना सकता है और पर्वत को राई मे बदल सकता है अर्थात् महान् को क्षुद्र बना सकता है।

अलंकार—लोकोक्ति।

---

१ ना० प्र०–करणीं। २ तिवारी–जौ। ३. तिवारी–धरौं। ४. ना० प्र०–नवि नवि। ५. गुप्त–फिर्‌या। ६ गु०, त्रि०–साहिब सौं। ७. ना० प्र०–सूँ। ८ ना० प्र०–थैं कुछ। ९ ना० प्र०–थैं, तिवारी–तैं, त्रि०–से।

# ( ३९ ) कुसबद कौ अंग

अनी[1] सुहेलो सेल की, पड़तां लेइ उसास।
चोट सहारै सबद की, तास गुरू मैं दास ॥ १ ॥

शब्दार्थ—कुसबद=दुर्वचन। अनी = नोक। सुहेली=सहज। सेल = भाला। पडतां= लगने पर। सहारै=सहन कर ले।

व्याख्या—भाले की नोक की चोट सह्य हो सकती है। भाला लगने पर मनुष्य एक बार व्यथा की श्वास तो निकाल भी सकता है, किन्तु दुर्वचन की चोट असह्य होती है। उसे सहन करने की जिसमें क्षमता हो, कबीर उसे अपना गुरु मानने को तैयार है। कहने का तात्पर्य यह है कि कटु वचन सहनेवाले व्यक्ति संसार में विरले ही होते हैं।

अलंकार—व्यतिरेक।

खोद खाद धरती सहै, काट कूट बनराइ।
कुटिल वचन साधू सहै, दूजै सहा न जाइ ॥ २ ॥

व्याख्या—सहन की क्षमता केवल महान् लोगो में होती है। विशाल धरती मे ही यह क्षमता होती है कि वह खोदाई के कष्ट को झेले, सुविस्तृत वनराजि में ही यह क्षमता है कि वह काट-कूट को सहन कर सके। इसी प्रकार विशाल हृदय भगवद्भक्त में ही यह क्षमता होती है कि वह लोगो के कुटिल वचन सहता है। अन्य लोगों में यह सहन-शक्ति नही होती।

ना० प्र० की प्रति में उपर्युक्त साखी का पाठ इस प्रकार है—

खूँदन तौ धरती सहै, बाढ़ सहै बनराइ।
कुसबद तौ हरिजन सहै, दूजै सह्या न जाइ ॥ २ ॥

शब्दार्थ—खूँदन=पैरो की रौंद।

व्याख्या—धरती में ही यह क्षमता है कि वह पैरो की रौंद को सहन कर सके और वनराजि में हो यह शक्ति है कि नदी की बाढ का सामना कर सके। इसी प्रकार प्रभु-भक्त मे ही ऐसी क्षमता होती है कि वह दुर्वचन सहता है। अन्य लोग सहन नही कर सकते।

अलंकार—तुल्ययोगिता।

सीतलता तब जानिए[1], समता[2] रहै समाइ।
पख[3] छाड़ै निरपख रहै, सबद[4] न दूखा[5] जाइ ॥ ३ ॥

---

१. ना० प्र०—अर्णी। २. ना० प्र०—जाणियें। ३. ना० प्र०—छमिता, तिवारी—जो समता। ४. ना० प्र०-पप छाडै निरपप रहै, यु०, वि०—विष छाडै निरविष रहै। ५ यु०, वि०—सब दिन दूखा जाइ। ६. ना० प्र०—दूष्या।

शब्दार्थ—समता=समत्व। पख=पक्ष। निरपख = निष्पक्ष। न दूखा जाय=दुःखित नही कर सकते।

व्याख्या—मानव में वास्तविक शीतलता का गुण तब समझना चाहिए, जब वह मानापमान की भावना से विवर्जित हो जाय, उसमें समत्व का भाव आ जाय और जब वह पक्ष छोड़कर सर्वथा निष्पक्ष हो जाय। तब दुर्वचन उसे दुःखित नही कर सकते। जैसे शीतल जल में आग के कण स्वतः बुझ जाते हैं, वैसे ही ऐसे साधु के शीतल स्वभाव में तापकारी कटुवचन के अग्निकण बुझ जाते हैं।

कबीर सीतलता भई, पाया[1] ब्रह्म गियान।
जिहि बैसंदर जग जलै[2], सो मेरे उदक[3] समान॥ ४॥
—६१०

शब्दार्थ—बैसंदर = वैश्वानर, अग्नि। उदक = जल।

व्याख्या—जब मेरे भीतर ब्रह्म-ज्ञान जगा तो समत्वजनित शीतलता व्याप्त हो गयी। जिस दुर्वचनरूपी अग्नि से सारा संसार जल रहा है, वह मेरे लिए जल के समान शीतल है।

●

१. यु०, त्रि०--उपज्यो तब ब्रह्मज्ञान। २. ना० प्र०--जल्या। ३. ना० प्र०—उदिक।

## ( ४० ) सबद को अंग

कबीर सबद सरीर मैं, बिन गुन बाजै तांति[1]।
बाहर भीतर रमि रहा[2], तातैं छूटि भरांति[3] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—सबद=शब्द, अनाहत नाद। गुन=डोरी। तांति=तन्त्री, एक प्रकार का वाद्य जिसमें तार लगे होते हैं, जैसे वीणा, सरोद, रबाव, सितार। भरांति=भ्रांति, भ्रम।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मेरे भीतर अनाहत नाद बिना तारों के तंत्री की ध्वनि के समान गूँज रहा है। वह भीतर-बाहर चारों ओर रम रहा है। परिणामस्वरूप मेरा चित्त शब्द-ब्रह्म में लीन हो गया है और इससे मेरी सारी भ्रान्तियाँ समाप्त हो गयी हैं।

टिप्पणी—अनाहत नाद सारे विश्व में व्याप्त है। जब साधना द्वारा सुषुम्ना-पथ उन्मुक्त हो जाता है और कुण्डलिनी उद्बुद्ध होकर ऊपर की ओर उठती है, तब साधक इस अनाहत नाद को सुनने लगता है। उस समय योगी का चित्त नाद में रम जाता है। वह सर्वथा अन्तर्मुखी हो जाता है और जब कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्र में मिल जाती है, तब उसे प्रकाश का पूरा अनुभव हो जाता है।

अलंकार—विभावना।

सती संतोषी सावधान, सबद भेद सुविचार।
सतगुर के परसाद[4] तैं, सहज शील मत सार ॥ २ ॥

शब्दार्थ—सती=सत्यनिष्ठ। सबद=सार शब्द, अनाहत नाद। परसाद=अनुग्रह, कृपा। सार=निचोड़। शील=प्रवृत्ति।

व्याख्या—जो साधक सत्यनिष्ठ है, संतोषी है और अवधानपूर्वक सभी ध्वनियों के रहस्य पर भली-भाँति विचार करता है, वह सत्गुरु के अनुग्रह से उस सहज अवस्था को प्राप्त करता है जो सब मतों का निचोड़ है।

सतगुर ऐसा चाहिए, जस[5] सिकलीगर होइ।
सबद मसकला फेरि करि, देह दर्पन[6] करै सोइ ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—सिकलीगर ( फा० ) सान धरनेवाला। मसकला ( अ० ) धातुओं को रगड़कर चमकानेवाला औजार।

व्याख्या—सत्गुरु को सिकलीगर के समान होना चाहिए, जो शब्द के मसकले द्वारा शिष्य को दर्पण के समान निर्मल कर देता है। भाव यह है कि गुरु ऐसा हो जो सुरति-

---

१ ना० प्र०—बिनि गुण बाजै तंति। २. ना० प्र०—बाहरि भीतरि भरि रह्या। ३. ना० प्र०—तार्थं छूटि भरंति। ४. ना० प्र०—प्रसाद थैं। ५. ना० प्र०—जैसा। ६. ना० प्र०—द्रपन।

शब्द-योग की साधना द्वारा शिष्य के सब दूषित संस्कारों को अपसारित कर उसका अन्तःकरण बिल्कुल निर्मल कर दे।

अलंकार—उपमागर्भित रूपक।

> सतगुर साँचा सूरिवाँ, सबद जु वाहा एक।
> लागत ही भुइँ मिलि गया, परा कलेजे छेक॥ ४॥

यह साखी ( १।७ ) पहले आ चुकी है।

> हरि रस जे जन बेधिया, सर गुण सींगणि नाँहि[1]।
> लागी चोट सरीर मै, करक कलेजे माँहि॥ ५॥

शब्दार्थ—वेधिया=विद्ध। सर=वाण। गुण=प्रत्यंचा। सींगणि=सींगयुक्त धनुष। करक=पीड़ा।

व्याख्या—सत्गुरु अपने शब्द को अद्भुत रूप से संचालित करता है। वह न तो शर ( वाण ) का प्रयोग करता है और न गुण ( प्रत्यंचा ) तथा सीगणि ( धनुष ) का। फिर भी उसके द्वारा प्रवाहित भक्ति-रस से जो लोग विद्ध होते हैं, उन पर विचित्र प्रभाव पड़ता है। उस शब्द की चोट तो लगती है शरीर में, किन्तु वह कलेजे के भीतर टीस उत्पन्न करती है।

भाव यह है कि शब्द शरीर में कान तक ही पहुँचता है, किन्तु उसका प्रभाव आभ्यंतर होता है। वह हृदय को प्रभावित करता है।

अलंकार—असंगति, विभावना।

> ज्यों ज्यो[2] हरि गुन साँभलूँ, त्यों त्यों[3] लागै तीर।
> साँठी साँठी झड़ि पड़ी, भलका रहा[4] सरीर॥ ६॥

शब्दार्थ—साँभलूँ = स्मरण करता हूँ। तीर = वाण। साँठी = सरकंडे का भाग। भलका = वाण या भाले का फलक।

व्याख्या—मैं जितना ही प्रभु के गुण का स्मरण करता हूँ, उतना ही वियोग का वाण मेरे भीतर प्रविष्ट होता जाता है और वह वाण ऐसे भयंकर रूप में लगता है कि उसका सरकंडा तो टूटकर अलग हो जाता है, किन्तु उसका फलक भीतर बिधा रह जाता है। इसलिए उसको निकालना असंभव हो जाता है।

भाव यह है कि वह हृदय के अन्तस्तम तल में बिंध जाता है और किसी प्रकार से भी अपसारित नहीं किया जा सकता।

अलंकार—व्यतिरेक।

---

१. ना० प्र०—सनगुण सी गणि नाँहि। २ ना० प्र०—ज्यूँ-ज्यूँ। ३ ना० प्र०—त्यूँ-त्यूँ। ४ ना० प्र०—रह्या।

ज्यौं ज्यौं[१] हरि गुण साँभलौं, त्यौं त्यौं[२] लागै तीर।
लागे ते भागै नहीं[३], साहनहार[४] कबीर॥ ७॥

शब्दार्थ—साहनहार=सहनेवाला। कबीर (अ०) = श्रेष्ठ।

व्याख्या—मैं ज्यो-ज्यो प्रभु के गुणो का स्मरण करता हूँ, त्यों-त्यों मिलन की उत्कण्ठा तीव्र होती जाती है और विरह की वेदना तीर के समान चोट करती है। किन्तु कबीर उस वेदना से भागनेवाला नही है। वह यह जानता है कि संयोग की प्राथमिक अवस्था वियोग की उत्कट वेदना ही है। इसलिए वह धैर्य से उसको सहन करता है। 'कबीर' शब्द में यह श्लेष भी है कि उसको सहन करनेवाला महान् है।

अलंकार—परिकर।

सारा बहुत पुकारिया, पीर[५] पुकारै और।
लागी चोट जु सबद की[६], रहा[७] कबीरा ठौर॥ ८॥
—६१८॥

व्याख्या—प्राय: सारे लोग जोर-जोर से पुकारते है, किन्तु उनकी पुकार बनावटी होती है। वास्तविक वेदना की पुकार कुछ और ही होती है। गुरु के शब्द की चोट लगने पर कबीर जहाँ-का-तहाँ रह गया। उसमें पुकारने की भी शक्ति न रह गयी।

तुलनीय—'दर्द' अपने हाल से तुझे आगाह क्या करे।
जो साँस भी न ले सके, वह आह क्या करे॥

अलंकार—भेदकातिशयोक्ति।

---

१ ना० प्र०—ज्यूँ-ज्यूँ। २. ना० प्र०—त्यूँ-त्यूँ। ३. ना० प्र०—लागे थैं भागा नहीं। ४. ना० प्र०—साहणहार। ५. ना० प्र०—पीड़। ६. ना० प्र०—सबद की। ७. ना० प्र०—रह्या।

# ( ४१ ) जीवत मृतक को अंग

इस अंग में आपा और तृष्णा के विनाश को जीते-जी मृत बताया गया है।

जीवत मिरतक[१] ह्वै रहै, तजै जगत[२] की आस।
तब[३] हरि सेवा आपै[४] करै, मति दुख पावै दास ॥ १ ॥

शब्दार्थ—जीवत = जीते ही। मिरतक = मरा हुआ, मृतक। मति = ऐसा न हो कि।

व्याख्या—जो जीते ही मृत हो जाय अर्थात् आपा और तृष्णा त्याग दे और सांसारिक कामनाओं से परे हो जाय तो ऐसे साधक का ध्यान स्वयं प्रभु रखते हैं। उन्हें यह चिन्ता रहती है कि कहीं ऐसा न हो कि उनका भक्त दुःख पावे।

अलंकार—विरोधाभास।

कबीर मन मिरतक[५] भया, दुरबल भया सरीर।
( तब ) पाछै लागै[६] हरि फिरै, कहत[७] कबीर कबीर ॥ २ ॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जब उनका मन सांसारिक वासनाओं को सर्वथा त्यागकर निश्चेष्ट मृतक-तुल्य हो गया और शरीर विरह-व्यथा से क्षीण हो गया, तब उन्हें प्रभु के पीछे लगने की आवश्यकता नहीं रह गयी, प्रत्युत स्वयं प्रभु ही 'कबीर-कबीर' पुकारते हुए उनके पीछे फिरने लगे।

कहने का तात्पर्य यह है कि पहले भक्त प्रभु को खोजता है, किन्तु जब उसकी वासना नष्ट हो जाती है तब स्वयं प्रभु उसकी खोज में रहता है।

कबीर मरि मरहट गया[८], किनहूँ न बूझी सार[९]।
हरि आदर[१०] आगैं लिया, ज्यौं गऊ बच्छ[११] की लार ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—मरहट=मरघट, श्मशान। सार = सुधि, खबर। बच्छ=बछड़ा। लार = (राज०-लैर ) पीछे, साथ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जब मैं सांसारिक वासनाओं को त्यागकर, शून्य होकर मृतवत् एवं श्मशान में पहुँचा हुआ-सा हो गया, तब मेरी सुधि लेनेवाला कोई

---

१. ना० प्र०—जीवत मृतक। २. यु०, वि०—खलक। ३. वि०—रच्छक समरथ सतगुरु, यु०—आगे पीछे हरि फिरै। ४. ना० प्र०—आपण। ५. ना० प्र०—मृतक। ६. ना० प्र०—पैंड़े लागा, यु०—पैंडे लागै। ७. यु०, वि०—कहै। ८. ना० प्र०—मड़हट रह्या, यु०, वि०—मरघट गया। ९. ना० प्र०—तब कोई न बूझै सार। १०. यु० वि०—आगैं आदर। ११. ना० प्र०—ज्यौं गउ बछ, यु०—ज्यौं गऊ बछा, वि०—गऊ बछा।

न रह गया। परन्तु प्रभु ने स्नेहपूर्वक मुझे अपना लिया। वह मुझे आगे कर मेरे संरक्षण में स्वयं इस प्रकार चलने लगे जैसे गाय अपने बछड़े को आगे करके उसकी रखवाली करती हुई उसके पीछे चलती है।

अलंकार—उपमा।

घर जारैं[1] घर ऊबरै, घर राखैं[2] घर जाइ।
एक अचंभा[3] देखिया, मुआ[4] काल कौं खाइ॥ ४॥

शब्दार्थ—घर=(१) सांसारिक घर, (२) वास्तविक घर, आध्यात्मिक घर। ऊबरै=बच जाता है। जाइ=नष्ट हो जाता है। मुआ=मृत।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि सांसारिक घर जला देने पर अर्थात् विषय-वासना-युक्त जीवन समाप्त कर देने पर वास्तविक घर बच जाता है अर्थात् आध्यात्मिक स्थिति सुरक्षित हो जाती है। सांसारिक घर बचाने पर अर्थात् विषय-वासनायुक्त जीवन में संलग्न रहने पर वास्तविक घर अर्थात् आध्यात्मिक स्थिति नष्ट हो जाती है। सामान्यतः काल मर्त्यजीव को खा जाता है, किन्तु मैंने एक आश्चर्य देखा कि उल्टे मृतक ही काल को खा रहा है अर्थात् जो जीते-जी आपा को त्यागकर मृतवत् हो जाता है, वह काल के जन्म-मरण-बंधन से मुक्त हो जाता है।

तुलनीय—He looseth life who saveth it.
He saveth life who looseth it.
—Jesus Christ.

अलंकार—यमक, विरोधाभास।

मरते मरते[5] जग मुवा, औसर मुवा न कोइ[6]।
कबीर ऐसे मरि मुवा[7], (ज्यौं) बहुरि न मरनाँ होइ॥ ५॥

शब्दार्थ—औसर=उपयुक्त अवसर पर। मुवा=मर गया।

व्याख्या—शरीर से तो संसार में सभी मरते रहते हैं। मरने पर अपनी वासनाओं के कारण पुनः शरीर धारण करते हैं, संसार में आते हैं और उनका पुनः मरण होता है। इस प्रकार जग में लोगों का बार-बार मरण होता है। यह नैसर्गिक है। इस मरण में कोई विशेषता नहीं। मरण का अर्थ है—संसार से चला जाना। यह शारीरिक मरण है। किन्तु वास्तविक मरण मन या वासना का मरण है, जिसका तात्पर्य है—संसार में रहते हुए उससे अलग हो जाना अर्थात् उसके आकर्षणों से विमुख हो जाना। इसी को कबीर ने कहा है—औसर मुवा न कोइ। ऐसा मरण विरले व्यक्ति का ही होता है।

---

१. ना० प्र०—जालौं। २. ना० प्र०—राखौं। ३. तिवारी-अचंभौ। ४. ना० प्र०—मड़ा। ५ ना० प्र०—मरतौं-मरतौं। ६. तिवारी-मुवै न जाना कोइ। ७. तिवारी, गु०, वि०—दास कबीरा यौं मुंवा।

कबीर ऐसी मृत्यु मरा जिससे पुनः मरना न पड़े। वह सांसारिक आकर्षणों के प्रति मृत हो गया और सदा के लिए आवागमन से छुटकारा पा गया। उसके लिए पुनः मरण का प्रश्न ही नही रह गया।

वैद मुवा[1] रोगी मुवा[2], मुवा[3] सकल संसार।
एक कबीरा ना मुवा[4], जाके[5] राम अधार॥ ६॥

व्याख्या—रोगी का उपचार करनेवाला वैद्य मर जाता है और रोगी भी मर जाता है। इस प्रकार संसार के सभी लोग मर जाते है। एक कबीर ही ऐसा है जो कि कभी नही मरता, क्योंकि उसका आधार राम है। तात्पर्य यह है कि शरीर मरता है, चैतन्य नही। जब तक शरीर में अहंभाव बना हुआ है, तब तक मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहता है। यदि शरीर से अहभाव सर्वथा निकल जाय तो मनुष्य काल या मृत्यु के पाश से सर्वदा के लिए मुक्त हो जाता है। जो प्रभु की शरण में जाता है, उसमें से शरीर का अहंभाव चला जाता है। अत. प्रभु का भक्त वस्तुत. मरता नही।

मन मार्‍या ममिता मुई, अहं गई सब छूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसनि[6] रही बिभूति॥ ७॥

शब्दार्थ—मार्‍या=मारने पर। बिभूति = भस्म।

व्याख्या—संसार में आसक्त मन के मरने पर अर्थात् आसक्ति के नष्ट हो जाने पर ममत्व नष्ट हो जाता है और अहंभाव भी विलीन हो जाता है। यही अहंभाव जीव को प्रभु से पृथक् करता है। जब यह अहंभाव छूट जाता है, तब योगी या साधक परमतत्त्व में रमण करने लगता है और उसके आसन पर उसका अवशिष्ट भस्म मात्र रह जाता है। उसके भीतर जो वास्तविक तत्त्व था, वह पुनः संसार में नही आता।

टिप्पणी—कबीर की एक अन्य साखी इससे मिलती-जुलती इस प्रकार है—

झल ऊठी झोली जली, खपरा फूटिम फूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसनि रही बिभूति॥—(४१४)

जीवन[7] तैं[8] मरिबौ भलौ, जौ मरि जानैं कोइ।
मरनैं[9] पहिले[10] जो मरै, तौ[11] कलि अजरामर[12] होइ॥ ८॥

व्याख्या—यदि कोई मरने की कला जान ले तो उसे पता चल जायेगा कि उसके सांसारिक जीवन से मरना कही अधिक श्रेयस्कर है। सांसारिक जीवन से तात्पर्य है—

---

१. यु०, वि०—मुआ। २ यु०, वि०—मुआ। ३. यु०, वि०—मुआ। ४. यु०, वि०—मुआ। ५. ना० प्र०—जिनि के, वि०—जाके नाम। ६. ना० प्र०—आसणि। ७ वि०—जीवत में मरना भला, यु०—जीवन तें मरना भला। ८ ना० प्र०—थैं। ९. वि०—मरना पहिले। १०. ना० प्र०—पहली। ११. वि०—अजर अमर सो होइ। १२. ना० प्र०—अजरावर।

विषयों के प्रति आसक्ति। मरने की कला से तात्पर्य है—आसक्ति या वासना का विनाश। जो पांचभौतिक शरीर के त्यागरूपी मृत्यु से पहले मरता है अर्थात् विषयों के प्रति आसक्ति को तिलांजलि दे देता है, वह इस कलिकाल में भी, जिसमें जन्म-मरण नितान्त नैसर्गिक समझा जाता है, उससे छुटकारा पा सकता है।

अलंकार—विरोधाभास।

खरी कसौटी राँम की, खोटा टिकै न कोइ।
राँम कसौटी सो टिकैं, जो[1] जीवत मिरतक[2] होइ॥ ९॥

व्याख्या—संसार जीव के लिए एक कसौटी के समान है। जो संसार में विषयों के प्रति निरासक्त होकर रहता है, वही सफल होता है। वह कसौटी पर खरा उतरता है। जो खोटा है अर्थात् विषयों के प्रति आसक्त होकर जीवनयापन करता है, उनमें रत रहता है, वही असफल होता है। प्रभु की कसौटी पर वही सच्चा उतर सकता है जो जीते-जी विषयों के प्रति मृत हो जाय।

आपा मेटें[3] हरि मिलै, हरि मेटें[4] सब जाइ।
अकथ कहानी[5] प्रेम की, कहे न कोइ पतियाइ[6]॥ १०॥

शब्दार्थ—आपा = अहंभाव। अकथ = अनिर्वचनीय। पतियाइ=विश्वास करना।

व्याख्या—आध्यात्मिक जीवन की द्वैवी गति है—निषेधपरक और विधिपरक। निषेध की भी विचित्र गति है। अहंभाव के निषेध से प्रभु मिलते हैं। किन्तु प्रभु के निषेध से सब कुछ नष्ट हो जाता है। प्रभु के प्रति प्रेमरूपी विधिपरक प्रक्रिया ही अपनानी चाहिए। उस प्रेम की कहानी अवर्णनीय है और यदि कहा भी जाय तो उसका कोई विश्वास नही करेगा।

निगुसाँवाँ[7] बहि जाएगा, जाकै थाघी नहिं[8] कोइ।
दीन गरीबी बंदिगी, करतां होइ सु होइ॥ ११॥

शब्दार्थ—निगुसाँवाँ = जिसका कोई मालिक नही है। थाघी = सहारे की लकड़ी, आधार। दीन = दैन्य, लघुता। गरीबी = आकिञ्चन्य। बंदिगी=प्रणति।

व्याख्या—जिसका कोई गुरुरूपी मालिक नही है, वह इस संसार के प्रवाह में वह जायेगा, क्योंकि उसको पार करने का कोई आधार या आश्रय उसके पास नहीं है। यदि किसी में दैन्य हो, आकिञ्चन्य का भाव हो और प्रणति की प्रवृत्ति हो तो संभवत: कुछ हो सकता है। यदि ये गुण भी न हों तो फिर उसका पूर्ण विनाश अवश्यंभावी है।

---

१. वि०--जीवत मिरतक होइ। २. ना० प्र०—मृतक। ३. ना० प्र०—मेट्या, यु०—मेटै। ४. ना० प्र०—मेट्याँ, यु०—मेटैं। ५ ना० प्र०—कहाणीं। ६. ना० प्र०—कह्याँ न को पत्याइ। ७ ना० प्र०—निगु साँवाँ। ८. ना० प्र०—नहीं।

दीन गरीबी दीन कौं, दुंदर कौं अभिमान।
दुंदर दिल विष सूं भरी, दीन गरीबी राम॥ १२॥

शब्दार्थ—दीन = (१) दिया, (२) दैन्ययुक्त। दुंदर = द्वन्द्व या झगड़ा करनेवाला।

व्याख्या—जिसमें दैन्य भाव है, वह विनम्र होता है। जो अहंभाव से पूर्ण झगड़ालू व्यक्ति होता है, उसमें अभिमान होता है। झगड़ालू व्यक्ति का हृदय विष से भरा होता है और विनम्र व्यक्ति के हृदय में भगवान का वास होता है।

अलंकार—यमक।

कबीर चेरा संत का, दासनि का परदास[1]।
कबीर ऐसा ह्वै रहा[2], ज्यौं[3] पावां तलि घास॥ १३॥

शब्दार्थ—चेरा=शिष्य। दासनि=भक्तो का। परदास=दासानुदास। पावां=पैर। तलि=नीचे।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मैं संतों के लिए शिष्य के समान हूँ और भक्तों का परम सेवक हूँ। कबीर ने अपने जीवन को पैरो के तले रहनेवाली घास के समान विनम्र और अपकार-शून्य बना लिया है।

अलंकार—उपमा।

रोड़ा ह्वै रहु[4] बाट का, तजि पाषँड[5] अभिमान।
ऐसा[6] जे जन ह्वै रहै, ताहि मिलै भगवान॥ १४॥
—६३२॥

शब्दार्थ—रोड़ा = कंकड़। बाट=मार्ग।

व्याख्या—हे जीव! तू पाखड और अभिमान छोड़कर मार्ग में पड़े हुए कंकड़ के टुकड़े के समान दीन और तुच्छ हो जा। जो व्यक्ति इस प्रकार निरहंकार और विनम्र हो जाता है, उसे भगवान की प्राप्ति होती है।

●

---

१. गु०, वि०—दासन हू का दास। २ ना० प्र०—कबीर ऐसैं ह्वैं रह्या, गु०, वि०—अब तौ ऐसा ह्वै रहौ। ३ ना० प्र०—ज्यूँ पाऊँ, गु०, वि०—ज्यों पाँव तले का घास। ४. ना० प्र०—रहौ, गु०—रहे। ५. गु०, वि०—आपा। ६. गु०, वि०—लोभ मोह तृष्ना तजै।

## (४२) चित्त कपटी को अंग

**कबिरा[1] तहाँ न जाइए, जहाँ कपट का हेत।**
**जालूँ कली कनीर की[2], तन राता[3] मन सेत॥ १॥**

शब्दार्थ—हेत=प्रेम। जालूँ=जला दूँ। कनीर=कनेर, एक पुष्प जिसका रंग लाल होता है। राता=रक्त, लाल। सेत=श्वेत।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि उस व्यक्ति के पास नही जाना चाहिए, जहाँ कपट-युक्त प्रेम है अर्थात् जहाँ केवल प्रेम का दिखावा मात्र है। कनेर का पुष्प ऊपर से रक्त-वर्ण का होता है, किन्तु भीतर श्वेत होता है। लाल रंग अनुराग का प्रतीक है और श्वेत रंग अनुरागशून्यता का। ऐसे फूल को लेकर क्या करना है? ठीक इसी प्रकार जिस व्यक्ति का ऊपर से अनुरागयुक्त दिखावा होता है, किन्तु भीतर से वह अनुराग-शून्य है तो वह त्याज्य है। 'तन' बाह्य प्रेम का प्रतीक है और मन आन्तरिक प्रेम का।

इसी प्रकार संस्कृत में एक नीति-कथन है—

परोक्षे कार्यहंतारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्।
वर्जयेत्तादृशं मित्रं, विपकुम्भं पयोमुखम्॥

**संसारी साकत[4] भला, कुँवरी कन्या भाइ[5]।**
**दुराचारी बैसनौं[6] बुरा, हरिजन तहाँ न जाइ॥ २॥**

शब्दार्थ—भाइ = भाँति।

व्याख्या—जिसके बाह्य व्यवहार तथा आन्तरिक मनोभावों में एकरूपता नही है वह कपटी कहा जाता है। जो भीतर-बाहर एक समान है, वह चाहे भक्त हो या संसारी उतना बुरा नही है जितना कि वह व्यक्ति जो ऊपर से भक्ति का पाखंड करता है, किन्तु भीतर से दुराचारी है। इस साखी में इसी तथ्य का उद्घाटन इस प्रकार किया है—

यहाँ शाक्त की तुलना कुँआरी कन्या से की गयी है। कुँआरी कन्या न तो भीतर से किसी के प्रति प्रेम रखती है और न बाहर से किसी के प्रति प्रेम दिखाती है। वह बाहर-भीतर सम-भाव होती है। इसी प्रकार ऐसा शाक्त जो कुँआरी कन्या के समान बाहर-भीतर से एक है अर्थात् बाहर से भी संसारी है और भीतर से भी संसारी है, उससे किसी प्रकार के धोखे की आशंका नही है। परन्तु ऐसे वैष्णव से धोखे का भय है जो ऊपर से त्रिपुण्ड लगाता है, कण्ठी धारण करता है, माला जपता है तथा प्रभु-भक्ति का

---

१. ना० प्र०—कबीर। २. गु०—जानो कली अनार की। ३. ना० प्र०—राती। ४ ना० प्र०—सापंत। ५. ना० प्र०—कँवारी कै भाइ, गु०—कन्या क्वारी भाइ। ६. ना० प्र०—वैश्नौं।

ढोंग रचता है, किन्तु भीतर से दुराचारी है। हरिभक्त को उसके पास नहीं जाना चाहिए अर्थात् वह त्याज्य है।

अलंकार—उपमा।

निरमल हरि का नाव सों, कै निरमल सुध भाइ।
कै[1] लै दूनी[2] कालिमाँ, भावै सौं मन साबन[3] लाइ ॥ ३ ॥

—६३५ ॥

शब्दार्थ—सुध भाइ=शुद्ध भावना। कै=(i) कर ले, (ii) अन्यथा। कालिमा=पाप सावन = साबुन। लै = ले लेगा।

व्याख्या—हे जीव ! तू प्रभु की सच्ची भक्ति से अपने अन्तःकरण को शुद्ध कर ले, अन्यथा तेरे हृदय की कालिमा बढ़ती ही जायगी, तू भले ही बाह्याचार रूपी सौ मन साबुन से ऊपरी सफाई रखे।

अलंकार—यमक।

१. गुप्त—है। २ ना० प्र०—दूणीं। ३. ना० प्र०—मण सावण

# (४३) गुरु सिष हेरा को अंग

इस अंग में यह संकेत किया गया है कि ऐसे सिद्ध गुरु का मिलना अत्यंत कठिन है जो साधना-मार्ग में शिष्य को निरापद रूप से ले चलता हुआ परमतत्त्व का साक्षात्कार करा दे। सत्गुरु के लिए भी सुपात्र शिष्य का मिलना कठिन ही है।

ऐसा[1] कोई ना मिलै[2], हम कौं दे[3] उपदेस।
भौसागर मैं डूबतां[4], कर गहि काढ़ै केस ॥ १ ॥

**शब्दार्थ**—हेरा = खोजना, परखना। डूबतां = डूबते हुए को।

**व्याख्या**—कबीर कहते हैं कि संसार में कोई ऐसा गुरु नहीं मिलता जो हमको (जीव को) सच्चा उपदेश दे और भवसागर में डूबते हुए प्राणी के केश हाथ में पकड़कर बाहर निकाल ले।

**अलंकार**—रूपक।

ऐसा[5] कोई ना मिलै, हम कौ लेइ पिछानि।
अपनां करि किरपा करै, ले उतरै[6] मैदानि ॥ २ ॥

**शब्दार्थ**—पिछानि=पहचान।

**व्याख्या**—कबीर कहते हैं कि ऐसा कोई नहीं मिलता जो हमारी आध्यात्मिक स्थिति को पहचान कर अपना ले और कृपा करके आध्यात्मिक मैदान में उतार दे।

**अलंकार**—रूपकातिशयोक्ति।

ऐसा[7] कोई ना मिलै, रांम भगति[8] का मीत।
तन मन सौंपे मिरिग ज्यौं[9], सुनैं बधिक का गीत ॥ ३ ॥

**शब्दार्थ**—मीत = प्रेमी।

**व्याख्या**—राम का ऐसा सच्चा भक्त मुझे नहीं मिलता जिसने नाद ब्रह्म में अपने तन-मन को उसी प्रकार पूर्णरूपेण समर्पित कर दिया हो जैसे वधिक का मधुर नाद सुनकर हिरण अपने तन-मन को समर्पित कर देता है।

**टिप्पणी**—इस साखी में कबीर ने नादानुसंधान योग (सुरति शब्दयोग) की ओर

---

१. तिवारी—अैसा। २. गु०, वि०—मिला। ३. ना० प्र०—दे। ४. तिवारी—मे बूटते, गु०—में डूबता। ५. तिवारी-अैसा। ६. ना० प्र०—उतारै। ७. तिवारी—अैसा। ८ गु०-भजन। ९. ना० प्र०-मृग ज्यूँ, गु०—मृग ज्यों।

संकेत किया है। इसके द्वारा साधक का चित्त नाद में सर्वथा लीन हो जाता है और वह ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त करता है।

अलंकार—उपमा।

**ऐसा[1] कोई ना मिलै[2], घर दे अपन जराइ[3]।**
**पाँचउ लरिके पटकि कै[4], रहै रांम लौ[5] लाइ॥ ४॥**

व्याख्या—मुझे ऐसा कोई नही मिलता जो अपना घर जलाकर और अपने पांचों पुत्रों को पटककर राम में अपने चित्त को लीन कर दे।

यहाँ 'घर' सासारिकता का प्रतीक है और 'पांचउ लरिके' पंचेन्द्रिय अथवा काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि प्रवृत्तियो के प्रतीक है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

**ऐसा[6] कोई ना मिलै[7], जासौं रहिये लागि।**
**सब जग जरता देखिया[8], अपनीं अपनीं[9] आगि॥ ५॥**

व्याख्या—खोजने पर भी ऐसा व्यक्ति नही मिलता है जिसके आश्रय में निःशंक रूप से मानव लगा रह सकता हो। संसार में हम जहाँ देखते है, वहीं सब अपनी चिन्ता की आग में जल रहे है। कोई ऐसा व्यक्ति नही दिखाई देता जिसके भीतर प्रपंच का उपशम हो गया हो।

तुलनीय—चिंता साँपिनि काहि न खाया।
को जग जाहि न व्यापी माया॥
—तुलसी।

**ऐसा कोइ ना मिलै[10], जासों[11] कहूँ निसंक।**
**जासों हिरदा[12] की कहूँ, सो फिरि माँड़ै कंक॥ ६॥**

शब्दार्थ—माँड़ै=प्रहार करना। कंक = एक प्रकार का पक्षी, ऐसा बाण जिसके एक ओर कंक पक्षी का पंख लगा हो।

व्याख्या—ऐसा कोई नहीं मिलता जिसके समक्ष मैं निःसंकोच भाव से अपने हृदय की उलझनों को व्यक्त कर सकूँ। मैं जिससे कहता भी हूँ, वह उल्टे व्यंग्य-बाण मारता है, उपहास करता है।

**ऐसा कोई ना मिलै[13], सब विधि देइ बताइ।**
**सुंनि मंडल मैं पुरिष[14] एक, ताहि रहूँ लौ[15] लाइ॥ ७॥**

---

१ तिवारी-अैसा। २ गु०—मिला। ३. ना० प्र०—अपना घर देइ जराइ ४ ना० प्र०-पँचू लरिका पटकि करि। ५. ना० प्र०—ल्यौ। ६. तिवारी-अैसा। ७. गु०-मिला। ८. ना० प्र०—जलता देखिए। ९ ना० प्र०-अपणीं-अपणीं। १०. वि०—मिला। ११ ना० प्र०—जाँसूँ। १२ ना० प्र०—जासूँ हिरदै। १३. वि०, गु०—मिला। १४. गु०, वि०-पुरुष है। १५ ना० प्र०—रहै ल्यौ।

शब्दार्थ—लौ=ध्यान ।

व्याख्या—मुझे कोई ऐसा व्यक्ति नही मिलता जो साधना की वे सभी विधियाँ बतला दे जिससे शून्य-मंडल में स्थित ज्योतिपूर्ण परमतत्त्व में मैं ध्यान लगा सकूँ ।

हम देखत जग जात है, जग देखत हम जाहि[1]।
ऐसा कोई ना मिलै[2], पकडि छुड़ावै बाहि[3] ॥ ८ ॥

व्याख्या—हमारे देखते हुए संसार के प्राणी काल के मुँह में चले जा रहे हैं और संसार के देखते हुए हम भी काल के मुँह में चले जाएँगे। कोई ऐसा सत्‌गुरु नही मिलता जो हमारी बाँह पकड़कर अर्थात् अपनी शरण में लेकर हमें काल के चंगुल से छुड़ा दे अर्थात् हमको आवागमन के चक्र से मुक्ति दिला दे ।

तीनि सनेही वहु मिलै[4], चौथे मिलै[5] न कोइ ।
सबै[6] पियारे राम के, वैठे परवस[7] होइ ॥ ९ ॥

व्याख्या—संसार में बहुत से ऐसे लोग मिलते हैं जो तीन इष्टों अर्थात् सुतैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा में अनुरक्त रहते हैं। ऐसा कोई नही मिलता जो चौथे इष्ट अर्थात् मोक्ष में अनुरक्त हो। संसार का प्रत्येक जीव प्रभु का अंश है। अतः उनका प्रिय है। किन्तु वह प्रभु की ओर नही जा पाता, क्योंकि वह दूसरे अर्थात् राग-द्वेष अथवा माया के वश में पड़ा हुआ है ।

तुलनीय—

सुत वित लोक ईषना तीनी ।
केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी ॥
—तुलसी ।

माया[8] मिलै महोवंती, कूड़े आखै बैन ।
कोइ घायल वेधा ना मिलै, साँई हंदा सैन ॥ १० ॥

शब्दार्थ—महोवंती = प्रेमी । कूड़े = व्यर्थ । आखै=बोलै । वेधा = विधा हुआ । हंदा ( राज० विभक्ति )=द्वारा, से । सैन=संकेत ।

व्याख्या—माया से अनुराग रखनेवाले और व्यर्थ की बातें छाँटनेवाले बहुत से लोग मिल जाते हैं, परन्तु प्रभु के कटाक्ष और संकेत से घायल तथा विधे हुए बहुत कम लोग मिलते हैं ।

---

१. ना० प्र०—जाहि । २. यु०, त्रि०—मिला । ३. ना० प्र०—बाँह ।४. यु०—मिला, त्रि०—मिले । ५ यु०, त्रि०—चौथा मिला । ६. तिवारी—सबहि । ७. ना० प्र०—परवसि ।

८. यु०, त्रि०—में यह साखी इस प्रकार है—

माया टोलै मोहती, बोलै कडुवा बैन ।
कोई घायल ना मिलै, साँई हिरदा सैन ॥

भाव यह है कि माया के प्रेमी तो बहुत होते हैं, किन्तु प्रभु के प्रेमी बहुत कम मिलते हैं।

सारा सूरा बहु मिलैं[1], घायल मिला[2] न कोइ।
घायल कौं घायल मिलै, तौ[4] राम भगति दिढ़ होइ॥ ११॥

शब्दार्थ—सारा=सम्पूर्ण, अक्षत।

व्याख्या—सच्चा शूर वह है जो युद्ध मे भिड़कर चोट खा चुका हो, अन्यथा अपने को शूर कहनेवाले तो बहुत मिलते है जो सर्वदा अक्षत रहते है, जिनके शरीर पर घाव का कोई चिह्न नही दिखलाई पड़ता। किन्तु जो प्रेम के बाण से आहत हो चुका हो, ऐसा शूर कोई नही मिलता। जब सत्गुरु को प्रेम के उत्कट उत्कर्ष से घायल ऐसा शिष्य मिले जिसमे प्रेम की तीव्र उत्कण्ठा जाग्रत हो चुकी हो, तभी राम की भक्ति सुदृढ होती हैं।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

प्रेमी ढूँढ़त मै फिरौं[5], प्रेमी मिलै न कोइ।
प्रेमी कौं[6] प्रेमी मिलै, तौ[7] सब विष अमृत[8] होइ॥ १२॥

व्याख्या—मैं प्रभु के सच्चे प्रेमी को खोजते फिरता हूँ। परन्तु मुझे ऐसा कोई प्रेमी नही मिलता। यदि सच्चे प्रेमी को कोई दूसरा वास्तविक प्रेमी मिल जाय तो यह विषाक्त जीवन अमृत हो जाय अर्थात् जीवन की कटुता आनंद मे परिणत हो जाय।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

हम घर जारा[9] आपनां, लिया[10] मुराड़ा हाथि।
अब[11] घर जालौं तास का, जे चलै हमारे साथि॥ १३॥
—६४८॥

शब्दार्थ—मुराड़ा=जलती हुई लकड़ी, लुकाठी।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मैने अपना आपा और उससे प्रेरित सासारिक जीवन जलाकर भस्म कर दिया है और हाथ मे ज्ञानाग्नि की लुकाठी लिये बैठा हूँ। जो साधना के मार्ग मे हमारे साथ चलने को तैयार हो, उसका भी आपा और सासारिक जीवन मुझे जलाना है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

●

---

१ यु० वि०—मिलै। २. ना० प्र०—घाइल मिलै। ३ ना० प्र०—घाइल ही धाइल। ४. ना० प्र०—तव। ५ तिवारी, वि०, यु०—फिरूँ। ६ अन्य—सों। ७. ना० प्र०—तव, वि०-विष से अमृत होइ। ८ तिवारी—अमरित। ९ ना० प्र०—जाल्या आपणाँ। १० गुप्त—लीया, वि०—लूका लीन्हा हाथ। ११ वि०-ताहू का घर फूँक दूँ।

## (४४) हेत प्रीति सनेह को अंग

कमोदनी जलहरि बसै[1], चंदा बसै अकास[2]।
जो जाही का भावता[3], सो ताही कै पास[4] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—हेत = प्रेम । जलहरि=जलधर, जलाशय । भावता=प्रिय ।

व्याख्या—कुमुदिनी जलाशय में रहती है और चन्द्रमा आकाश में। किन्तु जो जिसका प्रेमी होता है वह उसके पास ही रहता है। दूरी प्रेम के मार्ग मे व्यवधान नहीं डाल सकती। यद्यपि चन्द्रमा दूर आकाश में स्थित है और कुमुदिनी जलाशय में, तथापि वह चन्द्र-ज्योति से ही विकसित होती है, क्योंकि कुमुदिनी के लिए चन्द्र ही प्रिय है।

तुलनीय—जल महि बसै कमोदणी, चंदउ वसइ अगासि ।
ज्यउ ज्याही कइ मन वसइ, सउ त्यांही कै पासि ॥ २०१ ॥
—ढोला मारू रा दूहा

अलंकार—अर्थान्तरन्यास ।

गुरु[5] जौ बसै बनारसी, सीख समुन्दर तीर।
बीसारै[6] नहि बीसरै, जौ गुन[7] होइ सरीर ॥ २ ॥

शब्दार्थ—सीख=शिष्य । गुन=प्रेम ।

व्याख्या—यदि गुरु बनारस में रहता हो और शिष्य कोसों दूर समुद्र के किनारे हो तो भी यदि अन्तःकरण में पारस्परिक प्रेम विद्यमान है तो प्रयत्न करने पर भी एक-दूसरे को नही भूल सकते।

टिप्पणी—कहा जाता है कि उक्त साखी में कबीरदास के शिष्य मलूकदास के प्रति संकेत है जो जगन्नाथपुरी में जाकर बसे थे। बाबू श्यामसुन्दरदास ने कबीर ग्रन्थावली की भूमिका ( पृष्ठ २ ) में एक मलूकदास का उल्लेख किया है जिन्होंने संवत् १५६१ में किसी खेमचन्द के लिए काशी में कबीर की रचनाओं की हस्तलिखित प्रति तैयार की थी। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने भी लिखा है कि '-पुरी में किसी मलूकदास की एक समाधि कबीर साहब की समाधि के निकट बनी हुई बतलाई जाती है। अतएव यह संभव है कि कबीर साहब के शिष्य माने जानेवाले कोई मलूकदास जगन्नाथपुरी में रहते रहे हो तथा

---

१. हनु०, त्रि०, यु०—जल मे बसै कमोदनी। २. ना० प्र०—अकासि। ३. हनु०, त्रि०, यु०—जो है जाका भावता। ४. तिवारी—पासि। ५ ना० प्र०—कबीर गुर बसै बनारसी, सिष समंदा तीर। ६. ना० प्र०—बिसार्‌या नहीं बीसरै। ७. ना० प्र०—जे गुंण।

उन्हीं की उक्त समाधि हो ।* किन्तु यह मलूकदास, मलूक पंथ के प्रवर्तक प्रसिद्ध संत मलूकदास से भिन्न थे, क्योंकि उनका जन्म सं० १६३१ में हुआ था । अतएव वह कबीर के परवर्ती थे ।

जो है जाका भावता, जदि[1] तदि मिलिहै[2] आइ ।
जाकौं[3] तन मन सौंपिया, सो[4] कबहूँ छाँड़ि न जाइ ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—भावता = प्रिय । जदि तदि=कभी-न-कभी ।

व्याख्या—जो जिसका प्रिय है वह शरीर से दूर रहने पर भी कभी-न-कभी मिल ही जायेगा । जिसको अपने प्रेमवश किसी ने अपना तन-मन समर्पित कर दिया है, वह कभी भी सदा के लिए पृथक् नहीं हो सकता ।

स्वामी सेवक[5] एक मत, मन ही मैं मिलि जाइ[6] ।
चतुराई रीझै नहीं, रीझै मन कै भाइ ॥ ४ ॥
—६५२ ॥

व्याख्या—इस साखी में 'मत' शब्द को सामान्य वाच्यार्थ में नही लेना चाहिए । यहाँ 'मत' का तात्पर्य केवल यह नहीं है कि दोनों की मान्यताएँ एक हों या दोनों एक बात के माननेवाले हों । उसकी व्यञ्जना यह है कि यदि स्वामी और सेवक, गुरु और शिष्य का दिल मिलता है, यदि दोनों में परस्पर प्रेम है तो शरीर से दूर रहते हुए भी वे मन से सदा निकट ही रहते हैं । स्वामी ( गुरु ), सेवक ( शिष्य ) के बौद्धिक नैपुण्य से नहीं रीझता है । वह तो शिष्य के भाव को देखता है । यदि उसमें स्नेह का भाव है तो गुरु उसके प्रति अवश्य आकृष्ट होता है ।

---

*उत्तर भारत की संत-परम्परा—पृ० ५६७ ।

१. यु०, वि०, हनु०—जब तक मिलिहै । २. ना० प्र०—मिलसी । ३. यु०, हनु०—तन मन ताको सौंपिये । ४ यु०-जो । ५. गुप्त—सेवग । ६. तिवारी--मत मैं मत मिलि जाइ ।

## ( ४५ ) सूरातन को अंग

इस अंग में बताया गया है कि आध्यात्मिक शूर कौन है ?

> कायर हुआं न छूटिहै[1], कछु सूरातन साहि[2]।
> भरम भलाका[3] दूरि करि, सुमिरन[4] सेल सँबाहि[5] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—सूरातन>सूरत्तण, शूरत्व। साहि = साधि, साधो, ठीक करो। भलाका= तीर का फलक, गाँसी। सेल = ( सं० शल ) बरछा, भाला। सँवाहि = संवाहन, परि-चालन, चलाना।

व्याख्या—मोह, राग-द्वेषादि आध्यात्मिक जीवन के शत्रु हैं। इन पर विजय प्राप्त करने पर ही मोक्ष संभव है। इसी तथ्य को कबीरदास रूपक शैली में इस प्रकार कह रहे हैं:—

हे जीव ! कायर होकर रहने से तू संसार से छुटकारा नहीं पाएगा। इसलिए तू शूरता की साधना कर अर्थात् अपने जीवन में शूरता का भाव ला। तेरे भीतर जो मोह और भ्रम का तीर घुसा हुआ है, उसे बाहर फेंककर अर्थात् भ्रम को दूरकर, प्रभु-स्मरण का भाला लेकर जीवन के रणक्षेत्र में आगे बढ़।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

> कोनैं[6] परा न छूटिहै, सुनु[7] रे जीव अबूझ।
> कबीर मरि[8] मैदान मैं, करि इन्द्रिन सों जूझ[9] ॥ २ ॥

शब्दार्थ—अबूझ = अबोध, ज्ञानहीन। जूझ = युद्ध।

व्याख्या—हे अज्ञानी जीव ! ध्यानपूर्वक सुन। संसार और समाज से पूर्णतया अलग रहकर, एक कोने में कुटिया बनाकर तपस्या और साधना करने से तेरी वास्तविक मुक्ति नहीं हो सकेगी। इसी संसार में इन्द्रियों के आकर्षण से युद्ध करते हुए तू आध्यात्मिक मैदान में मरण का वरण कर।

पहली पंक्ति में व्यञ्जना यह है कि एकान्त में बैठकर तप करने या समाधि लगाने से प्रत्यक्ष आकर्षण से तो जीव बच सकता है, किन्तु यदि उसका चित्त उसमें अनुरक्त है तो अलग रहते हुए भी चित्त उसके प्रति बार-बार आकृष्ट होगा। चित्त की वासना से निवृत्त

---

१. ना० प्र०—काइर हुवाँ न छूटिए, त्रि०-कायर भया न छूटिहौ। २. त्रि०—सूरता कछू समाय। ३. ना० प्र०—भरका, त्रि०-भालका। ४. ना० प्र०—सुमिरण। ५. त्रि०—सँजाय। ६. ना० प्र०, गुप्त—पूँणें पड्या न छूटियो। ७. ना० प्र०-सुणि, तिवारी—सुनि। ८. सु०—माँड़। ९. ना० प्र०—इन्द्र्यां सूँ झूझ।

हो जाना ही वास्तविक मुक्ति है। यह निवृत्ति तभी प्राप्त हो सकती है जब कि शरीर से आकर्षणों के बीच रहते हुए भी, मन से उनसे विरक्त हो जाय।

दूसरी पंक्ति में व्यञ्जना यह है कि इन्द्रियों के आकर्षण के बीच रहते हुए भी चित्त को उनसे विरक्त रखे। यही इन्द्रियों से संग्राम करना है। जीव स्वभावतः शरीर और इन्द्रियों से तादात्म्य रखता है। जब तक वह शरीर से तादात्म्य रखता है, तब तक विषयों के आकर्षण से मुक्त नहीं हो सकता। शरीर से तादात्म्य ही जीव की संज्ञा है। इस तादात्म्य को समाप्त करना ही मरण है। यह मरण ही सच्ची मुक्ति है।

**कबीर सोई सूरिवाँ[1], मन सो[2] माँडै जूझ[3]।**
**पंच[4] पियादे[5] पारि कै, दूरि करै सब दूज[6] ॥ ३ ॥**

शब्दार्थ—सूरिवाँ=शूर। माँड़ै=ठाने। पियादे=पदाति, पैदल सेना, (प्र० अ०) काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि मन की प्रवृत्तियाँ। पारि कै = गिराकर, जीतकर। दूज=द्वैत।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि वास्तविक शूर वही है जो अन्तः स्थित शत्रु अशुद्ध, काम-सम्पृक्त मन से युद्ध करे और काम, क्रोध मद, लोभ, मोह—इन पाँच पैदल सेनानियों अर्थात् मन की प्रवृत्तियों को पराजित करके द्वैतभाव को निरस्त कर दे।

टिप्पणी—जब तक द्वैत भाव बना रहता है, तभी तक संग्राम है, क्योंकि तब तक मोह, शोक आदि प्रवृत्तियाँ मन में तरंगित होती रहती हैं। द्वैत समाप्त होने पर कौन किससे संग्राम करेगा, क्योंकि तब सब में एकात्म-भाव आ जाता है।

ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि
आत्मैवा भूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक
एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

अर्थात् जिसकी दृष्टि में आत्मा ही सर्वभूत हो गया है, उस निरन्तर एकत्व देखने-वाले ज्ञानी पुरुष को मोह कहाँ और शोक कहाँ ?

**सूरा जूझै[7] गिरद सौं[8], इक दिसि सूर न होइ।**
**कबीर[9] या[10] बिन सूरिवाँ, भला न कहिसी कोइ ॥ ४ ॥**

शब्दार्थ—गिरद=( फा० गिर्द ) चारो ओर।

---

१. यु०, वि०—सूरमा। २. ना० प्र०—सूँ। ३ ना० प्र०—झूझ। ४ यु०, वि०—पाँचो इन्द्री पकरि के। ५ ना० प्र०—पयादा पाडि ले। ६. तिवारी—दूजि, यु०, वि०—दूझ। ७. ना० प्र०—झूझै। ८ ना० प्र०—सूँ। ९ यु०, वि०—यों जूझें बिन बाहरा, भला न कहसी कोय। १० ना० प्र०—यौं।

व्याख्या—वास्तविक शूर वही है जो अपने शत्रुओं से चारो ओर भिड़ता है, केवल एक ओर युद्ध करने से कोई सच्चा शूर नही हो सकता। कबीर कहते हैं कि इस कौशल के बिना कोई भी कुशल शूर नही कहा जा सकता।

इस साखी मे व्यञ्जना यह है कि जैसे कोई शूर केवल सामने के शत्रु से लड़ता हो और इधर-उधर के शत्रुओं से अपनी रक्षा न कर रहा हो तो वह सिद्ध शूर नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जो केवल बाह्य इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है, किन्तु आन्तरिक वासनाओ पर जय नही प्राप्त करता, कबीर के शब्दो में यदि वह 'तृष्ना नाद करत घट भीतर' की स्थिति मे है तो वह कुशल आध्यात्मिक शूर नही कहा जा सकता।

कबिरा रन में पैठिकै[1], पीछैं रहै न[2] सूर।
साँई सौं[3] साँचा भया, रहसी[4] सदा हजूर॥ ५॥

शब्दार्थ—रन = युद्ध-क्षेत्र। हजूर=सामने, प्रत्यक्ष।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि सच्चा शूर वही है जो आध्यात्मिक रण में प्रविष्ट होकर पीछे नही हटता अर्थात् जो आक्रमणकारी आकर्षणों और वासनाओं से निरन्तर जूझता रहता है, उनसे भागता नही है। 'साँई सौ साँचा भया' का तात्पर्य यह है कि वह अपने प्रभु का एकनिष्ठ सेवक है और सदा उनके सामने तत्पर रहता है अर्थात् उनके आदेशों की पूर्ति के लिए सदा सन्नद्ध रहता है।

दूसरे चरण में व्यञ्जना यह है कि परम ज्योति का स्फुल्लिग प्रत्येक मानव के हृदय में विद्यमान है। इसी की रक्षा के लिए मानव को आध्यात्मिक-क्षेत्र में संग्राम करना चाहिए, क्योंकि इस पर निरन्तर काम, क्रोध आदि शत्रुओं के आक्रमण होते रहते हैं। सच्चा एकनिष्ठ साधक वही है जो अपने भीतर विद्यमान इस आत्मतत्त्व की रक्षा मे काम, क्रोध आदि विरोधी प्रवृत्तियो से युद्ध करता रहता है और उस आत्मतत्त्व को अपनी चेतना के केन्द्र-बिन्दु में रखता है।

गगन दमामाँ बाजिया, परा[5] निसानैं घाव।
खेत बुहारा सूरिवाँ[6], मुझ[7] मरने[8] का चाव॥ ६॥

शब्दार्थ—दमामाँ (फा०) = बड़ा नक्कारा, धौसा। निसानै (फा०)=एक प्रकार का अवनद्ध (चमड़े से मढा हुआ) रणवाद्य, नगाड़ा (विस्तार के लिए देखिए—संगीत रत्नाकर ६।११११-५४)। घाव = चोट। बुहारा = साफ कर दिया। चाव=उत्कंठा।

---

१. ना० प्र०—कबीर आरणि पैसि करि वि०—रन मे आयके। २. ना० प्र०—सु ३ ना० प्र०—सूँ, वि०—के सनमुख रहै, यु०—सूँ सनमुख भया। ४. तिवारी, वि०—जूझें। ५. ना० प्र०—पड्या, तिवारी—परत। ६ ना० प्र०—बुहार्‌या सूरिवैं, वि०—पुकारें सूरमा। ७. तिवारी—अब मरिवै कौ दाव, यु०, वि०—अब लड़ने का दाँव। ८. ना० प्र०—मरणे।

व्याख्या—आकाश दमामा की ध्वनि से गूँज उठा और नगाड़े पर डंडों की चोट पड़ने लगी। शूर युद्ध में कूद पड़े हैं और शत्रुओं को पराजित करके मैदान साफ कर दिया है। मेरे हृदय में भी इस मैदान में जूझने की उत्कट अभिलाषा है।

आध्यात्मिक रणक्षेत्र में साधकों और संतों ने काम, क्रोध आदि शत्रुओं को पराजित किया है। मेरी भी इस रणक्षेत्र में भाग लेने की अभिलाषा है।

टिप्पणी—दमामा और निसान रणवाद्य हैं। इनकी ध्वनि वीरों में उत्साह का संचार करती है।

मेरे संसै कोइ नहीं[1], हरि[2] सौं[3] लागा हेत।
काम क्रोध सों जूझनां[4], चौड़े मॉड़ा[5] खेत ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—संसै = संशय। हेत = प्रेम। माँड़ा = ठाना।

व्याख्या—मेरा प्रभु से पूर्ण अनुराग हो गया है। इसलिए मुझे अब काम, क्रोध आदि शत्रुओं से पराजित होने की आशंका नही रह गयी है। मुझे अब संसार के विशाल रण-क्षेत्र में, खुले मैदान मे, काम, क्रोध से युद्ध ठानना है।

सूरै सार सँवाहिया, पहिरा[6] सहज सँजोग।
अब कै ग्यान गयंद चढ़ि[7], खेत परन[8] का जोग ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—सूरै = शूर ने। सार=लोहे का अस्त्र। सँवाहिया=संवहन किया, सम्भाला। गयंद=गजेन्द्र, हाथी।

व्याख्या—इस सांसारिक रणक्षेत्र में आध्यात्मिक शूर ने अपने सभी अस्त्र सँभाल लिये हैं। उसने सहजरूपी प्रिय मिलन का कवच भी धारण कर लिया है। वह ज्ञान के गजेन्द्र पर आरूढ़ हो गया है। इस बार खेत रखने का अर्थात् विजय प्राप्त करने का सुयोग प्राप्त हुआ है। यह अंतिम आक्रमण है। इस बार विजय प्राप्त होगी या मरण का वरण।

इस साखी में दो-तीन विचारो की समन्वित व्यञ्जना है। 'सहज सँजोग' में उस कवच के धारण करने की व्यञ्जना है जिसमें प्रेम के द्वारा द्वैत भाव को सर्वथा मिटाकर साम-रस्य की सहजावस्था में समावेश होता है। प्रायः काम, क्रोध आदि निम्न पाशविक वृत्तियों से मनुष्य की पराजय इसलिए होती है क्योंकि जिस राजसिक भूमि में काम, क्रोध है, उसी भूमि पर उनसे भिड़नेवाला साधक भी खड़ा है। यदि वह उससे ऊपर उठकर प्रहार करे तभी उन पर विजय प्राप्त कर सकता है। इसीलिए कबीर ने कहा है कि साधक ज्ञान के हाथी पर चढकर प्रहार करता है।

---

१. ना० प्र०—कबीर मेरे ससा को नहीं। २. वि०—गुरु सौं। ३. ना० प्र०—सूँ। ४. ना० प्र०—सूँ झूझणाँ। ५ ना० प्र०—मांड्या। ६ ना० प्र०—पहरया, गु०, वि०—पहरा। ७. तिवारी—ग्यान गयदहि चढि चला। ८. ना० प्र०—पड़न।

श्रीमद्भगवद्गीता में इसी प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाते हुए कहा है—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥
(३।४३)

अर्थात् तुम आत्मा को बुद्धि से भी परे समझकर अपने निम्न स्व को उच्चतर स्व से नियन्त्रित कर, उस उच्च स्तर से कामरूपी दुर्दमनीय शत्रु को मारो।

अलंकार—सांगरूपक।

**सूरा तबही परषिये[1], लड़ै धनी[2] कै हेत।**
**पुरजा पुरजा[3] होइ परै[4], तऊ न छाड़ै खेत॥ ९॥**

शब्दार्थ—परषिये = परख होती है। धनी = स्वामी, आत्मा। हेत = प्रेम, लिए। पुरजा-पुरजा = टुकड़े-टुकड़े।

व्याख्या—यहाँ स्वामी आत्मा है, काम, क्रोध आदि शत्रु हैं, साधक योद्धा है। वह अपने स्वामी अर्थात् आत्मा के हित के लिए काम, क्रोधादि शत्रुओं से लड़ता है।

इसी तथ्य को कबीर इन शब्दो मे व्यक्त करते है कि सच्चे योद्धा की परख यही है कि वह अपने स्वामी के हित के लिए युद्ध करता है और वह रणक्षेत्र में टुकडे-टुकड़े भले ही हो जाय, किन्तु मैदान छोड़ने का नाम नहीं लेता है।

'हित' शब्द में श्लेष अलंकार है।

**खेत न छाड़ै सूरिवाँ[5], जूझै दोउ[6] दल माँहि।**
**आसा जीवन मरन[7] की, मन मैं आँनै[8] नाँहि॥ १०॥**

शब्दार्थ—आँनै = लाना। जूझै = युद्ध करता है।

व्याख्या—इस साखी में कबीर सच्चे आध्यात्मिक शूर की विशेषता बताते हुए कहते है कि वह रणक्षेत्र छोड़कर कभी पीछे नही हटता है तथा विवेक और मोह, ज्योति और तमस्, संक्षेप में सत्-असत् के बीच चलनेवाले युद्ध में सत् पक्ष की ओर से आगे रहकर युद्ध करता है। संसार के सामान्य प्राणी जिस जीवन के प्रति आसक्त रहते है तथा जिस मृत्यु से भयभीत रहते है, सच्चा आध्यात्मिक शूर उन्हे केवल शरीर का धर्म समझते हुए उनको मन में स्थान नही देता अर्थात् उनके प्रति उदासीन रहता है।

**अब तौ जूझै ही बनै[9], मुड़ि चालै[10] घर दूरि।**
**सिर साहिब कौं सौंपते[11], सोच न कीजै सूरि॥ ११॥**

---

१ अन्य—सोइ सराहिए। २. ना० प्र०—धणीं। ३ ना० प्र०—पुरिजा-पुरिजा। ४. ना० प्र०—है पडै। ५ गु०; त्रि०—सूरमा। ६. ना० प्र०—झूझै है। ७. ना० प्र०—मरण' ८ ना० प्र०—आँणै, गु०, त्रि०—राखै। ९. ना० प्र०—झूझ्याँ हीं वणें, तिवारी—जूझाँ ही बनै। १०. ना० प्र०—चाल्याँ, तिवारी—चालां। ११. ना० प्र०—सौंपतां।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि संग्राम छिड़ जाने पर युद्ध करने में ही कल्याण है। उसे छोड़कर भागने से काम नहीं चलेगा। उससे मुड़कर भागने पर अपना घर और दूर हो जायेगा। प्रभु को अपना सिर समर्पित करने में आध्यात्मिक शूर को हिचकना नहीं चाहिए।

इस साखी में 'घर' शब्द की व्यञ्जना बहुत गूढ़ है। यहाँ घर का तात्पर्य है—आत्मतत्त्व। मानव का वास्तविक घर वही है। उसके जीवन का लक्ष्य वहीं पहुँचना है। यही उसकी नियति है। किन्तु सामान्यतः प्राणी संसार के प्रवाह में बहते हुए उससे दूर रहते हैं। सांसारिक जीव काम, क्रोधादि के वशीभूत रहकर ही सारे कार्य करता है। किन्तु जब वह साधना-पथ पर अग्रसर होता है तथा सांसारिक आकर्षणों से विमुख होने लगता है, तब काम, क्रोधादि पुराने संस्कार विद्रोह में खड़े हो जाते हैं और उसके मार्ग का प्रतिरोध करते हैं। तभी साधक और उसकी पाशविक वृत्तियों में संग्राम छिड़ जाता है। अब यदि साधक उनसे युद्ध न कर पीछे मुड़ता है अर्थात् पुनः सांसारिक जीवन में आ पड़ता है तो इस साधना से मुड़ने पर उसका आत्मतत्त्वरूपी घर दूर हो जाता है। उसने साधना के द्वारा जितनी यात्रा पूरी की थी, उसका अन्तराल और बढ़ जाता है।

यहाँ 'सिर सौंपना' का भाव है—अहंभाव का विसर्जन।

> अब तौ ऐसी होइ परी[1], मन का भावतु कीन[2]।
> मरनैं तैं क्या डरपनां[3], जब हाथि सिंधौरा लीन[4] ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—भावतु = वाञ्छित। सिंधौरा = सिंदूर-पात्र।

व्याख्या—अब तो ऐसी स्थिति आ गयी है कि मैंने अपने चित्त की इच्छा के अनुसार मरने का संकल्प कर लिया है। जिस प्रकार कोई पतिव्रता नारी जब सती होने के संकल्प का प्रतीक, सिन्दूर-पात्र-अपने हाथ में ले लेती है तब उसे उसके निश्चय से कोई डिगा नहीं सकता, तब उसको मृत्यु-भय नहीं रह जाता है, उसी प्रकार जब प्रभुरूपी पति से मिलने के लिए साधकरूपी नारी 'आपा' के मरण का निश्चय कर लेती है, तब उसे उस निश्चय से कोई विचलित नहीं कर सकता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

> जिस[5] मरनैं तैं[6] जग डरै, सो मेरे आनंद।
> कब मरिहूँ[7] कब देखिहूँ[8], पूरन परमानंद ॥ १३ ॥

---

१. ना० प्र०—ऐसी हैं पडी। २. ना० प्र०—मनकारु चित कीन्ह। ३. ना० प्र०—कहा डराइए। ४. ना० प्र०—हाथि स्यँधौरा लीन्ह। ५. तिवारी–जिसु। ६. ना० प्र०—थैं। ७. तिवारी–मारिहौं। ८. तिवारी– भेंटहौं।

व्याख्या—जिस मरण से सारा संसार डरता है वह मेरे लिए आनन्द का विषय है, क्योंकि शरीर में अहंभाव ही मेरे और प्रभु के बीच व्यवधानस्वरूप है। उससे मुक्त हो जाना ही वास्तविक मरण है। उससे मुक्त होकर सर्वव्याप्त चैतन्य में प्रतिष्ठित होना ही वास्तविक आनन्द है। कबीर कहते हैं कि मैं उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ, जब यह आपा मर जायेगा और मैं पूर्ण परमानन्द का अनुभव करूँगा।

प्रसिद्ध मराठी संत तुकाराम ने एक अभंग में ठीक इसी प्रकार कहा है कि :—

आपुलें मरण पाहिलें म्या डोला।
तो जाला सोहला अनुपम्य ॥
आनदें दाटली तिन्ही त्रिभुवनें।
सर्वात्मकपणें भोग झाला ॥ १९६ ॥

—तुकाराम वचनामृत, पृष्ठ ६३।

"मैंने अपना मरण अपने नेत्रों से देखा तो मुझे अनुपम आनन्द मिला। उस आनन्द से त्रिभुवन आपूरित हो उठा और मैंने सर्वात्मक रूप से भोग का अनुभव किया।"

**कायर बहुत पमाँवहीं[1], बहकि[2] न बोलै सूर।**
**काँम परे ही जांनिए[3], किसके मुख पर नूर[4] ॥ १४ ॥**

शब्दार्थ—पमाँवही = डींग मारते है। बहकि = बमककर बोलना, बढ़-बढ़कर बात करना। नूर ( फा० ) = कान्ति।

व्याख्या—कायर बहुत डींग मारता है, किन्तु शूर व्यर्थ मे बढ-बढ़कर नही बोलता। अवसर पड़ने पर अर्थात् रणक्षेत्र में ही यह पता चलता है कि किसके मुख पर वीरता की कान्ति है ? अर्थात् जूझने के लिए कौन तैयार है ?

तुलनीय—

सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आपु।
विद्यमान रन पाइ रिपु, कायर कथहिं प्रलापु ॥
—मानस (१।२७४)

अलंकार—लोकोक्ति।

**जाइ पुछौ उस घायलैं[5], दिवस पीर निसि जागि[6]।**
**वाँहनहारा जांनिहै[7], कै जांनैं जिहि लागि[8] ॥ १५ ॥**

शब्दार्थ—वाँहनहारा = चलानेवाला।

१. वि०—पमावई। २. वि०—अधिक। ३ ना० प्र०—काँम पड्याँ हीं जाँणिये, त्रि०—सार खलक कै जानिए। ४ किहि के मुँहडै नूर। ५. ना० प्र०—घाइलैं, यु०, वि०—घावझा। ६ ना० प्र०—पीड़ निस जाग। ७ ना० प्र०—वाँहणहारा जाँणिहै। ८. ना० प्र०-जाणै जिस लाग, यु०, वि०—जानै जिस।

व्याख्या—प्रभु के प्रेम में घायल व्यक्ति से पूछो कि उसे कितनी गहरी व्यथा है। वह दिन-भर उस पीड़ा से तड़पता रहता है और रात-भर जागता रहता है। इस पीड़ा के मर्म को या तो वह जानता है जिसने प्रेम-वाण चलाया है अथवा वह जानता है जिसे वह वाण लगा है अर्थात् इस मर्म को या तो प्रभु जानते हैं जिन्होंने अपने प्रेम से साधक को आकृष्ट किया है अथवा वह भक्त जानता है जो उस प्रेम से आकृष्ट हुआ है। प्रेम और उसकी व्यथा दोनों अनुभूति के विषय हैं। अतः अन्य के लिए वे अगम्य हैं।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

घायल[1] घूँमै गहभरा[2], राखा[3] रहै न ओट।
जतन कियाँ जीवै[4] नहीं, लगी[5] मरम की चोट॥ १६ ॥

शब्दार्थ—गहभरा=(गहभर>गहवर>गह्वर) व्याकुल, उद्विग्न। ओट=शरण, आड़।

व्याख्या—प्रेम-वाण से आहत व्यक्ति उद्विग्न-सा घूमता रहता है। वह केवल प्रिय-मिलन से ही शान्ति पा सकता है। उसके लिए कोई दूसरा सहारा नही है। बहुत प्रयत्न करने पर भी वह जीवित नही रह सकता, क्योकि उसको मर्मभेदी चोट लग चुकी है अर्थात् उसके हृदय के अन्तस्तल में प्रभु-मिलन की व्यथा व्याप्त हो चुकी है।

ऊँचा बिरिख[6] अकासि फल, पंखी[7] सूए झूरि।
बहुत[8] सयाँने पचि मुए[9], फल निरमल[10] पै[11] दूरि॥ १७ ॥

शब्दार्थ—बिरिख—वृक्ष, (प्र० अ०) साधना का पथ। अकासि=आकाश (प्र० अ०) शून्य, ब्रह्मरंध्र। फल=(प्र० अ०) ब्रह्मानुभूति, रामरस (कबीर के शब्दो में)। पंखी=पक्षी, (प्र० अ०) जीव। झूरि=संतप्त। सँयाने=ज्ञानी, पंडित, शास्त्री। पचि मुए=थककर हार गये।

व्याख्या—सुषुम्ना एक ऊँचे वृक्ष के समान है। उसका फल माया से परे, भौतिकता से परे शून्य या ब्रह्मरंध्र मे ही मिल सकता है अर्थात् पूर्ण अनुभूति ब्रह्मरंध्र में ही पहुँचने पर होती है। बेचारा साधक जीव उस फल को पाने के लिए संतप्त होकर निराश हो जाता है या हार मान जाता है। बड़े-बड़े चतुर शास्त्री लोग प्रयत्न और परिश्रम करके हार मानकर बैठ गये। ब्रह्मानुभूतिरूपी फल अत्यन्त सरस एवं निर्मल है, किन्तु पहुँच से बहुत दूर है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

---

१. गु०, वि०—घायल तौ घूमत फिरै। २. ना० प्र०—गहि भरया। ३ ना० प्र०—राख्या। ४ गु०—उबरै। ५ ना० प्र०—वर्णी। ६ ना० प्र०—बिरप, गु०, वि०—तरुवर गगन फल। ७ तिवारी, त्रि०—पंखी मूआ झूर, गु०—पक्षी मुआ विसूर, गुप्त—पथी। ८. गु०—अनेक सयाना पचि गया। ९. ना० प्र०—रहे, वि०—गए।१०. वि०—लागा पै दूर। ११ ना० प्र०—परि।

दूरि भया तौ क्या[1] भया, सिर दे नियरा[2] होइ।
जब लग सिर सौंपै नहीं, चाख सकै नहिं कोइ[3] ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—नियरा = निकट।

व्याख्या—पूर्व साखी के नैरन्तर्य मे कबीर कहते हैं कि ब्रह्मानुभूतिरूपी फल दूर है तो क्या हुआ? अहंरूपी सिर समर्पित करने से वह निकट हो सकता है। जब तक आपा रूपी सिर नही सौंपा जाता, तब तक उस फल का स्वाद किसी को नही मिल सकता।

टिप्पणी—(१) ना० प्र० की प्रति में 'नियरा' के स्थान पर 'नेड़ा' पाठ है। इसका भी अर्थ है—निकट।

(२)कुछ प्रतियो में 'चाख सकै नहिं कोइ' के स्थान पर 'कारिज सिधि न होइ' पाठ है। इसका अर्थ होगा—तब तक कृतार्थ नही हो सकता।

कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाँहि।
सीस उतारै हाथ सौं[4], तब[5] पैसै घर माँहि ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—खाला (अ०) = माता की बहन, मौसी।

व्याख्या—प्रभु के यहाँ केवल प्रेम से प्रवेश हो सकता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपनी मौसी के घर अधिकारपूर्ण ढंग से प्रवेश कर सकता है, वैसा यहाँ संभव नही है। जो अपने हाथ से अपना सिर काटकर नीचे रख देता है अर्थात् जो अपने अहंभाव को सर्वथा मिटा देता है, वही इस गृह में प्रवेश पाने का अधिकारी है।

अलंकार—व्यतिरेक।

कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध।
सीस काटि[6] पग तर[7] धरै, तब निकटि प्रेम का स्वाद ॥ २० ॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि अपना वास्तविक घर प्रभु-प्रेम का है और वहाँ तक पहुँचने का मार्ग अत्यन्त विकट एवं दुष्कर है। जो अपना शीश स्वयं काटकर अपने पैरों तले रौंद दे अर्थात् जो स्वयं अपने अहंभाव को सर्वथा मिटा दे, वही प्रेम के आस्वादन का अधिकारी है।

प्रेम न बारी ऊपजै[8], प्रेम न हाटि बिकाइ।
राजा परजा जेहि[9] रुचै, सीस देइ लै जाइ[10] ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—बारी = वाटिका, बाग। हाटि=बाजार में।

---

१. ना० प्र०—तौ का। २. ना० प्र०—नेड़ा। ३. ना० प्र०—कारिज सिधि न होइ, गु०—कारज सिद्ध न कोय। ४. ना० प्र०—करि। ५. ना० प्र०—सो। ६. ना० प्र०—उतारि। ७. ना० प्र०—तलि। ८. ना० प्र०—खेतौं नीपजै। ९ ना० प्र०—जिस। १०. ना० प्र०—सिर दे सो ले जाइ।

व्याख्या – प्रेम किसी वाटिका में उत्पन्न नहीं होता है जिसे इच्छानुसार लाया जा सके और न तो वह बाजार में ही बिकता है जिसे मूल्य देकर खरीदा जा सके। वह धनवान या वैभवशाली व्यक्ति के अधीन भी नहीं है। उसकी प्राप्ति का एक ही उपाय है—अहंभाव का सर्वथा त्याग। जो ऐसा कर सकता है—वह धनी हो या निर्धन, राजा हो या रंक, शासक हो या शासित, उसे प्राप्त कर सकता है।

सीस काटि पासंग दिया[1], जीव सरभरि[2] लीन्ह।
जिहि[3] भावै सो आइ ले[4], प्रेम हाट[5] हँम कीन्ह॥ २२॥

शब्दार्थ—पासग = (फा०-पसंघा) वह बोझ जिसे तराजू के पल्लो का बोझ बराबर करने के लिए हल्के पल्ले मे रख देते है। सरभरि = सरबरि, बराबर। हाट कीन्ह=हाट करना (मुहा०), सौदा करना।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मैंने प्रेम का हाट लगाया है। उसे क्रय करने के लिए मूल्य के रूप में केवल प्राण देने से काम नही चलेगा। जब उसके साथ सिर काटकर अर्थात् अहंभाव को समाप्त कर पासंग के रूप में रखा जाएगा, तभी पलडा बराबर पड़ेगा। इस मूल्य पर जो चाहे उसे आकर ले जाए।

अलंकार—रूपक।

सूरै[6] सीस उतारिया, छांड़ी तन की आस।
आगैं तैं हरि मुलकिया[7], आवत देखा[8] दास॥ २३॥

शब्दार्थ—मुलकिया = पुलकित होकर हँसे।

व्याख्या—साधकरूपी शूर ने अपना शीश काटकर उतार दिया अर्थात् अहंभाव को पूर्णतया त्याग दिया और अपने तन की आस छोड़ दी अर्थात् अपने पूरे जीवन को समर्पित कर दिया। प्रभु ने ऐसी स्थिति में अपने भक्त को आते देखकर पुलकित होकर मधुर स्मित से उसका स्वागत किया।

भगति दुहेली रांम की, नहि कायर का कांम।
सीस उतारैं हाथि सौं[9], (तब[10]) लेसी हरि का नांम॥ २४॥

शब्दार्थ—दुहेली = दुःसाध्य, कठिन।

व्याख्या—राम की भक्ति अत्यन्त कठिन है। वह कायर के द्वारा सभव नही है। जो अपने पूर्ण जीवन की आहुति देने के लिए तैयार हो, अपने सीस को हाथ में लेकर समर्पित करने के लिए तैयार हो, अपने अहंभाव का पूर्ण रूप से हनन करने के लिए तैयार हो, वास्तव में वही हरि-भक्ति का अधिकारी है।

---

१ ना० प्र०–दिया। २ तिवारी–सेर भरि। ३. ना० प्र०–जाहि। ४. ना० प्र०–ल्यौ। ५. ना० प्र०–आट, तिवारी, गुप्त–आघु। ६. तिवारी, वि०–सूरा। ७. तिवारी, गु० -आगा तैं हरि हरषिया, वि०–आगे से गुरु हरषिया। ८ ना० प्र०–देख्या। ९. ना० प्र०–करि। १०. ना० प्र०–सो।

भगति दुहेली राँम की, जस[1] खाँड़े की धार।
जे डोलै तौ[2] कटि पड़ै, निहचल[3] उतरै पार॥ २५॥

शब्दार्थ—खाँड़े = तलवार। निहचल = स्थिर।

व्याख्या—प्रभु की भक्ति तलवार की धार पर चलने के समान अत्यन्त कठिन है। यदि थोड़ा भी संतुलन बिगड़ जाय तो चलनेवाला कट जाएगा। यदि वह स्थिर भाव से सन्तुलन बनाए रखता है अर्थात् अपने प्रेम मे विचलित नही होता तो वह निःसंदेह पार जा सकता है अर्थात् साधना में सफल हो सकता है।

तुलनीय—

यह प्रेम को पंथ कराल महा,
तरवार की धार पै धावनो है।
—बोधा

अलंकार—उपमा, विरोधाभास।

भगति दुहेलो राँम की, जैसी अगिनि की झाल।
डाकि पड़े ते ऊबरे, दाधे कौतिगहार॥ २६॥

शब्दार्थ—झाल=लपट, ज्वाला। डाकि पड़े = कूद पड़े। ऊबरे = उद्धार हो गया, बच गए। दाधे = दग्ध हो गए। कौतिगहार=तमाशबीन।

व्याख्या—प्रभु की भक्ति अग्नि की ज्वाला को पार करने के समान अत्यन्त दुष्कर है। इस अग्नि में एक वैचित्र्य है। यह सामान्य आग से भिन्न है। इसमें जो कूद पड़ता है, उसका उद्धार हो जाता है और जो दूर से तमाशा देखता है वह जल जाता है।

अग्नि को 'पावक' भी कहते है। पावक की व्युत्पत्ति है—पुनाति इति पावकः। जो शुद्ध कर दे वह पावक या अग्नि है। अग्नि सभी प्रकार के मल को जलाकर धातु को शुद्ध कर देती है। इसी प्रकार प्रभु-प्रेम वह अग्नि है जो साधक के अन्तर्निहित काम, क्रोध आदि विकारो को जलाकर उसे शुद्ध कर देता है। जो इस प्रेम की आग में कूदता है वह शुद्ध हो जाता है, पवित्र हो जाता है और इस प्रकार उसका उद्धार हो जाता है। जो इस प्रेम की आग में कूदने के लिए तैयार नही है, तटस्थ खड़ा रहता है, वह काम, क्रोधादि सांसारिक ज्वालाओं से दग्ध होकर विनष्ट हो जाता है।

अलंकार—असंगति, विरोधाभास।

कबीर घोड़ा प्रेम का, चेतन[4] चढ़ि असवार।
ग्याँन खड़ग[5] गहि[6] काल सिर, भली मचाई मार॥ २७॥

---

१. ना० प्र०–जैसि। २. तिवारी–सो। ३. ना० प्र०—नहीं तौ। ४. ना० प्र०–चेतनि। ५. ना० प्र०—षड़ग। ६. गु०, वि०–लै काल सिर।

शब्दार्थ—चेतन = जीवात्मा।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि साधनारूपी युद्ध मे विजय प्राप्त करने के लिए चेतन (जीवात्मा) रूपी योद्धा, प्रेम के घोडे पर सवार होकर ज्ञानरूपी तलवार के द्वारा जमकर युद्ध करता हुआ जन्म-मरणरूपी काल के सिर को काट देता है।

टिप्पणी—इस साखी मे ज्ञान और भक्ति का सुन्दर समन्वय दिखाया गया है। भक्ति के बिना ज्ञान पंगु रहता है। साधक को मैदान मे अग्रसर होने के लिए भक्तिरूपी घोडा चाहिए। तभी वह साधनारूपी युद्ध में विजय प्राप्त कर सकता है। ज्ञान से केवल परिचय प्राप्त होता है, किन्तु उसमे क्रियाशीलता नही आती। प्रेम या भक्ति एक भाव ( Emotion ) है, उससे क्रियाशीलता आती है। तभी साधक समर्थ होता है। इसीलिए ज्ञान के साथ भक्ति की नितान्त आवश्यकता है।

अलंकार—सागरूपक।

> कबीर हीरा[1] बनजिया, महँगे मोल[2] अपार।
> हाड़ गला[3] माटी गली[4], सिर सांटे व्योहार॥ २८॥

शब्दार्थ—हीरा=(प्र० अ०) भक्ति। बनजिया=वाणिज्य, व्यापार। सांटे (देशज)= बदले में। माटी = काया, शरीर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि भक्ति अमूल्य है। वह हीरे के व्यापार के समान है, जिसके लिए बहुत अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है। यह मूल्य वह अक्षुण्ण साधना है जिसमें हाड़ गल जाते हैं, यह काया नष्ट हो जाती है और तब कही बदले में वह सुन्दर, प्रकाशमान और अमूल्य भक्तिरूपी हीरा मिलता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

> जेते[5] तारे रैनि[6] के, तेते[7] वैरी मुज्झ[8]।
> धड़ सूली सिर कंगुरै, तऊ न विसारौं तुज्झ[9]॥ २९॥

शब्दार्थ—रैनि = रजनी, रात्रि।

व्याख्या—आकाश में जितने तारे है, उतने ही मेरे वैरी है अर्थात् काम, क्रोध, लोभ आदि मेरे असंख्य शत्रु है जो मेरे और प्रभु के बीच व्यवधान उपस्थित करते है। परन्तु मैं प्रभु को कभी विस्मृत नही कर सकता, भले ही मेरा धड़ सूली पर और सिर कँगूरे की नोक पर लटका दिया जाय।

---

१. ना० प्र०—हीराबण जिया। २ तिवारी—मोलि। ३. गु०, वि०—गली, गुप्त—गले। ४. तिवारी, गु०—मिली। ५. वि०—जेता तारा रैन का। ६. ना० प्र०—रैंणि। ७. वि०—येता। ८. ना० प्र०—मुझ। ९ ना० प्र०—तुझ।

जो हारौं[1] तौ हरि सवां, जो जीतौं[2] तो दांव[3] ।
पारब्रह्म[4] सौं[5] खेलतां, जे[6] सिर[7] जाइ त जाव ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—सवाँ = समान ।

व्याख्या—यदि आध्यामिक रणक्षेत्र में मैं हार गया अर्थात् मेरी साधना इतने पूर्ण रूप से सफल न हुई कि प्रभु से मिलन हो जाय तो भी कम-से-कम मेरे भीतर से दुर्गुण तो चले ही जाएँगे और भागवत गुण आ जाएँगे । और यदि इस साधना के क्षेत्र में मैं सफल हो गया, प्रभु से मिलन हो गया, तब तो सारा दाँव अपने हाथ में है । इस प्रकार पारब्रह्म के साथ खेलते हुए अर्थात् साधना के मार्ग पर चलते हुए अपना सिर कटाने के लिए भी तैयार हूँ ।

सिर[8] सांटै हरि सेविए, छाड़ि जीव की बाँनि[9] ।
जे सिर दीया हरि मिलै, तऊ हांनि मन जाँनि[10] ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—सांटै=बदले में । बाँनि=स्वभाव ।

व्याख्या—जीव, मरण नहीं चाहता । यह उसका स्वभाव है । किन्तु अपने इस स्वभाव के विपरीत यदि सिर देने के बदले प्रभु की सेवा करने का अवसर मिले तो भी इसका स्वागत करना चाहिए । यदि सिर देने से प्रभु मिलें तो भी इससे लाभ-ही-लाभ है, कोई हानि नही ।

टूटै[11] बरत अकास तैं[12], कौन सकत है झेल[13] ।
साधु सती अरु सूर का, आंनी ऊपर खेल[14] ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—बरत = मोटी रस्सी जिस पर नट चलता है । झेल=झेलना, बचाना । आँनी = अनी, नोंक ।

व्याख्या—नट जिस रस्से पर आकाश में चलता है, यदि वह टूट जाय तो फिर नट ऐसे झटके से पृथ्वी पर गिरेगा कि कोई भी व्यक्ति उसकी रक्षा नही कर सकता । साधक, सती स्त्री और शूर का जीवन भी तलवार की धार पर चलने के समान है । यदि उनका थोड़ा भी सन्तुलन बिगड़ा तो वे विनाश को प्राप्त होंगे, फिर उनको कोई बचा नही सकता ।

अलंकार—निदर्शना ।

---

१. ना० प्र०–जे हारया, त्रि०—जो हारौं तो सेव गुरु । २. ना० प्र०–जीत्या । ३. ना० प्र०–दाव । ४. त्रि०—सतनाम सों खेलता । ५. ना० प्र०–कूँ सेवता । ६. तिवारी–जौ । ७ त्रि०–सिर जावं तो जाव ।८. तिवारी की प्रति में इसका पाठ इस प्रकार है :—

सिर दीन्हे जो पाइए, तौ देत न कीजै कानि ।
सिर के सांटे हरि मिलै, तऊ हानि मत जांनि ॥

९ ना० प्र०–बाणि । १०. ना० प्र०—तऊ लगि हांणि न जांणि । ११. ना० प्र०—टूटी । १२. ना० प्र०–थैं, गु०–सो । १३. ना० प्र०—कोई न सकै झड़ झेल । १४. ना० प्र०–अँणी ऊपरि खेल ।

सती पुकारै सलि चढ़ी[1], सुनु[2] रे मीत मसाँन।
लोग बटाऊ चलि[3] गए, हँम तुम[4] रहे निदाँन ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—सती = (प्र० अ०) साधक, जीवात्मा। सलि = सरा, चिता (प्र० अ०) साधना की कठिन यात्रा। मसाँन = श्मशान (प्र० अ०) साधनास्थल। बटाऊ=पथिक। निदाँन = अन्ततः।

व्याख्या—जीवात्मारूपी सती साधनारूपी चिता पर चढ़कर यह कहती है कि हे साधनास्थल ! हमारे पथिक साथी छोड़कर चले गये और अन्ततः तुम और हम रह गये।

साधना के पथ में कोई दूसरा सहायक नहीं हो सकता। केवल साधक को ही उस कठिन यात्रा को पार करना पड़ता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

सती बिचारी सत किया, काठौं[5] सेज बिछाइ।
ले सूतो[6] पिउ[7] आपनाँ, चहुँ दिसि अगिनि[8] लगाइ ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—सत = सत्यव्रत। काठौं = काष्ठ पर, लकड़ी पर।

व्याख्या—जीवात्मारूपी सती ने अपने सतीत्व व्रत का पालन करने के लिए लकड़ी की चिता पर अपनी सेज बिछाई और परमात्मारूपी प्रिय को लेकर उस पर सो गयी और चारों ओर साधना की आग लगा दी।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

सती सूरतन[9] साहि करि, तन मन कीया घाँन[10]।
दिया महौला पीव कौं[11], (तब) मरहट करै बखान[12] ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—सूरतन = शूरत्व। साहिकरि = साधकर। घांन = घानी। महौला = रस, सारतत्त्व। मरहट=मरघट, श्मशान। बखान=प्रशंसा, सराहना।

व्याख्या—जीवात्मारूपी सती ने शूरत्व साधकर अपने तन-मन की घानी बनायी और उसके रस को अपने प्रिय को अर्पित कर दिया। उसके इस शौर्य की सराहना मरघट (साधनास्थल तथा वहाँ के अन्य साधक) करता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

सती जरन कौं नीकसी[13], पिउ[14] का सुमिरि सनेह।
सबद सुनत जिय[15] नीकसा, भूलि गई सुधि[16] देह ॥ ३६ ॥

---

१ ना० प्र०–चढि। २. ना० प्र०–सुनि। ३. यु०–सब। ४. ना० प्र०–तुझ। ५. यु०–काटों। ६ यु०–सूता पिय आपनाँ। ७. गुप्त—पीव आपणाँ। ८ गुप्त–अग्नि। ९. ना० प्र०–सूरातन, यु०–शू तन ताह्या। १०. ना० प्र०–घाँण। ११. ना० प्र०–कूँ, यु०—को। १२. ना० प्र०–मड़हट करै बषाँण। १३. ना० प्र०–जलन कूँ नीकली। १४. ना० प्र०—पीव। १५. ना० प्र०—जीव निकल्या। १६. ना० प्र०—सब, यु०—वा।

व्याख्या—जीवात्मारूपी सती अपने प्रियतम का स्नेह स्मरण कर सती होने के लिए चली। उस समय उसके प्रोत्साहन के लिए जो वाद्य (अनाहत नाद) बजने लगे, उनको सुनकर जीवात्मारूपी सती ने अपना प्राण त्याग दिया। उसे अपने शरीर की सुधि भी भूल गयी।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

सती जरन कौं नीकसी[1], चित धरि एक उमेख[2]।
तन मन सौंपा[3] पीव कौं[4], (तब) अंतर[5] रही न रेख ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ—उमेख = लालसा, उमंग। रेख=भेद, अन्तर।

व्याख्या—जीवात्मारूपी सती चित्त में एक अनुपम लालसा लेकर जलने के लिए निकली। उसने अपना तन-मन अपने प्रियतम को सौंप दिया, तब दोनो के मध्य कोई विभाजक रेखा नहीं रह गयी अर्थात् दोनो एक हो गये।

हौं तोहि पूछौं हे सखी, जीवत क्यौं न जराइ[6]।
मूए[7] पीछे सत करै, जीवत क्यों[8] न कराइ ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ—मूए=मरने पर।

व्याख्या—हे सखी! मैं तुझसे पूछती हूँ कि तू इस जीवन मे ही क्यो नही जल जाती अर्थात् अहंभाव नष्ट कर देती। तू प्रिय के मरने के बाद सतीत्व करती है, जीते जी क्यों नही करती अर्थात् सच्चा सतीत्व वह है जिसमें शरीर के रहते हुए आपा सर्वथा विनष्ट हो जाय।

अलंकार—अन्योक्ति।

कबीर परगट[9] राम कहि, छाँनै राँम न गाइ।
फूस कजोड़ा दूरि करि, ज्यूँ बहुरि न लागै लाइ ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—छाँनै=प्रच्छन्न रूप से, एकान्त मे। फूस = तिनका। कजोड़ा=समूह। लाइ=आग।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे जीव! तू राम का प्रकट रूप में भजन कर। प्रच्छन्न रूप से उनका गुणगान करने से कोई लाभ नही। तू अहंकार, मोह आदि कूड़े के समूह को हटा दे जिससे पुन: विषय-वासना की अग्नि न लगे।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

---

१ ना० प्र०—जलन कूँ नीकली। २ तिवारी—एक विवेक। ३. ना० प्र०—सोप्या। ४. ना० प्र०—कूँ, गु०—को। ५ तिवारी—अंतरि। ६ ना० प्र०—क्यूँ न मराइ। ७ ना० प्र—सूवां। ८. ना० प्र०—क्यूँ। ९ ना० प्र०—प्रगट।

कबीर हरि सब कौं[1] भजै, हरि कौं[2] भजै न कोइ।
जब लगि[3] आस सरीर की, तब लगि दास न होइ ॥ ४० ॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि प्रभु सबका ध्यान रखते हैं, किन्तु प्रभु का स्मरण कोई नहीं करता। जब तक शरीर से तादात्म्य बना रहता है, तब तक कोई सच्चा भक्त नहीं हो सकता।

आप सुवारथ मेदनीं[4], भगत सुवारथ दास।
कबीर राँम सुवारथी, (जिनि) छाड़ी तन की आस ॥ ४१ ॥
—६९३ ॥

शब्दार्थ—सुवारथ = स्वार्थी। मेदनी = संसार।

व्याख्या—सारा संसार अपने-अपने स्वार्थ को देखता है। भक्त का स्वार्थ, भक्ति है। कबीर कहते हैं कि जिसने राम को अपना स्वार्थ बनाया है, वह शरीर से तादात्म्य भाव बिल्कुल छोड़ देता है।

●

---

१. ना० प्र०—कूँ ; २ ना० प्र०—कूँ । ३. ना० प्र०—लग । ४. तिवारी—सुवारथि मेदिनीं ।

## ( ४६ ) काल को अंग

झूठे[1] सुख कौं सुख कहै[2], मानत हैं मन मोद।
खलक चवैना[3] काल का, कुछ मुख मैं कुछ गोद[4] ॥ १ ॥

शब्दार्थ— खलक=संसार।

व्याख्या—लोग अपने अज्ञानवश झूठे सुख को सच्चा सुख मान लेते है और मन में प्रसन्नता का अनुभव करते है। उनका इस ओर ध्यान ही नही जाता कि संसार में जो कुछ है, वह क्षणभंगुर है। यह संसार काल का चवेना है। इसके कुछ प्राणी काल का ग्रास बन चुके है और कुछ उसकी पकड़ में जकडे हुए ग्रास बनने की प्रतीक्षा में है।

आजि[5] कि काल्हि कि निसहि मै, मारगि माल्हंतांह।
काल सचांनां[6] नर चिड़ा, औझड़ औचिंताह[7] ॥ २ ॥

शब्दार्थ निसहि = रात्रि में ही। मारगि=मार्ग में। माल्हंतांह = झपट पड़ता है, मार डालता है। सचानां=बाज। चिड़ा=पक्षी। औचिंताह=बेखबर।

व्याख्या—इस साखी का अन्वय इस प्रकार होगा—'आजि कि काल्हि कि निसहि मैं औझड़ औचिंताह नर चिड़ा काल सचांनां मारगि माल्हंतांह।'

तात्पर्य यह है कि सांसारिक जीवन अत्यन्त क्षणिक है। आज या कल या रात्रि में ही निरन्तर असावधान प्राणियों को चलते-फिरते काल उसी प्रकार झपटकर नष्ट कर देता है, जैसे बेखबर उड़ते हुए पक्षो पर बाज झपटकर उसे नष्ट कर देता है।

टिप्पणी—इस साखी मे 'औचिन्ताह' कृदन्त है और माल्हंताह' क्रियापद है।

अलंकार—रूपक।

काल सिहांनै[8] यौं खड़ा, जाग पियारे मीत[9]।
राँम[10] सनेही बाहिरा, ( तूँ ) क्यों[11] सोवै निहचिंत[12] ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—सिहांने = सिरहाने। बाहिरा=बिना, पराङ्मुख। निहचिंत = निश्चिंत।

व्याख्या—हे प्रिय मित्र ! काल तेरे सिरहाने खड़ा है। तू जग जा अर्थात् अज्ञान की निद्रा को त्याग दे। प्रभु के प्रेम से पराङ्मुख होकर तू इस प्रकार निश्चिंत कैसे सो रहा है ?

---

१. गु०, त्रि–झूठा। २. गु०–कही। ३. ना० प्र०–चवीणों। ४, गु०, त्रि०–कछु मूठो कछु गोद। ५. ना० प्र०–आजक काल्हिक निस हमैं, मारग माल्हंतां, गु०, वि०–आज काल पल छिनक में, मारग मेरा हित्त। ६. ना० प्र०–सिचाँणाँ, गु०, त्रि०–चिचाना। ७. ना० प्र०–औच्यँताँ, गु०, त्रि०–औ अवचित्त। ८. ना० प्र०–सिहाँणै, गु०, वि०–चिचाना है। ९. ना० प्र०–जागि पियारो म्यंत। १०. गु०, त्रि०–नाम। ११. ना० प्र०–क्यूँ। १२. ना० प्र०–नच्यंत।

सब जग सूता नींद भरि, संत[1] न आवै नींद।
काल खड़ा सिर[2] ऊपरै, ज्यों तोरन[3] आया बींद॥ ४॥

शब्दार्थ—तोरन = तोरण, स्वागत-द्वार। बींद (राज०) = वर, दूल्हा।

व्याख्या—सारा संसार अज्ञान की निद्रा में सो रहा है। किन्तु सन्त जीवन की क्षणभंगुरता की चिंता तथा अल्पकालिक जीवन में प्रभु की साधना द्वारा उससे मिलन की व्यग्रता के कारण सुख की नींद नही सो पाता। काल सिर के ऊपर उसी प्रकार खड़ा है जैसे स्वागत-द्वार के सामने दूल्हा आकर खड़ा हो जाता है।

टिप्पणी—राजस्थान में विवाह के अवसर पर यह प्रथा रही है कि वर गृह-द्वार पर लगाए गए तोरण को खड्ग से स्पर्श कर अथवा काटकर अन्दर प्रवेश करता है।

अलंकार—उपमा।

आज कहै हरि काल्हि[4] भजौंगा, काल्हि[5] कहै फिरि काल्हि।
आजुहि काल्हि करंत रे[6], औसर जासी चालि॥ ५॥

शब्दार्थ—जासी=जाएगा।

व्याख्या—कबीर चेतावनी देते हुए कहते हैं कि हे जीव! तू आज कहता है कि ईश्वर का भजन कल से प्रारम्भ करूँगा और कल आने पर तू फिर अगले दिन के लिए टाल देता है। इस प्रकार आजकल करते हुए सारा अवसर ही समाप्त हो जाएगा।

कबीर[7] पल की सुधि नहीं, करै काल्हि[8] का साज।
काल अचिंता झड़पसी[9], ज्यौं तीतर कौं[10] बाज॥ ६॥

शब्दार्थ—साज=तैयारी। अंचिता=बेखबर, अचानक।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे जीव! एक पल का भी भरोसा नहीं है। पता नही किस क्षण क्या हो जाएगा और तू कल की तैयारी करता है अर्थात् भविष्य की योजनाएँ बनाता है। तुझ असावधान के ऊपर काल वैसे ही झपट्टा मारेगा, जैसे अचानक बाज पक्षी तीतर पर झपट्टा मारता है।

अलंकार—उपमा।

कबीर टुक टुक[11] चोषताँ, पल-पल गई बिहाइ।
जिउ[12] जँजाल न छाँड़ई, जम[13] दिया दमामाँ आइ॥ ७॥

---

१. अन्य-मोहि २. यु०, वि०-हैं वारनैं। ३. ना० प्र०-ज्यूँ तोरणि।
४. यु०-काल भजु। ५. यु०—कालि। ६ ना० प्र०-आज ही काल्हि करंतड़ाँ, यु०-आज काल्हि करता रहे। ७. यु०-पाव पलक। ८. यु०-काल। ९. यु०-अचानक मारिहै। १०. यु०-को। ११. ना० प्र०—टग-टग, यु०, वि०—टुग-टुग। १२. ना० प्र०-जीव, यु०, वि०-जीव जंजालो परि रहा। १३. यु०, वि०-में 'जम' नहीं है।

शब्दार्थ—टुक-टुक = टुकड़े-टुकड़े। चोघतां = चुगते हुए। विहाइ = बीत गया। जंजाल=प्रपंच, सांसारिक वंधन। दमामाँ=नगाड़ा।

व्याख्या—जिस प्रकार पक्षी एक-एक दाने को चुगते हुए समय व्यतीत कर देता है, उसी प्रकार जीव नाना प्रकार की योजनाओ का संपादन करते हुए बहुमूल्य जीवन का एक-एक क्षण नष्ट कर देता है। और जब यमराज कूच का डंका बजा देता है अर्थात् मत्यु निकट आ जाती है, तब भी अज्ञानी जीव सांसारिक वंधनो से मुक्त नही हो पाता।

मै अकेल[1] ए[2] दोइ जनां[3], छेती नाँही कोंइ[4]।
जे[5] जम आगे ऊबरौं, तो[6] जुरा पहूँचै[7] आइ ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—छेती = अन्तर। जुरा = जरा, वृद्धावस्था।

व्याख्या—कबीर कहते है कि जीव अकेला है और उस पर आक्रमण करनेवाले दो शत्रु हैं—जरा और मरण। वस्तुत. इन दोनों में कोई विशेष अन्तर नही है। यदि मरण से कुछ समय के लिए बच भी गए तो वृद्धावस्था अवश्य ही आ धमकती है। जीवन की क्षणभंगुरता से बचने का कोई उपाय नही है।

टिप्पणी—यु० प्रति में पहले चरण का अंतिम अंश इस प्रकार है—'सेरी नाही कोय'। 'सेरी' का अर्थ है—मार्ग। इसी अर्थ में कबीर ने अन्यत्र भी इस शब्द का प्रयोग किया है—'जा सेरी साधू गया, सो तो राखी मूँदि।'

दूसरे पाठ का भाव होगा कि जीव अकेला है, उसके शत्रु दो हैं—जरा और मरण। इनसे बचने का कोई मार्ग या उपाय नही है।

बारी बारी आपनीं[8], चले पियारे मित[9]।
तेरी बारी जीयरा[10], नेरी[11] आवै नित[12] ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—बारी बारी = समय से। नेरी = निकट।

व्याख्या—अपने-अपने समय से सभी प्रिय चल बसे। हे अबोध जीव! तेरे प्रस्थान का भी समय नित्य निकट आता जा रहा है।

दौ [13] की दाधी लाकड़ी[14], ठाढ़ी करै पुकार।
मति बसि परौं[15] लुहार कै, जारै[16] दूजो बार ॥ १० ॥

शब्दार्थ—दौ = (१) दावाग्नि, (२) भव-ताप। लुहार=(प्र० अ०) काल-चक्र।

---

१. ना० प्र०—अकेला। २. यु०, वि०—वह दो जनां। ३. ना० प्र०—जणा। ४. यु०, वि०—सेरी नाहीं कोय। ५. यु०, वि०—जो। ६ यु०, वि०—तो जरा वैरी होइ। ७. ना० प्र०—पहूँती। ८. ना० प्र०—आपणीं। ९ ना० प्रा०—म्यंत, तिवारी—मीत। १०. ना० प्र०—रे जिया, गुप्त—रे जीया। ११. ना० प्र०—नेडी, यु०—नियरै। १२. तिवारी—नीत। १३. तिवारी, यु०—धौं। १४. तिवारी—लाकरी। १५. ना० प्र०—पड़ौं। १६ ना० प्र०—जाले।

व्याख्या—दावानल से दग्ध लकड़ी आर्त्त-स्वर में पुकार कर कह रही है कि मेरी एक दुर्गति हो चुकी है। मैं जलकर लकड़ी से कोयला बन चुकी हूँ। हे प्रभु ! अब दूसरी दुर्गति यह मत करना कि लोहार के हाथ पड़ जाऊँ और कोयले के रूप में पुनः जलना पड़े।

व्यंजना यह है कि जीव भवताप से दग्ध होकर मरण को प्राप्त होता है। उसकी यह एक दुर्गति है ही। कहीं ऐसा न हो कि कालचक्र मे फँसकर उसे पुनः जन्म लेना पड़े और भव-ताप में कष्ट उठाना पड़े।

अलंकार—अन्योक्ति।

**जो ऊगै[1] सो आँथवै, फूलै सो कुम्हिलाय[2]।**
**जो चुनिया[3] सो ढहि पड़ै, जन्मे सो मरि जाय[4]॥ ११॥**

शब्दार्थ—ऊगै—उदय होता है। आँथवै=अस्त होता है। चुनिया=चुना जाता है।

व्याख्या—संसार में प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। जिसका आविर्भाव हुआ है, उसका तिरोभाव भी होगा। जिसका उदय होता है, उसका अस्त भी अवश्य होता है; जो फूलता है, वह मुरझाता भी है; जो भवन बनते है, वे काल पाकर ढह भी जाते हैं और जिसका जन्म होता है, उसका मरण भी अवश्यंभावी है।

**जो[5] पहिरा[6] सो फाटिसी, नाम[7] धरा सो जाइ।**
**कबीर[8] सोई तत्त गहि, जौ[9] गुर दिया बताइ॥ १२॥**

व्याख्या—जो वस्त्र पहना जाता है, वह एक-न-एक दिन अवश्य फट जाएगा। नाम, रूप आदि सभी जगत् के पदार्थ अनित्य हैं। अतः सतगुरु ने जिस नित्य तत्त्व का उपदेश दिया है, उसी को ग्रहण करो। प्रकृति के सभी तत्त्व क्षर हैं, भीतर जो अक्षर पुरुष है, वही हमारा श्रेय होना चाहिए।

**निधड़क बैठा रांम बिन, चेति[10] न करै पुकार।**
**यहु तन जल का बुदबुदा, बिनसत नाहीं बार॥ १३॥**

शब्दार्थ—निधड़क = निश्चिन्त। बार = विलम्ब, समय।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे अज्ञानी जीव ! तू चेत कर राम का स्मरण नहीं

---

१. ना० प्र०—ऊग्या। २ ना० प्र०—फूल्या सो कुमिलाइ। ३. ना० प्र०—चिणियाँ, यु०—चुनिए। ४. ना० प्र०—जो आया सो जाइ। ५ तिवारी—जो दीसैं सो बिनसिहै, यु०—जो पहिरा सो फाटिया। ६ ना० प्र०—पहर्‌या। ७ ना० प्र०—नाँव धर्‌या, यु०—जो खाया सो जाय। ८. यु०—कबीर रामानंद का, दीया ही रहि जाय। ९ तिवारी—सतगुर। १० ना० प्र०, गुप्त—चेतनि, यु०—चेत न करौ।

करता। उसके विना निश्चिन्त होकर कैसे वैठा हुआ है ? जिस शरीर का तुझे गर्व है, वह जल के वुलवुले के समान है जिसके नष्ट होने में देर नही लगती।

अलंकार—रूपक।

**पानी[1] केरा वुदवुदा, अस मानुस की जाति[2]।**
**देखत ही छिपि जाइंगे[3], ज्यों तारे[4] परभाति ॥ १४ ॥**

शव्दार्थ—जाति = जन्म, वर्ग। परभाति = प्रभात, प्रातःकाल।

व्याख्या—प्राणिमात्र जिसने जन्म लिया है, वह पानी के वुलवुले के समान नश्वर है। जैसे प्रातःकाल देखते-देखते नक्षत्र अस्त हो जाते है, वैसे ही मनुष्य आदि प्राणी भी अल्पकाल में विनाश को प्राप्त होते है।

अलंकार—उपमा।

**कवीर यहु जग कुछ नहीं[5], खिन खारा खिन मीठ[6]।**
**कालिह जु वैठा माड़िया[7], आज मसांनां[8] दीठ ॥ १५ ॥**

शव्दार्थ—खारा=(ला० अ०) दुःख। मीठ=(ला० अ०) सुख। माड़िया = मंडप, उत्सव। मसांनां = श्मशान।

व्याख्या—कवीर कहते है कि यह जीवन निस्सार है। इसमें यदि किसी क्षण सुख है तो दूसरे क्षण दुःख है। जो कल मंडप में वैठा हुआ उत्सव मना रहा था, वह आज श्मशान में पहुँचा हुआ दिखाई पड़ता है। सारा जीवन क्षणभंगुर है।

**कवीर मन्दिर आपनें[9], नित उठि करती[10] आलि।**
**मड़हट देखें[11] डरपती, चौड़ै दीया[12] जालि ॥ १६ ॥**

शव्दार्थ—आलि = शृंगार, 'आलि' शब्द 'आल' से वना है, आल एक पौधा होता है, जिससे रंग वनता है। इसी से लाक्षणिक अर्थ 'शृंगार' आया है। ( दे०-वृहत् हिन्दी कोश, (पृ० १५५) मड़हट = मरघट, श्मशान। जालि = जला दी गई।

व्याख्या—इस साखी में जीव को एक सुन्दरी स्त्री के रूप में चित्रित किया गया है जो अपने महल में प्रतिदिन नाना प्रकार के शृंगार से अपने को सजाती है और श्मशान देखकर कांप उठती है। उसका तथाकथित सुन्दर शरीर एक दिन खुले चौड़े मैदान में जला दिया जाता है। इसी प्रकार यह जीवन क्षणभंगुर है।

अलंकार—अन्योक्ति।

---

१. ना० प्र०-पाँणी। २. ना० प्र०-इसी हमारी जाति। ३ ना० प्र०—एक दिनाँ छिप जाँहिंगे। ४. ना० प्र०-तारे ज्यूँ, गु०-ज्यूँ तारा। ५. गु०, वि०—जीवन कुछ नहीं। ६. ना० प्र०—पिन पारा पिन मीठ। ७. तिवारी—अलहजा मैड़िया, गु०-अलहजा मारिया। ८. ना० प्र०-मसाणाँ, गुप्त-मसाणाँ। ९ ना० प्र०-आपणैं। १०. गु०, वि०-करता। ११. ना० प्र०-देष्याँ, गु०, वि०-देखो डरपता। १२. ना० प्र०-दीन्ही, गुप्त-सो चौड़ै दीन्हा जालि।

मन्दिर माँही झलकती[1], दीवा[2] की सी[3] जोति।
हंस बटाऊ चलि गया, काढ़ौ[4] घर की छोति ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—दीवा=दीपक। बटाऊ=पथिक (ला० अ०) अतिथि। हंस=(प्र० अ०) जीवात्मा, प्राण। छोति=अपवित्र वस्तु।

व्याख्या—इस साखी में भी जीव के लिए नारी का रूपक लिया गया है। जो सुन्दरी नारी दीपक की ज्योति के समान महल में सौंदर्य की प्रभा बिखेरती थी, प्राण रूपी अतिथि के चले जाने पर वही इतनी अपवित्र और घृणित समझी जाने लगी कि लोग कहते हैं कि इस छूत को शीघ्र से शीघ्र घर से निकालकर श्मशान ले जाओ।

ना० प्र० की प्रति में 'झलकती' के स्थान पर 'झबूकती' पाठ है। इसका अर्थ है—चमकती।

अलंकार—'हंस बटाऊ' में रूपक।

कबीर ऊँचा धौलहर[5], माँटी चित्री पौलि।
एक राम के नाँव[6] बिन, जँम पाड़ैगा रौलि ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—धौलहर=धवलगृह, प्रासाद। पौलि=(सं०) प्रतोली, मुख्यद्वार। रौलि=तमाचा मारना (ला० अ०) प्रहार करना।

व्याख्या—तेरा यह हृष्ट-पुष्ट शरीर रूपी धवलगृह जिसकी ड्योढी रंगे-बिरंगे मिट्टी के चित्रों से सुसज्जित की गई है अर्थात् जिसका नाना प्रकार से शृंगार किया गया है, एक दिन यमराज के प्रहार का शिकार बन जाएगा। इसलिए इस शरीर से अनुराग व्यर्थ है। हे जीव! तू अपना सारा अनुराग राम-नाम के प्रति रख। इसी से तेरा कल्याण होगा। क्षणभंगुर शरीर को सुसज्जित करना निरर्थक है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति, विनोक्ति।

कबीर[7] कहा गरबियो, काल गहे कर केस।
नाँ जानैं कहँ[8] मारिसी, कै घर कै परदेस ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—गरबियो=गर्व करता है। मारिसी=मारेगा।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! तू अपने शरीर और शक्ति पर व्यर्थ गर्व करता है। तुझे पता नहीं कि काल तेरे केश पकड़े हुए है अर्थात् तू उसके हाथ में है। वह न जाने कहाँ तुझे धर पटकेगा—घर में या परदेश में अर्थात् तेरी मृत्यु किसी क्षण, किसी स्थान पर हो सकती है।

---

१. ना० प्र०—माँहि झबूकती, गु०—माही झमकती। २. गु०—दीपक की सी। ३. ना० प्र०—कैसी। ४. तिवारी—अब काढौ। ५ ना० प्र०—ऊँचा मंदर धौलहर। ६. गुप्त—नाउँ। ७ यह साखी 'चितावणी को अंग' (१२ १२) में भी है। ८ ना० प्र०—जाणौं कहाँ, गुप्त—जानूं कहाँ।

कबीर जंत्र न बाजई, टूटि गए[1] सब तार।
जंत्र बिचारा क्या करै, चला बजावनहार[2] ॥ २० ॥

शब्दार्थ—जंत्र = वाद्य, (प्र० अ०) शरीर। तार = नाड़ी-मंडल जिसके द्वारा ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ प्रवृत्त या क्रियाशील होती हैं। बजावनहार = बजानेवाला, (प्र० अ०) प्राण।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि यह शरीर रूपी वाद्य अब नहीं बज सकता अर्थात् यह क्रियाहीन हो गया है, क्योकि इसके सब तार टूट गए हैं अर्थात् इसका नाड़ी-मंडल बेकार हो गया है। इसमें शरीर रूपी वाद्य का दोष नहीं है, क्योंकि इसको क्रियाशील करनेवाला प्राणतत्त्व रूपी वादक इसे छोड़कर अन्यत्र चला गया है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

धवणि धवंती[3] रहि गई, बुझि[4] गए अंगार।
अहरनि[5] रहा ठमूकड़ा, जब उठि चला[6] लुहार ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—धवणि=धौंकनी, (प्र० अ०) श्वास-प्रश्वास। धवंती=धौंकती हुई, चलती हुई। अहरनि=निहाई (प्र० अ०), शरीर। ठमूकड़ा=स्थिर, क्रियाशून्य। लुहार=(प्र० अ०) प्राण, जीवात्मा। अंगार=(प्र० अ०) जीवनतत्त्व।

व्याख्या—यह साखी भी जीवन की क्षणभंगुरता का संकेत करती है। यहाँ शरीर के सभी उपमान लोहार की भट्ठी से लिये गये हैं। जब तक लोहार बैठा काम करता रहता है, तब तक उसकी धौंकनी चालू रहती है, अंगारे जाज्वल्यमान रहते हैं और उसकी निहाई पर लोहे का घन चलता रहता है। परन्तु जब वह कार्य बंद करके चलता है, तब धौंकनी का कार्य बंद हो जाता है, अंगारे ठंढे पड़ जाते हैं और उसकी निहाई क्रिया-शून्य पड़ी रहती है।

इसी प्रकार लोहार रूपी जीवात्मा के शरीर में रहते हुए श्वास-प्रश्वास रूपी धौंकनी चलती रहती है, उसके भीतर जीवनतत्त्व रूपी अंगारे की ऊष्णता बनी रहती है और शरीर रूपी निहाई क्रियाशील रहती है। लेकिन जब जीवात्मा इस शरीर को छोड़कर प्रयाण करता है, तब श्वास रूपी धौंकनी हवा देते-देते बंद हो जाती है, जीवनतत्त्व की गर्मी समाप्त हो जाती है और यह शरीर क्रियाशून्य होकर बेकार हो जाता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

पंथी ऊभा पंथ सिरि[7], बगुचा बाँधा[8] पूठि।
मरना[9] मुँह आगै खड़ा, जीवन[10] का सब झूठ ॥ २२ ॥

---

१. गु०—गया। २. ना० प्र०—चले बजावणहार। ३. गु०—धूनि धवती, वि०—धंमन धमती। ४. गु०—तब बुझिया, वि०—बुझि गया। ५. गु०, वि०—अहरनि का टमगा रहा, ना० प्र०—अहरणि रह्या। ६. ना० प्र०—चले। ७. गु०, वि०—सिर। ८ ना० प्र०—बुगचा बाँन्ध्या, तिवारी—बगुचा बंधा। ९. ना० प्र०—मरणाँ। १०. ना० प्र०—जीवण।

शब्दार्थ—पंथी=यात्री (प्र० अ०) जीवात्मा। ऊभा = खड़ा हुआ, प्रस्तुत हुआ। बगुचा=गठरी ( प्र० अ० ) कार्यों का लेखा। पूठि=पीठ। मरना = मृत्यु।

व्याख्या—जीवात्मा रूपी पथिक कर्मों की गठरी अपनी पीठ पर बाँधे हुए जीवन-यात्रा के लिए प्रस्तुत खड़ा है। किन्तु वह देखता है कि काल उसके सामने खड़ा है। इसलिए उसे सारा जीवन ही निस्सार और निरर्थक प्रतीत होता है।

**यहु जिव आया दूर तैं[1], अजौं भि जासी दूरि[2]।**
**बिच कै बासै रमि[3] रहा, काल रहा सिर[4] पूरि॥ २३॥**

शब्दार्थ—बासै = ठहराव, मंजिल।

व्याख्या—यह जीव बहुत दूर से आया है अर्थात् अनेक योनियों मे भ्रमण करता हुआ इस अवस्था को प्राप्त हुआ है। उसे अभी लम्बी यात्रा करनी शेष है, किन्तु वह बीच मे ही इस क्षणिक जीवन की मजिल मे अटक गया है। वह सांसारिक विषयों में लिप्त होकर अपने स्वरूप को भूल गया है। उसे यह सुधि नही है कि काल उसके सिर पर मडरा रहा है और इसलिए क्षणिक वासनाओं में लिप्त न होकर अपनी वास्तविक नियति अर्थात् जन्म-मरण से मुक्ति के लिए साधना करनी चाहिए।

**राँम कहा तिन[5] कहि लिया, जरा[6] पहूँची आइ।**
**लागी मन्दिर द्वार तैं[7], अब क्या काढ़ा जाइ॥[8] २४॥**

शब्दार्थ—जरा=वृद्धावस्था।

व्याख्या—जब तक शरीर में बल रहता है, तब तक मनुष्य राम-नाम का जप कर ले तो कर ले, अन्यथा वृद्धावस्था आने पर साधना करना संभव नही है। जब मन्दिर के द्वार तक आग पहुँच गयी, तब भीतर रखी वस्तुओं को कैसे निकाला जा सकता है?

भाव यह है कि जब मृत्यु निकट आ गयी, कण्ठ अवरुद्ध हो गया, तब राम का नाम कैसे लिया जा सकता है?

अलंकार—दृष्टांत।

**बरिया बीती बल गया[9], केस पलटि भए और[10]।**
**बिगड़ी[11] बात न बाहुड़ै, कर[12] छूटे नहिं ठौर॥ २५॥**

शब्दार्थ—बरिया = बेला, समय। बाहुड़ै = बहुरना, लौटना।

---

१. ना० प्र०—थैं। २. यु०, वि०—जाना है बहु दूरि। ३. यु०, वि०—बसि गया। ४. ना० प्र०—रह्या सर। ५ ना० प्र०—कह्या तिनि, यु०, वि०—कहा जिन। ६. ना० प्र०—जुरा पहूँती। ७. ना० प्र०—मदिर लागै द्वार थैं, यु०, वि०—मदिर लागी द्वार सों। ८. ना० प्र०—तब कुछ काढ़्णाँ न जाइ, यु०—अब कछु कही न जाइ। ९ हनु०—बरिया बीते बल घटे, यु०, वि०—बिरिया बीती बल घटा। १० ना० प्र०—बरन पलट्या और। ११ हनु०—बिगरा काज सँभालि ले। १२ ना० प्र०—कर छिटकाँ कत ठौर, वि०—करि छूटन की ठौर, यु०—करि छूटन नहिं ठौर।

व्याख्या—साधना का सयय बीत गया। शरीर में वल घट गया। केशों का रंग बदलकर कुछ और हो गया अर्थात् श्वेत हो गया। वृद्धावस्था पूरे तौर से आ गयी। बात विगड़ जाने पर फिर नही ठीक हो पाती। समय वीत जाने पर कार्य सिद्ध नही हो पाता। यदि कोई चीज़ हाथ से निकल गयी तो फिर उसका कहाँ ठिकाना लग सकता है ?

पूरी साखी का भाव यह है कि जब तक शरीर में वल रहता है, तभी तक साधना हो सकती है। समय बीत जाने पर कुछ नही हो सकता है।

**बरिया वीती बल गया[1], औरौ[2] बुरा कमाय।**
**हरि जिन छाँड़ै हाथ तैं[3], दिन नियरा[4] ही आय ॥ २६ ॥**

व्याख्या—साधना का अवसर चला गया। शरीर की शक्ति क्षीण हो गयी। तूने कुकर्मो के द्वारा और पाप कमाया। तेरे निधन का दिन निकट आ गया। अब भी चेत जा। प्रभु को हाथ से मत छोड़। भगवान का आश्रय ले।

**कबीर[5] हरि सों[6] हेत करि, कूड़ै[7] चित्त न लाय[8]।**
**बाँध्यो[9] बारि खटीक कै, ता पसु केतिक आय ॥ २७ ॥**

शब्दार्थ हेत = प्रेम। कूड़ै = व्यर्थ। बारि=द्वार। खटीक=कसाई, बधिक। आय= आयु, उम्र।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे जीव ! तू प्रभु से प्रेम कर। व्यर्थ की वासनाओं को चित्त में न आने दे। सांसारिक विषयो से विरक्त होकर प्रभु से अनुराग कर। जिस प्रकार बधिक के द्वार पर बँधे हुए पशु की आयु का कोई ठिकाना नही होता। वह कब काट दिया जायगा, यह निश्चित नही है। उसी प्रकार हे जीव ! तू यम के द्वार पर बँधा हुआ है। तेरा अन्त समय कब आ जाय, पता नही ? इसलिए इस जीवन में प्रभु का स्मरण कर।

अलंकार—दृष्टान्त।

**विष[10] के वन मै घर किया, सरप[11] रहे[12] लपटाइ।**
**तातैं[13] जियरै डर गह्या, जागत रैनि[14] बिहाइ ॥ २८ ॥**

शब्दार्थ—बिहाइ = बीतती है।

व्याख्या—मैंने विष के वन में अपना निवास स्थान बनाया हे। उस वन के वृक्षों

---

१ हनु०, यु०, वि०–बिरिया वीती वल घटा। २ ना० प्र०—अरु। ३ अन्य–हरिजन छाँडा हाथ ते। ४. ना० प्र०–नेडा, यु०, वि० —नीरा ही। ५ हनु०, यु०–कबिरा। ६. ना० प्र०–सूँ। ७. हनु०, वि०–कोरे। ८. ना० प्र०–लाव। ९. ना० प्र०—बाँध्या बार षटीक कै, तापसु किती एक आव। १०. तिवारी–बिख। ११. गुप्त–श्रप। १२ हनु०, यु०–रहा। १३. ना० प्र०–तायैं, हनु०–ताके डर जिव गहि रहा। १४. ना० प्र०–रैंणि।

में चारो ओर सर्प लिपटे हुए हैं। इससे हृदय भयभीत रहता है और रात्रि में नींद नहीं आती। सारी रात जागते हुए बितानी पड़ती है।

इस साखी में वन के रूपक द्वारा कबीर ने यह भाव व्यक्त किया है कि यह संसार विषैले वन के समान है, जिसमें विषय के सर्प विद्यमान हैं। इसलिए जीव निश्चिन्त होकर इस वन में जीवन नही व्यतीत कर पाता।

अलंकार— रूपकातिशयोक्ति।

कबिरा[1] सब सुख राम है, औरहि[2] दुख की रासि।
सुर नर मुनिजन[3] असुर सब[4], पड़े[5] काल की पासि[6] ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—पासि = पाश, बंधन।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे जीव! राम ही परमानन्द है। तूने संसार में जिसे सुख या आनन्द समझ रखा है, वे सब दु.खो की राशि हैं। जन्म-मरण का चक्र ऐसा है जिससे किसी को छुटकारा नही मिलता। काल के पाश मे देवता, मनुष्य, मुनि और राक्षस सभी बँधे हुए हैं। इसलिए यदि तू यह चाहता है कि अब जन्म-मरण के चक्र में न पड़े अर्थात् सदा के लिए उनसे मुक्त हो जाय, तो राम की भक्ति कर।

काची काया मन अथिर, थिर थिर करम[7] करंत।
ज्यों-ज्यों[8] नर निधड़क फिरै, त्यो-त्यों[9] काल हसंत ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—काची = कच्ची, नाशवान। काया=शरीर। अथिर=अस्थिर, चंचल। थिर=स्थिर। निधड़क=निश्चिन्त।

व्याख्या—मानव का शरीर कच्चे घड़े के समान अस्थिर है। उसका मन भी चंचल है। फिर भी आश्चर्य यह है कि मानव सभी कार्य अपने को स्थिर समझकर करता है। वह जितना ही निश्चिन्त होकर जीवनयापन करता है, काल उतना ही उसकी मूर्खता पर हँसता है।

अलंकार—विरोधाभास।

रोवनहारे[10] भी मुए, मुए जलावनहार[11]।
हा हा करते ते मुए, कासों[12] करौं पुकार ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—कासो=किससे।

व्याख्या—जो मृत्यु को प्राप्त हो गया, वह तो मरा ही, जो उसके शोक में रोते थे, वे भी मर गये और जो उसे जलाने के लिए ले गये थे वे भी काल के ग्रास बन गये।

---

१ ना० प्र०—कबीर। २ ना० प्र०—और दुखाँ। ३. ना० प्र०—मुनियर। ४ हनु०, यु०—सुर। ५ यु०—परे। ६. हनु०, यु०—फासि। ७ ना० प्र०—काम। ८. ना० प्र०—ज्यूँ-ज्यूँ। ९ ना० प्र०—त्यूँ-त्यूँ। १०. ना० प्र०—रोवणहारे। ११ ना० प्र०—जलावणहार। १२. ना० प्र०—कासनि।

जो अपने प्रिय की मृत्यु के दु:ख में क्रंदन करते थे, वे भी काल-कवलित हो गये। काल से कोई वच न सका। इसलिए काल से वचने के लिए किससे सहायता की याचना करूँ?

जिनि हम जाए ते मुए, हम भी चालनहार[1]।
हमरैं[2] पाछै पूंगरा तिन भी बाँधा भार॥ ३२॥
—७२५॥

शब्दार्थ—जाए=पैदा किया। पूंगरा=(सं०—पोगंड)—पाँच से दस वर्ष की अवस्था का वालक।

व्याख्या—इस साखी में कवीर ने अत्यन्त सुन्दर ढंग से तीन पीढ़ियों की विनश्वरता के द्वारा यह दिखलाया है कि कोई भी प्राणी काल के चंगुल से वच नहीं सकता।

वह कहते हैं कि जिन्होंने हमको पैदा किया था वे संसार से चल वसे। हम भी यहाँ से चलने की तैयारी में हैं और हमारी भावी संतति ने भी अपने कर्मों की गठरी के भार को वाँध रखा है जिससे उसका भी यहाँ से प्रयाण निश्चित है। काल से कोई वच नहीं सकता। उस चक्र से वचने का एक ही उपाय है—राम-नाम का जप।

●

---

१. ना० प्र०—चालणहार। २. ना० प्र०—जो हमको आगैं मिले, तिन भी बँध्या भार।

## ( ४७ ) सजीवनि को अंग

**जरा[१] मीच व्यापै नहीं, मुवा न सुनिए[२] कोइ।**
**चलि कबीर तेहि[३] देस[४] कौं, जहँ बैद विधाता होइ[५] ॥ १ ॥**

शब्दार्थ—मुवा=मृत। विधाता=भगवान। मीच=मृत्यु।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे जीव! उस देश को चल, जहाँ वृद्धावस्था तथा मृत्यु की गति नही हैं, जहाँ किसी ने मरण का नाम तक नही सुना है तथा जहाँ स्वयं प्रभु ही वैद्य के रूप मे विद्यमान है। यदि कोई रोग हुआ भी तो स्वयं प्रभु वैद्य हैं। वह असाध्य रोग से भी बचा सकते हैं।

टिप्पणी—इस देश को कबीर-पंथ मे 'अमरलोक' या 'अमरपुर' कहते हैं। सहज अवस्था ही वह देश हैं, जहाँ जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाता है। उसके समाप्त होने पर जरावस्था का कोई प्रश्न ही नही रह जाता।

**कबीर जोगी बनि[६] बसा, खनि खाया[७] कँद मूल।**
**नाँ जानौं[८] किस जड़ी तैं[९], अमर भया अस्थूल[१०] ॥ २ ॥**

शब्दार्थ—बनि=वन मे। खनि=खोदकर। अस्थूल = सूक्ष्म।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि योगी वन में बसा और उसने खोदकर कंद-मूल का सेवन किया। न जाने किस जडी से वह सूक्ष्म और अमर हो गया।

टिप्पणी—इस साखी में 'वन' साधना का प्रतीक है। योगी साधना के वन में रहता है। कंद-मूल' खाने में विभिन्न यौगिक क्रियाओ की व्यंजना है। 'नाँ जानी किस जडी तैं' में संजीवनी बूटी का संकेत है। यह संजीवनी बूटी वह सहजावस्था है अथवा उस अमर-लोक की स्थिति है जिसमें जीव जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

**कबीर हरि[११] चरणौं[१२] चला, अहं[१३] गई सब छूटि।**
**गगन मंडल आसन[१४] किया, काल रहा सिर कूटि[१५] ॥ ३ ॥**

शब्दार्थ—गगन मंडल = सहस्रार।

---

१. ना० प्र०—जहाँ जुरा मरण। २ ना० प्र०—सुणिए। ३. हनु०,' वि०—त्रा देस को। ४. ना०प्र०—देसडै। ५ हनु०, वि०, यु०—जँह वैद रमैया होय। ६ हनु०, यु०—वन। ७ ना० प्र०—षणि खाए। ८ ना० प्र०—जाणौं। ९. ना० प्र०—थैं, अन्य—से। १० ना० प्र०—भए असथूल। ११. तिवारी, यु०, हनु०—तौ हरि पै चला, वि०—तौ पिव पै चला। १२. गुप्त—चरनूं। १३. ना० प्र०—माया मोह थैं टूटि। १४ ना० प्र०—आसण। १५ ना० प्र०—गया, अन्य—रहा मुख मोरि।

व्याख्या—कबीर हरि का उपासक हो गया। उसका अहंभाव समाप्त हो गया। उसकी चेतना सहस्रार में स्थित हो गयी, तब बेचारा काल असहाय होकर अपना सिर धुनने लगा कि हाय अब तो यह प्राणी मेरे मरणपाश से मुक्त हो गया।

**यहु मन पटकि पछाड़ि[1] लै, सब आपा मिटि जाइ।**
**पंगुला होइ पिउ पिउ करै[2], पीछे काल न खाइ॥ ४॥**

शब्दार्थ—आपा = अहंभाव। पगुंला=पंगु।

व्याख्या—हे जीव! इस चंचल मन को, जो बराबर विषयो की ओर दौड लगाता रहता है, तू पटककर पछाड़ दे। उसके ऊपर तू पूर्ण रूप से इस प्रकार अधिकार प्राप्त कर ले कि उसका अहंभाव समाप्त हो जाय। तब वह पंगु हो जायेगा अर्थात् विषयो की ओर उसकी दौड़ समाप्त हो जायेगी और उसके लिए दूसरा विकल्प प्रभु-स्मरण मात्र रह जायेगा। ऐसी स्थिति में वह काल के चंगुल से मुक्त हो जायगा।

**कबीर मन तीखा[3] किया[4], लाइ बिरह खरसान[5]।**
**चित चरणूं मै चुभि रह्या[6], तब[7] न काल का बान[8]॥ ५॥**

शब्दार्थ - तीखा = तीक्ष्ण, नुकीला। खरसान = तीक्ष्ण शाण, अस्त्रो में तेज धार करनेवाला यंत्र, मसकला।

व्याख्या—विरह की तीव्र अनुभूति से ही मिलन की उत्कण्ठा प्रबल होती है, अभाव की अनुभूति भाव की ओर जाने के लिए विवश करती है। कबीर कहते है कि मैंने विरह रूपी मसकले पर अपने मन को ऐसा तीक्ष्ण किया कि वह जाकर प्रभु के चरणों में चुभ गया अर्थात् उनमे पूर्ण रूप से अनुरक्त हो गया। तब वहाँ काल का बाण प्रभावकारी नही हो सकता। प्रभु का चरण काल के अधिकार-क्षेत्र से परे है।

अलंकार—रूपक।

**तरवर तासु बिलंबिए[9], बारह मास फलंत।**
**सीतज छाया सघन[10] फल, पंखी केलि करंत॥ ६॥**

शब्दार्थ—तरवर = वृक्ष। बिलंबिए = अवलम्बन करना चाहिए।

व्याख्या—कबीर कहते है कि ऐसे वृक्ष का आश्रय लेना चाहिए जो बारहों महीने फल देता है, जिसकी छाया शीतल है जिसमें अत्यधिक फल लगे है और जिस पर पक्षी क्रीड़ा करते रहते है।

---

१. तिवारी--फटकि पछोरि। २ ना० प्र०--पंगलु हैं पिव पिव करैं। ३ ना० प्र०--तीषा। ४. गुप्त--कीया। ५ ना० प्र०--बिरह लाइ परसाँड। ६. तिवारी--चरनां सौं चुहटिया, गु०, त्रि०- चरनों सों चपटिया। ७ ना० प्र०--तहाँ नहीं काल का पाँण। ८. तिवारी--पांन। ९. हनु०, त्रि०, गु०--बिलंबिया। १० ना० प्र० -गहर, तिवारी--गहिर।

शब्दार्थ—हाटि = बाजार में। परखनहारा = परीक्षण करनेवाला, मूल्य आँकने-वाला। बाहिरा=बिना।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैंने एक आश्चर्य देखा कि हीरा बाजार में बिक रहा है। सच्चे पारखी के अभाव में वह कौडी के मोल में बिक रहा है।

विशेष—'हीरा' प्रभु-भक्ति का प्रतीक है। 'हाट' संसार है। इस संसार में सच्ची प्रभु-भक्ति को जाननेवाले बहुत कम लोग हैं। परिणाम यह होता है कि सच्ची भक्ति के स्थान पर बाह्याचार एवं पाखंड का आश्रय लिया जाता है। यही हीरे का कौड़ी मोल बिकना है।

अलंकार—अन्योक्ति।

कबीर गुदरी बीखरी[1], सौदा गया बिकाइ।
खोटा बाँधा गाँठरी[2], इब कछु लिया न जाइ[3] ॥ ३ ॥

शब्दार्थ - गूदरी = ( प्र० अ० ) शरीर। बीखरी = बिखर गया, नष्ट हो गया। इब = अब।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि शरीर रूपी गुदडी जीर्ण हो गई। सत्कर्म रूपी सौदे का फल मिल चुका। असत् कर्म रूपी खोटे सौदे को जीव अपनी गठरी में बाँधे जा रहा है। उस खोटे सौदे से क्या प्राप्ति हो सकती है अर्थात् अब उससे अच्छा फल नही मिल सकता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

पैंड़े मोती बीखरे[4], अंधा निकसा[5] आइ।
जोति बिना जगदीस की, जगत उलंघा[6] जाइ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—पैडे = मार्ग मे। मोती = ( प्र० अ० ) ब्रह्मानन्द। उलंघा=लाँघकर, उपेक्षा कर।

व्याख्या—ब्रह्मानन्द अथवा कबीर के शब्दों में राम-रस रूपी मोती बिखरे हुए हैं। किन्तु उस रास्ते पर आनेवाले जीव अज्ञान से अभिभूत अंधे हैं। प्रभु की ज्ञान-ज्योति के बिना सारा संसार उस परमानन्द रूपी मोती को लाँघकर अर्थात् उसकी उपेक्षा कर निकल जाता है।

भाव यह है कि राम-रस रूपी आनन्द अपने भीतर ही विद्यमान है। किन्तु अज्ञान रूपी अन्धकार के कारण हम उसका अनुभव नही कर पाते।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

---

१ ना० प्र०--गुदडी बीषरी। २. ना० प्र०--बांध्या गाँठड़ी। ३ यु०, वि०, हनु०--खरा लिया नहिं जाय। ४. ना० प्र०--बीखर्‌या, त्रि०, यु०--बीखरा, हनु०--बीखरी। ५. ना० प्र०--निकस्या। ६. ना० प्र०—उलंध्या तिवारी—उलवै, अन्य—उलादा।

कबीर[1] यहु जग आँधरा[2], जैसी अँधी गाइ।
बछरा[3] था सो मरि गया, ऊभी चांम चटाइ ॥ ५ ॥
—७३७ ॥

शब्दार्थ—ऊभी = खड़ी। चांम = चमड़ा, खाल।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि यह संसार उसी प्रकार अंधा है, जैसे वह गाय अंधी होती है जो कि बछड़े के मर जाने पर भी उसके चाम को खड़ी-खड़ी चाटती रहती है।

टिप्पणी—जब गाय का बछड़ा मर जाता है तो ग्वाले उसकी खाल में भूसा भरकर उस आकृति को गाय के निकट रख देते हैं। गाय भ्रमवश उसे अपना वास्तविक बछड़ा समझकर चाटती रहती है। वह बाहरी खाल को ही बछड़ा समझती है। उसके भीतर की वास्तविकता का उसे पता नहीं रहता। इस प्रकार मोहांध जीव इस जगत् के भीतर निहित राम-रस रूपी सारभूत आनंद को न पहचानते हुए विषय-वासना रूपी चाम में ही आसक्त रहता है।

अलंकार— भ्रांतिमान, दृष्टान्त।

●

---

१. यु०—कबिरा ये। २. ना० प्र०—अँधला। ३. ना० प्र०—बछा।

## ( ४९ ) पारिख को अंग

टिप्पणी—इस अंग में कबीर ने जीवन के परम इष्ट या अर्हा ( Value ) की ओर संकेत किया है। भौतिक पदार्थों के चाकचिक्य से तो प्राकृत जन आकृष्ट होते हैं। परन्तु प्रभु के प्रेम या भक्ति के मर्म के पारखी बहुत कम होते हैं। अतः उस ओर सामान्य जन आकृष्ट नही होते। उसके मर्म को जाननेवाले कुछ इने-गिने लोग ही उसकी ओर आकृष्ट होते है। आध्यात्यिक गुण को पहचाननेवाले विरले ही होते हैं। कबीर ने आध्यात्मिक अर्हा ( spiritual value ) को ही श्रेष्ठ माना है और उसी के प्रति साधकों का ध्यान आकृष्ट किया है।

> जब गुन को[1] गाहक मिलै, तब गुन[2] लाख बिकाइ।
> जब गुन[3] को गाहक नहीं, ( तब ) कौड़ी बदलै जाइ ॥ १ ॥

शब्दार्थ—पारिख = पारखी।

व्याख्या—जब गुण को परखनेवाला मिलता है, तब गुणवान वस्तु लाखो के मोल में बिकती है। जब गुण का पारखी ही नही होता, तब वही वस्तु नगण्य समझी जाकर कौड़ी के मूल्य में बिकती है।

अलंकार—अन्योक्ति।

> कबीर लहरि समंद की, मोती बिखरे आइ।
> बगुला मंझन जांनई, हंसा चुनि चुनि खाइ ॥ २ ॥

शब्दार्थ—मझन=माँजा, मादक-फेन।

व्याख्या—कबीर कहते है कि समुद्र की लहर किनारे पर मोती बिखेर देती है। अज्ञानी बगुला फेन समझकर उसकी उपेक्षा करता है। किन्तु विवेकी हंस उसे चुन-चुनकर खा लेता है।

भाव यह है कि जीवन-सागर यदा-कदा सद्गुरु रूपी मोती प्रत्युपस्थापित करता है। किन्तु अज्ञानी जीव उसके माहात्म्य को न समझकर उसकी उपेक्षा करते है, जब कि विवेकी, पारखी जीव उससे लाभ उठाते है।

अलंकार—अन्योक्ति।

---

१. ना० प्र०—गुण कूँ। २. ना० प्र०—गुण। ३ ना० प्र०—गुण।

हरि हीरा जन जौहरी, ले ले मॉडिय[1] हाटि।
जब[2] रे मिलैगा पारिखू[3], तब हीरां की साटि ॥ ३ ॥
—७४० ॥

शब्दार्थ—मांडिय = मंडित करना, सजाना। हाटि = बाजार में। पारिखू=पारखी। साटि = सट्टा, सौदा।

व्याख्या—प्रभु जाज्वल्यमान, बहुमूल्य हीरे के समान है। उसका वास्तविक भक्त जौहरी के समान है जो उसकी ज्योति को पहचानता है और उसे ग्रहण कर संसार रूपी हाट में मंडित करता है। जब कोई उसके मर्म को पहचाननेवाला मिलेगा, तभी उस हीरे का सौदा हो सकता है अर्थात् पारखी जन ही प्रभु के भक्त हो सकते हैं।

अलंकार—रूपक।

---

१. तिवारी, यु०—लै-लै मांडी। २ ना० प्र०—जबर। ३. ना० प्र०--पारिपू, यु०, हनु०—पारखी।

# ( ५० ) उपजणि को अंग

यहाँ 'उपजणि' से तात्पर्य है--भगवद्भक्ति की उत्पत्ति ।

नांव न जानैं[1] गाँव का, भूला मारगि जाइ[2] ।
कल्हि गड़ै जो कांटवा,[3] अगमन कस न खुराइ[4] ॥ १ ॥

शब्दार्थ–उपजणि=उत्पत्ति । खुराइ=दूर रहना, अलग करना ।

व्याख्या–आध्यात्मिक पथ का ऐसा पथिक जो अपने गन्तव्य स्थान का नाम नही जानता अर्थात् जिसे अपने लक्ष्य का पता नही है और साधना के भ्रान्त-पथ पर चल पड़ता है, उसे अत्यंत भयंकर वाधाओं का सामना करना पड़ता है। उसके मार्ग में जो कांटे आनेवाले है अर्थात् वाधाएँ उपस्थित होनेवाली है, उनका उसे पता नही है । ऐसी स्थिति में पहले से ही दूर रहना अच्छा है ।

सीख[5] भई संसार से[6], चले जु[7] साँई पास ।
अविनासी मोहि ले चला[8], पुरई मेरी आस ॥ २ ॥

शब्दार्थ–सीख ( राज० ) = विदाई । साँई=स्वामी, पति । रई=पूर्ण किया । आस= आशा, कामना ।

व्याख्या–संसार से विदाई हो गई । मैं अपने स्वामी के पास जा रहा हूँ । प्रभु मेरे मार्ग-प्रदर्शक हो गए है और मेरी साध पूरी हो गई है ।

भाव यह है कि यदि विषयो से वैराग्य हो जाय तो स्वयं प्रभु साधक के मार्गदर्शक हो जाते है । विषयो से वैराग्य के भाव को यहाँ संसार रूपी नैहर से विदाई द्वारा व्यक्त किया गया है और प्रभु की ओर जाने का भाव पति के घर जाने द्वारा व्यक्त किया गया है।

अलंकार–अन्योक्ति ।

इन्द्रलोक अचरज[9] भया, ब्रह्मा परा[10] विचार ।
कबिरा चाला[11] रॉम पै, कौतुकहार[12] अपार ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—विचार = चिन्ता । कौतुकहार=तमाशा देखनेवाले ।

---

१. ना० प्र०—जाणों । २ ना० प्र०–मारगि लागा जॉउँ, यु०, हनु०--पीछे लागा जाइ । ३. ना० प्र०—जु कॉटा भाजिसी, यु०, हनु०—जो कॉटा भागसी । ४ ना० प्र०—पहिलीं क्यु न खडॉउँ, हनु०—पहिले क्यों न खुजाय । ५ ना० प्र०—सीप । ६ ना० प्र०-थै । ७ यु०—चला जो । ८ ना० प्र०—चल्या । ९ ना० प्र०—अचिरज । १०. ना० प्र०—पड्या, हनु०—बड़ा । ११. ना० प्र०—कबीर चाल्या । १२. ना० प्र०–कौतिगहार ।

व्याख्या—कबीर ने प्रभु-भक्ति की सीधी डोर पकड़ ली और वह सीधे प्रभु के पास पहुँच गये। यह देखकर इन्द्रलोक में आश्चर्य उत्पन्न हो गया और ब्रह्मा भी सोच-विचार में पड़ गये। इस कौतुक को देखनेवाले असंख्य लोग एकत्र हो गये।

भाव यह है कि प्रायः लोग इन्द्र, ब्रह्मा आदि देवताओं का सहारा लेकर ही प्रभु के पास पहुँचना चाहते हैं। परन्तु कबीर बिना किसी देव-देवी के सहारे अपने प्रियतम की ओर चल पड़े और अपनी प्रेम-साधना से वहाँ पहुँच गये। जिसमें प्रभु के प्रति अनन्य भक्ति है, उसे दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं।

**ऊचाँ चढ़ि असमान कूँ, मेर ऊलंघे ऊड़ि।**
**पसु पंखेरू[1] जीव जत[2], (सब) रहे मेर मै बूड़ि॥ ४॥**

शब्दार्थ—असमान = आकाश, शून्य चक्र। मेर=मेरापन, आपा। ऊलंघे=उल्लंघन। ऊड़ि (व्रज) = कूदकर, उछलकर। पंखेरू = पक्षी। जत = जितने।

व्याख्या—आपा को लाँघकर, उडान भरकर मैं ऊँचे आकाश ( गगन-मंडल या शून्य चक्र ) तक पहुँच गया, जब कि संसार के अन्य पशु-पक्षी आदि सभी प्राणी अहंभाव में ही डूबे हुए हैं।

**सद[3] पांनी[4] पाताल का, काढ़ि कबीरा पीव।**
**बासी पावस पडि मुए[5], विषै बिलंबे[6] जीव॥ ५॥**

शब्दार्थ—सद=सद्यः, ताजा। पावस = वर्षाऋतु, (ला० अ०) जल। पाताल = (प्र० अ०) मूलाधार चक्र। बिलंबे=लगे हुए।

व्याख्या—इस साखी का अन्वय इस प्रकार है—'कबीरा पाताल का सद पानी काढ़ि पीव, विषै बिलंबे जीव बासी पावस पड़ि मुए।'

कबीर कहते हैं कि हे जीवो! पाताल का ताजा पानी निकालकर पियो। जो विषयी जीव बासी पानी में पड़ गये हैं, उनकी आध्यात्मिक मृत्यु ही हो गयी है।

विशेष—यहाँ 'पाताल' मूलाधार चक्र का प्रतीक है, जहाँ कुण्डलिनी का निवास है। उसके द्वारा सत्य की आन्तरिक अनुभूति होती है। उसी अनुभूति की उपलब्धि के लिए प्रयत्न करना चाहिए। पुराने, गदे पानी से तात्पर्य है—रूढ़ मत-मतान्तर। सांसारिक जीव यदि उससे प्रेरणा ग्रहण करने की चेष्टा करता है, तो उसकी आध्यात्मिक मृत्यु ही हो जाती है।

अलंकार—अन्योक्ति।

---

१. ना० प्र०—पसू पंपेरू। २. ना० प्र०—जंत। ३. हनु०—शरद पानि। ४. ना० प्र०—पॉणीं। ५ हनु०, यु०—परि मुआ। ६. हनु०, यु०—विषय बिलंवा।

**सपने मै सांई मिला[1], सोवत[2] लिया जगाई।**
**आँखि[3] न मीचौं डरपता, मत सपना[4] ह्वै जाइ॥ ६॥**

शब्दार्थ—मीचौं = बंद करना।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मेरा स्वप्न में प्रभु से मिलन हुआ अर्थात् उनका साक्षात्कार हुआ। उन्होने मुझे मोह-निद्रा से जगा लिया। मैं उस दर्शन का निरंतर अनुभव करता रहना चाहता हूँ। इसलिए नेत्र नही बंद करता, क्योकि नेत्र बन्द करने पर यह दृश्य स्वप्न-सा हो जाएगा अर्थात् मैं पुन. अज्ञान-निद्रा मे पड़ जाऊँगा।

तुलनीय—

सुपनइ प्रीतम मुझ मिल्या, हूँ गलि लागी धाइ।
डरपत पलक न छोड़ही, मति सुपनउ होइ जाइ॥
—छन्द ५०३॥
—ढोलामारू रा दूहा

**गोविन्द[5] के गुण बहुत है, लिखे जु हिरदै[6] माँहि।**
**डरता[7] पांनी[8] ना पिऊँ, मति वै धोए[9] जाँहि॥ ७॥**

शब्दार्थ—मति वै = कही वे।

व्याख्या—गोविंद के अपार गुण मेरे हृदय में अंकित है। मैं इस भय के कारण पानी नही पीता कि कही वे धुल न जायँ।

भाव यह है कि मैं फूँक-फूँककर पग रखता हूँ और कोई ऐसा कर्म नही करता जिससे हृदय मे अंकित गुणो पर कोई आँच आ जाए और मैं उस अनुभूति के अयोग्य हो जाऊँ।

**अब तो सै ऐसा भया[10], निरमोलिक निज नाउँ[11]।**
**प्हिले[12] काच कथीर था, फिरता ठाँवै ठाँउ[13]॥ ८॥**

शब्दार्थ—निरमोलिक=अमूल्य। काच=(१) काँच, शीशा। (२) कच्चा। कथीर=( सं० कस्तीर>कत्थीर>कथीर ) राँगा। ठाँवै ठाउँ = स्थान-स्थान पर, निरर्थक।

व्याख्या—गुरु कृपा तथा साधना के प्रकर्ष से मुझमें अद्भुत परिवर्तन हुआ। अब मेरा नाम 'निरमोलिक' पड़ गया है अर्थात् अब मैं एक अमूल्य रत्न के समान हो गया हूँ जिसमे सदा प्रकाश है तथा जिसका मूल्य आँका नही जा सकता है। इसके पूर्व मैं

---

१ ना० प्र०-कबीर सुपिनैं हरि मिल्या। २. ना० प्र०-सूता। ३. ना० प्र०-आँषि। ४. ना० प्र०—मति सुपिनाँ। ५ हनु०, यु०-गोविद केरे बहुत गुन। ६. हनु०, यु०—लिखा जु हिरदा। ७. हनु०, यु०-पानी पिऊँ न डरपता। ८ ना० प्र०—पाँणी। ९. हनु०, यु०-धोया। १०. ना० प्र०-कबीर अब तौ ऐसा भया। ११ हनु०, यु०-नाम। १२. ना० प्र०-पहली। १३. हनु०, यु०—ठामहि ठाम।

काँच और राँगे के समान मूल्यहीन था और मेरा कुछ भी महत्त्व नहीं था। मैं इधर-उधर भटकता फिरता था अर्थात् मैं एक दीन और मलिन जीव था।

यहि 'काच' को 'कथीर' का विशेषण माना जाय तो अर्थ होगा—कच्चे राँगे के समान।

अलंकार—'काच' शब्द में श्लेष।

> भौ सागर जल विष भरा[1], मन नहिं[2] बाँधै धीर।
> सबल सनेही हरि मिलै[3], (तब) उतरा पार[4] कबीर॥ ९॥

शब्दार्थ—भौ = भव, संसार। सबल = समर्थ, शक्तिमान्।

संसार रूपी समुद्र विषय रूपी विषाक्त जल से परिपूर्ण है। इसको पार करने के लिए मन में धीरज नहीं बँधता। जब सर्वशक्तिमान् प्रभु का प्रेम मिला, तब मैं सहज ही इस भयंकर संसार-सागर से पार उतर गया।

अलंकार—रूपक, श्लेष।

> भला सुहेला ऊतरा[5], पूरा मेरा भाग।
> राँम नाँव नौका[6] गहा[7], (तब) पानी पंक न लाग[8]॥ १०॥

शब्दार्थ—सुहेला=सहज में। पंक = कीचड़।

व्याख्या—मैं बहुत ही भाग्यशाली हूँ कि सहज ही इस भव-सागर से पार उतर गया। पार उतरने के लक्ष्य में मैं इस कारण सफल हुआ क्योंकि मैं राम-नाम की नौका पर बैठ गया। मैंने प्रभु-प्रेम का आश्रय ग्रहण किया। इससे मुझे वासना रूपी जल तथा विषय रूपी कीचड़ नहीं लगा।

अलंकार—रूपक।

> कबीर केसौ[9] की दया, संसा घाल्या खोइ[10]।
> जे दिन गए भगति बिनु[11], ते[12] दिन सालैं मोहि॥ ११॥

शब्दार्थ—केसौ=केशव, प्रभु। संसा=संशय। घाल्या खोइ=मिटा डाला। सालैं=शल्य ( भाले की नोक ) के समान चुभनेवाला।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मेरे ऊपर प्रभु की दया हो गई। उनके अनुग्रह से मेरे सब संशय मिट गए। मेरे जो दिन प्रभु-भक्ति के बिना बीते थे, वे अब शल्य के समान पीड़ाकारक प्रतीत होते हैं।

---

१. ना० प्र०—भौं समंद विष जल भरया। २. ना० प्र०—नहीं। ३. हनु०, यु०—मिला। ४. ना० प्र०—उतरे पारि। ५. ना० प्र०—ऊतरया ६. हनु०, यु०—नौका गहा। ७. ना० प्र०—गह्या। ८. हनु०, यु०—पानी पग नहिं लाग। ९. यु०—कबिरा केशव। १०. यु०—संशय मेला खोहि। ११. यु०—गया हरि भजन बिनु। १२ यु०—सो।

कबीर[1] जाचन जाइ था, आगे मिला अजंच[2] ।
ले चाला घर आपनैं[3], भारी खाया संच[4] ॥ १२ ॥
—७५२ ॥

शब्दार्थ—जाचन=भीख माँगने । अजंच = अयाची, जिसे याचना की कोई आवश्यकता न हो, सम्पन्न । संच=संचित धन, राशि, ढेर ।

व्याख्या—कबीर याचना के लिए निकले थे । उन्हें प्रभु रूपी अयाची मिल गये, जो सर्व-सम्पन्न हैं तथा सारी याचकता को दूर रखने की सामर्थ्य रखते हैं । वह मुझे अपने घर ले गये । कहाँ मैं भिखारी था और अब मुझे पूर्ण संचित राशि प्राप्त हो गई ।

विशेष—भाव यह है कि मानव एक ऐसा प्राणी है जो इष्ट या मूल्य (Value) की खोज करता रहता है । वह पहले भौतिक मूल्यों की ओर आकृष्ट होता है । परन्तु वह अनुभव करता है कि जिन धन-धान्य आदि इष्ट वस्तुओं के पीछे वह दौड़ लगाता रहा है, वे सभी नाशवान हैं । केवल प्रभु ही एक ऐसा इष्ट है जिसके मिलने पर सब कुछ प्राप्त हो जाता है । 'संच' शब्द के द्वारा यही व्यक्त किया गया है कि वह संचित राशि है अर्थात् उसके मिलने पर सभी इष्टों की प्राप्ति हो जाती है । कोई चाह शेष नहीं रह जाती ।

टिप्पणी—'अयाची' वह है जो सर्व-सम्पन्न होता है, जिसे किसी वस्तु की याचना की आवश्यकता ही नहीं रहती । यहाँ ध्वनि यह भी है कि अयाची वह है जो सभी याचनाओं को दूर भगा देता है अर्थात् सभी इष्टों की पूर्ति कर देता है, क्योंकि वह सर्व-सम्पन्न है ।

●

१ यु०—कबिरा जाँचन । २. यु०, हनु०—मिला अजाच । ३. हनु०, यु०—आप सरीखा करि लिया । ४ हनु०, यु०—पाया साच ।

## ( ५१ ) दया निरबैरता को अंग

कबीर दरिया परजला[1], दाझै जल थल झोल।
बस नाहीं गोपाल सौं[2], बिनसै रतन अमोल ॥ १ ॥

शब्दार्थ—दरिया = समुद्र। परजला = प्रज्वलित हुआ। दाझै = दग्ध हो रहे हैं। झोल = ज्वाला।

व्याख्या—कबीर कहते है कि इस भव-सागर में आग लग गई है जिससे जल-थल आदि सभी उसकी ज्वाला मे दग्ध हो रहे है। प्रभु पर उस आग का कोई वश नही चलता, अन्यथा अमूल्य रत्न अर्थात् जीवात्मा का भी विनाश हो जाता।

विशेष—भाव यह है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि की ज्वाला में सारा संसार जल रहा है। किन्तु यह सब होते हुए भी शरीर के भीतर विद्यमान अमूल्य रत्न जीवात्मा—प्रभु का अंश होने के कारण विनष्ट नही होता। काम, क्रोध आदि का प्रभु के ऊपर कोई जोर नही चलता। इसीलिए जीवात्मा सुरक्षित रहता है। काम, क्रोध रूपी ज्वाला जीवात्मा को पथ-भ्रष्ट तो कर सकती है, किन्तु उसके स्वरूप का विनाश नही कर सकती।

अलंकार—असंगति, रूपकातिशयोक्ति, विशेषोक्ति।

ऊनइ आई[3] बादली, बरसन[4] लगे अंगार।
ऊठि कबीरा धाह दे, दाझत है संसार ॥ २ ॥

शब्दार्थ—ऊनइ आई=उमड़ आई, उन्नमित। धाहदे=चिल्ला-चिल्लाकर पुकारना। दाझत = जल रहा।

व्याख्या—माया की बदली उमड़ आई। अनेक प्रकार के ताप और सासारिक दु:ख के अंगारे बरसने लगे। सारा संसार दग्ध हो रहा है। हे कबीर! तू उठकर, धाड़ लगाकर सांसारिक जीवों को इस ताप से बचने की चेतावनी दे।

अलंकार—अन्योक्ति, विरोधाभास।

दाध बली[5] ता सब दुखी, सुखी न देखौं[6] कोइ।
जहाँ कबीरा पग धरै[7], तहँ[8] टुक धीरज होइ ॥ ३ ॥
—७५५ ॥

---

१. ना० प्र०—प्रजल्या। २. गुप्त–सूं। ३ ना० प्र०–ऊंनमि विआई, गुप्त–ऊनविआई। ४. ना० प्र०—वर्सणि, तिवारी—बरसन लगा। ५. यु०, वि०–कलापी। ६. यु०, वि०–देखा। ७ यु०, वि०–जहँ-जहँ भक्ति कबीर की। ८. यु०, वि०–तहँ-तहँ।

शब्दार्थ - दाघ = जलन, दाह । ता = उससे । टुक = किंचित् ।

व्याख्या—काम, क्रोध, वासना आदि की ज्वाला अत्यन्त वलिष्ठ है। उससे सभी दुःखी है। कबीर कहते हैं कि मैं किसी को भी सुखी नही देखता हूँ। जहाँ मैं पहुँचता हूँ, केवल वहाँ मेरे उपदेश से कुछ शीतलता या शांति छा जाती है और लोगों में धैर्य बँधता है।

भाव यह है कि सन्तो के उपदेश से ही संसार के प्राणी ताप-भय से वच सकते है।

अलंकार—अन्योक्ति।

## ( ५२ ) सुन्दरि को अंग

कबीर[1] सुन्दरि यौं कहै, सुनियो[2] कंत सुजांन[3] ।
वेगि मिलौ तुम आइ करि[4], नहितर तजौं परांन[5] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—सुन्दरि = ईश्वर की भक्ति करनेवाली प्रिया रूपी जीवात्मा । नहितर = अन्यथा ।

व्याख्या—जीवात्मा रूपी सुन्दरी प्रभु-रूपी कंत से कहती है कि हे विज्ञ प्रिय स्वामी ! मेरी विनती सुनो । तुम शीघ्र आकर मुझसे मिलो अन्यथा मैं प्राण त्याग दूँगी ।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति ।

कबीर[6] जे कोइ[7] सुन्दरी, जांनि[8] करै बिभिचार ।
ताहि न कबहूँ आदरै, परम[9] पुरुष भरतार ॥ २ ॥

शब्दार्थ—जे = यदि । बिभिचार = व्यभिचार । भरतार=पति, भर्त्ता । परम पुरुष= पुरुषोत्तम, भगवान ।

व्याख्या—यदि कोई सुन्दरी जान-बूझकर व्यभिचार करती है, अन्य पुरुष के साथ रमण करती है तो उसका स्वामी कभी भी उसे अपने हृदय मे स्थान नही दे सकता । ठीक इसी प्रकार यदि जीवात्मा रूपी सुन्दरी प्रभु को छोड़कर माया से लगन लगाती है तो वह पुरुषोत्तम भगवान का सामीप्य नही प्राप्त कर सकती ।

जे सुंदरि साँई भजै[10], तजै आँन की आस ।
ताहि न कबहूँ परिहरै, पलक न छाँड़ै पास ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—आँन=अन्य । परिहरै = त्यागै । पास = पार्श्व ।

व्याख्या—जो सुन्दरी अपने पति की सेवा में रत रहती है और अन्य पुरुष की इच्छा भी नहीं करती, उसका पति उसे कभी नही छोड़ता । वह एक क्षण के लिए भी उससे अलग नहीं होता । ठीक इसी प्रकार जो जीवात्मा अन्य देवी-देवताओ की आशा छोड़कर प्रभु की हृदय से भक्ति करता है, उसको प्रभु अपना मधुर सान्निध्य प्रदान करता है ।

अलंकार—अन्योक्ति ।

---

१. यु०—कबिरा । २ ना० प्र०—सुणि हो । ३ ना० प्र०—सुजांण । ४. हनु०, यु०—कै । ५. ना० प्र०—नहीं तर तजों परांण, यु०, हनु०—नातर तजिहौं प्रान । ६. यु०—कबिरा जो कोइ । ७. ना० प्र०—जेको । ८. ना० प्र०—जाणि । ९. ना० प्र०—प्रेम पुरिप, तिवारी—परम पुरिस । १०. हनु०, यु०—सुन्दरि तौ साँई भजै ।

इस[1] मन कौं मैदा करौ[2], नान्हाँ करि करि पीस[3] ।
तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म[4] झलक्कै[5] सीस ॥ ४ ॥

व्याख्या—हे सुन्दरी (जीव) ! तू इस स्थूल भौतिक मन को साधना द्वारा इतना सूक्ष्म बना ले, उसके रजस् और तमस् अंश को चूर्ण-विचूर्ण कर सात्त्विक अंश का इतना उद्रेक कर ले कि तेरे मानस में प्रभु की ज्योति झलकने लग जाय। हे सुन्दरी ! तू तभी वास्तविक सुख को प्राप्त कर सकती है।

'सुन्दरी' के साथ 'ब्रह्म झलक्कै सीस' मे 'सीस' की व्यञ्जना यह है कि तभी तेरा सौभाग्य चमकेगा।

दरिया पार हिंडोलना, मेल्या[6] कंत मचाइ।
सोई नारि सुलक्षणीं, नित प्रति झूलन[7] जाइ ॥ ५ ॥
—७६० ॥

शब्दार्थ—हिंडोलना = झूला। मेल्या=डाल रखा है। मचाइ=सजाकर। सुलक्षणी=शुभ लक्षणोवाली।

व्याख्या—इस साखी के प्रथम चरण का अन्वय इस प्रकार है—'कंत दरिया पार हिंडोलना मचाइ मेल्या।'

तात्पर्य यह है कि इस ससार-सागर में ज्ञान प्राप्त करने की स्थूल साधन-इन्द्रियों से परे प्रभु रूपी पति ने मिलन का झूला सजाकर डाल रखा है। वही स्त्री शुभ लक्षणोंवाली है जो उस हिंडोले में नित्यप्रति अपने प्रिय के साथ झूलती है।

भाव यह है कि इन्द्रिय, तर्क अथवा बुद्धि से मानव इस भव-सागर को पार नही कर सकता। इनसे परे जो सहज ज्ञान है, वही प्रिय के मिलन का माध्यम है।

प्रमुख पाश्चात्त्य दार्शनिक बर्ट्रण्ड रसेल ने भी कहा है:—

"The first and most direct out come of the moment of illumination is belief in the possibility of a way of knowledge, which may be called revelation or insight or intution as contrasted with sense, reason and analysis."—Mysticism and Logic, p. 16.

अर्थात् प्रकाश के क्षण का प्रथम और प्रत्यक्ष परिणाम ज्ञान के एक ऐसे मार्ग की सम्भावना मे विश्वास है जिसे दैवीज्ञान, परिज्ञान या अन्तर्ज्ञान कहा जा सकता है और जो इन्द्रियज्ञान, तर्क तथा विश्लेषण से भिन्न है।

अलंकार—अन्योक्ति।

●

---

१. हनु०, यु०—मन मनसा को मारिकै, नन्हा करि कै पीस। २ ना० प्र०—करौं। ३. ना० प्र०—पीसि। ४ हनु०, यु० —पदम। ५ ना० प्र०—झलकै। ६ गुप्त—मेल्हा। ७. ना० प्र०—झूलण।

## ( ५३ ) कस्तूरिया म्रिग को अंग

कस्तूरी कुण्डलि[1] बसै, म्रिग[2] ढूंढै वन माँहि।
ऐसे घटि घटि राम हैं[3], दुनिया[4] देखै[5] नाँहि ॥ १ ॥

शब्दार्थ—कुण्डलि=कुण्डल में। घटि घटि=प्रत्येक शरीर में। देखै=अनुभव करना।

व्याख्या—कस्तूरी, मृग की नाभि में विद्यमान रहती है, किन्तु बेचारा मृग अज्ञान-वश उसे बाहर वन में खोजता घूमता है। इसी प्रकार राम प्रत्येक व्यक्ति के घट में विद्यमान हैं, किन्तु सासारिकजन इसका अनुभव नही कर पाते और मंदिर तथा तीर्थों में उसे खोजते घूमते है।

अलंकार—उपमा।

कोइ[6] एक देखै संत जन, जाकै पाँचौ[7] हाथि।
जाकै पाँचौं[8] बस नहीं, ता हरि संग न साथि[9] ॥ २ ॥

शब्दार्थ—हाथि=हाथ में, वश में।

व्याख्या—घट-घट में बसनेवाले राम का अनुभव कोई ऐसे संतजन ही कर पाते है जिनकी पाँचों इन्द्रियाँ वश में है। जिनकी इन्द्रियाँ अपने वश में नही है, उनका प्रभु से कोई सम्पर्क नही हो सकता।

सो साँई[10] तन मै बसै, भ्रम्यौ[11] न जांनै[12] तास।
कस्तूरी का मिरग ज्यौं[13], फिरि फिरि सूँघै[14] घास ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—भ्रम्यो = भ्रमण करना, चक्कर लगाना।

व्याख्या—प्रभु प्रत्येक व्यक्ति के घट में विद्यमान हैं, किन्तु जैसे मृग, कस्तूरी की सुगन्धि के स्थान को नही जानता और उसकी खोज में भ्रमण करता रहता है, चक्कर काटता रहता है और घूम-घूमकर इसलिए घास सूँघता रहता है कि उसी स्थान से सुगंध तो नही आ रही है। ऐसे ही सासारिक जीव अपने भीतर विद्यमान प्रभु को नही जानते और उसे तीर्थों तथा मंदिर आदि मे खोजते रहते हैं अथवा उस आनन्दस्वरूप को तुच्छ विषयो में पाने की चेष्टा करते है।

---

१. हनु०, यु०—कुण्डल। २. ना० प्र०—मृग। ३. हनु०—ऐसे हरि घट-घट बसै। ४ हनु०—मूरख जानत नाँहि। ५ यु०—जानै। ६ हनु—देखै कोई संतजन, पाँचों जाके हाथ। ७ ना० प्र०—पाँचूँ। ८. ना० प्र०—पाँचूँ। ९. हनु०—ताके संग न साथ। १०. हनु०, यु०—साहिब। ११. हनु०, यु०, तिवारी—भरम। १२. ना० प्र०—जाँणै। १३. ना० प्र०—कै मृग ज्यूँ। १४. अन्य—ढूँढै।

टिप्पणी—इस साखी में 'भ्रम्यौ' शब्द में बाहर मंदिर, तीर्थ आदि में प्रभु को खोजने की व्यञ्जना है और 'घास' में तुच्छ विषयों की ध्वनि है।

अलंकार—उपमा।

> कबीर[1] खोजी राम का, गया जु[2] सिंघलदीप।
> राम तौ भीतरि रमि रह्या[3], जौ आवै परतीत॥ ४॥

शब्दार्थ—परतीत = विश्वास, प्रतीति।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि राम का खोजी समुद्र पार दूर देश जाने का प्रयत्न करता है। उस बेचारे को पता नही कि राम तो सभी के हृदय में रम रहे है। यदि दृढ विश्वास हो और अन्तर्चक्षु से उसे देखने का प्रयत्न किया जाय तो प्रत्येक व्यक्ति को उसका साक्षात्कार हो सकता है।

टिप्पणी—'रमि रह्या' में विचरने तथा व्याप्त रहने का भाव है।

> घट बढ़ कहूँ न देखिए[4], ब्रह्म रह्या भरपूरि[5]।
> जाने[6] ही ते निकट है, अनजाने ते दूरि॥ ५॥

व्याख्या—ऐसा नही है कि प्रभु कही कम रूप में विद्यमान है और कही अधिक रूप मे। वह तो सर्वत्र पूर्ण रूप मे विद्यमान है। कम या अधिक परिमाणवाचक शब्द है, जो प्रभु पर किसी प्रकार लागू नही हो सकता। यदि इस तथ्य की प्रतीति हो तो उसकी अनुभूति अपने भीतर ही अत्यंत निकट हो सकती है और यदि यह प्रतीति नही है तो अज्ञानी जीव उसे कोसो दूर समझता है।

> मै जानूँ[7] हरि दूरि हैं, हरि हृदये भरपूर[8]।
> आप[9] पिछाणै बाहिरा, नेड़ा ही थैं दूर॥ ६॥

शब्दार्थ—आप = आत्मस्वरूप। पिछाणै=पहचान। बाहिरा = बिना। नेड़ा=निकट।

व्याख्या—मैं समझता था कि प्रभु कही बहुत दूर होगे। किन्तु वह तो हमारे हृदय में ही पूर्ण रूप से विद्यमान है। जो अपनी पहचान से बाहर हैं अर्थात् जिनको आत्मस्वरूप की जानकारी नही है, उनके लिए प्रभु पास रहने पर भी दूर ही प्रतीत होते है।

> तिन कै ओटे[10] राम है, परवत मेरे भाइ[11]।
> सदगुर मिलि परचा[12] भया, तब[13] पाया घट माँहि॥ ७॥

---

१. गु०—कबिरा। २. गु०—जो। ३. गु०—साहिब तौ घट में बसं। ४. ना० प्र०—घटि बधि कही न देखिए। ५ गु०—प्रेम सकल भरपूर। ६. ना० प्र०—जिनि जान्याँ तिनि निकट है, दूरि कहे ते दूरि। ७. ना० प्र०—जाण्याँ। ८. ना० प्र०—रह्या सकल भरपूरि। ९ गु०—आप पिछाने बाहरी, नीरा ही ते दूर। १०. ना० प्र०—तिणकै ओल्है, हनु०—तृन के ओटे। ११. हनु०—भावै परवत जाइ। १२. तिवारी—परचै। १३. ना० प्र०—तब हरि पाया घट मांहि।

शव्दार्थ—तिन = तृण । ओटे = व्यवधान, पर्दा, आवरण । भाइ = विचार से, समझ से ।

व्याख्या—यद्यपि राम और मेरे वीच तृण के समान एक सूक्ष्म आवरण है, किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे और प्रभु के वीच पर्वत के समान दीर्घ और विशाल व्यवधान है। सत्गुरु से मिलने पर जब प्रभु का परिचय प्राप्त हुआ, तव पता चला कि प्रभु मेरे भीतर ही विद्यमान हैं।

टिप्पणी—(i) ना० प्र० की प्रति में 'ओटे' के स्थान पर 'ओल्हैं' पाठ है। 'ओल्हैं' शब्द 'ओलवा' से वना है। इसका भी अर्थ है—पर्दा या व्यवधान। (ii) संतों ने शरीर के लिए प्रायः 'घट' शब्द का प्रयोग किया है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि जिस प्रकार विभु या सर्वत्र व्याप्त आकाश 'घट' के भीतर परिसीमित-सा लगता है, उसी प्रकार विभु (सर्वव्यापी) प्रभु इस शरीर में परिसीमित-सा प्रतीत होता है। (iii) सूक्ष्म पर्दा माया या अहं का आवरण है। उसके हट जाने पर आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है।

> रॉम[1] नॉम तिहुँ लोक में, सकल माँहि[2] भरपूरि।
> यहु चतुराई जाहु जलि, खोजत डोलें दूरि॥ ८॥

व्याख्या—रामनाम तीनों लोको मे सभी में परिव्याप्त है। उस चतुराई को आग लगे, जिससे लोग अपने ही भीतर व्याप्त राम को छोड़कर उन्हे दूर-दूर खोजते घूमते है।

> ज्यौं नैनन[3] मै पूतली, त्यौं[4] खालिक घट माँहि।
> मूरख नर जानैं नहीं[5], वाहर ढूँढ़न[6] जाँहि॥ ९॥
> —७६९॥

शव्दार्थ—खालिक (अ०) = सृष्टिकर्त्ता, स्वामी, ईश्वर।

व्याख्या—जिस प्रकार नेत्रो में पुतली होती है, उसी प्रकार शरीर के भीतर प्रभु विद्यमान हैं। अज्ञानी इस तथ्य को नही जानते और उसे वाहर खोजने जाते है।

अलंकार—उपमा।

---

१. हनु०—एक। २. ना० प्र०—सकलहु रह्या, गु०—सकल रहा। ३. ना० प्र०—ज्यूँ नैनूँ। ४. ना० प्र०—त्यूँ। ५. ना० प्र०—मूरिख लोग न जाँणही। ६. ना० प्र०—वाहरि ढूँढण।

## ( ५४ ) निन्द्या (निन्दा) को अंग

लोग विचारा निन्दई[१], जिनहुँ[२] न पाया ग्यॉन।
रॉम नाँव[३] राता[४] रहै, तिनहुँ न भावै आन[५] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—राता = रत, लीन।

व्याख्या—वेचारे वे ही दूसरो की निन्दा करते रहते है जिन्होने ज्ञान नही प्राप्त किया है। जो प्रभु की भक्ति मे अनुरक्त रहते है, उन्हे प्रभु को छोड़कर और कुछ अच्छा लगता ही नही। उन्हे दूसरो की निन्दा मे रस कहाँ मिल सकता है ?

दोष पराया देखि कै[६], चला[७] हसंत हसत।
अपनै[८] च्यंति[९] न आवई, जिनकी[१०] आदि न अंत ॥ २ ॥

शब्दार्थ—च्यंति = चिन्ता।

व्याख्या—लोग दूसरो का दोष देखकर उसका उपहास करते है, अपने दोषो की चिन्ता नही रहती, जिनका न आदि है न अंत।

निन्दक नियरे[११] राखिए, ऑगनि[१२] कुटी वँधाइ[१३]।
बिन साबुन[१४] पानी बिना, निरमल करै सुभाइ ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—नियरे = निकट। वँधाइ=वनवाकर। सुभाइ=स्वभाव।

व्याख्या—निन्दक को अपने समीप ही आँगन में कुटी वनवाकर रखना चाहिए। वह पानी और सावुन के विना ही हमारे स्वभाव को निर्मल कर देता हैं।

भाव यह है कि सामान्यत: व्यक्ति दूसरो के गुण-दोषो को निरपेक्ष दृष्टि से देखता है, इसलिए वे उसके सामने स्पष्ट रूप से आ जाते है। किन्तु अपने सम्बन्ध मे उसकी दृष्टि इतनी पक्षपातपूर्ण रहती है कि वह अपने दोष नही देख पाता। निन्दक उसके दोषो को प्रकट कर देता है। तव उसका ध्यान अपने दोषो पर जाता है और वह निर्मल वनने का प्रयत्न करता है। इसीलिए कहा गया है निन्दक सावुन-पानी के विना ही स्वभाव को निर्मल कर देता हैं।

अलंकार—विभावना।

---

१ ना० प्र०—नींदई। २ ना० प्र०—जिन्ह न, हनु०—जिन नहि। ३. तिवारी—अमलि माता रहै। ४. हनु०, यु०—जानै नहीं। ५ यु०—वके आन ही आन, हनु०-सेवे आनहि आन। ६ ना० प्र०—दोख पराए देखि करि। ७. ना० प्र०—चल्या, हनु०—चलै। ८ हनु०—आपन याद न आवई। ९ तिवारी—चीति। १० हनु०—जाको। ११. ना० प्र०—नेडा, हनु०, यु०—नेरे। १२. ना० प्र०—आँगणि। १३. हनु०, त्रि०—छवाइ। १४. ना० प्र०—साँबँण पाँणी।

निन्दक[1] दूरि न कीजिए, दीजै[2] आदर मांन।
निरमल तन मन सब करै, बकि बकि आँनहि आन[3] ॥ ४ ॥

व्याख्या—निन्दक को दूर न कीजिए। उसको सम्मान देकर समीप ही रखिये। वह दोषों को बढ़ा-चढ़ाकर चारों ओर बकता रहता है। इससे अपने दोषों की ओर विवशतः दृष्टि जाती है और तब मनुष्य अपने तन-मन को निर्मल करने का प्रयत्न करता है।

जो कोइ निंदै साधु कौं[4], संकट[5] आवै सोइ।
नरक माँहि जन्मै[6] मरै, मुकुति[7] न कबहूँ होइ ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—साधु=सज्जन।

व्याख्या – जो कोई सज्जन की निन्दा करता है, वह संकट को प्राप्त होता है। ऐसे व्यक्ति का जन्म मरण नरक मे ही होता है अर्थात् उसका सारा जीवन नरक में ही व्यतीत होता है और उसे कभी मुक्ति नही प्राप्त होती।

तिरनहुं कबहुँ न निन्दिए[8], पाँव तले है सोइ।
ऊड़ि[9] पड़ै जब आँखि मैं, खरा दुहेला होइ[10] ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—तिरनहुं=तृण को भी। ऊडि=उड़कर। खरा=अत्यन्त। दुहेला=कष्ट।

व्याख्या—कबीर कहते है कि तृण सदृश तुच्छ वस्तु की भी, जो पाँवों तले पड़ी हो, कभी निन्दा नही करना चाहिए। यदि कभी उडकर वह तुच्छ तृण भी आँख में पड़ जाए तो अत्यन्त पीड़ा होगी।

अलंकार—अन्योक्ति।

आपनपौ[11] न सराहिए, और न कहिए रंक।
नाँ जाँनौं किस[12] बिरिख[13] तलि, कूड़ा[14] होइ करंक ॥ ७ ॥

शब्दार्थ- आपनपौ=अपने को। रंक = तुच्छ। बिरिख = वृक्ष। करंक = हड्डियाँ।

व्याख्या अपनी प्रशसा नही करनी चाहिए और किसी दूसरे को तुच्छ नही कहना चाहिए। अहंमन्यता व्यर्थ है। इस नश्वर शरीर का, जिसके ऊपर हम गर्व करते हैं, न जाने कब अन्त हो जाए और इसकी हड्डियाँ न जाने किस वृक्ष के नीचे कूड़े के समान पड़ी रह जाएँ ?

---

१ ना० प्र०—न्यन्दक। २ हनु०, त्रि०—कीजे। ३ हनु०, त्रि०—बकै आन ही आंन। ४. ना० प्र०—जे को नींदै साध कूँ। ५. ना० प्र०—संकटि। ६. ना० प्र०—जांमै। ७ गु०—मुक्ति। ८. ना० प्र०—कबीर घास न नींदिए, जो पाऊँ तलि होइ ९ ना० प्र०—उटि। १० गु०—पीर घनेरी होइ। ११. गुप्त—आपणपौ। १२. हनु०, त्रि०—क्या जानौं किहि रूख तर। १३. ना० प्र०—त्रिष। १४. हनु०, त्रि०—कूरा।

कबीर आप ठगाइए, और न ठगिए कोइ।
आप ठगे[1] सुख ऊपजै, और ठगे[2] दुख होइ॥ ८॥

शब्दार्थ—आप=अपनपौ, आपा।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि आपा को लुट जाने दो, नष्ट हो जाने दो। दूसरे किसी को धोखा देने की चेष्टा न करो। आपा लुट जाने से सुख उत्पन्न होता है। दूसरों को ठगने या लूटने से केवल दु:ख प्राप्त होता है।

अब[3] कै जे साँई मिलै, (तौ) सब दुख आपौं रोइ।
चरनूँ ऊपरि सीस धरि, कहूँ ज कहणाँ होइ॥ ९॥
—७७८॥

शब्दार्थ—जे=यदि। आपौं (पंजाबी)=कहूँ, आख्यान करूँ।

व्याख्या—यदि इस बार मेरे प्रभु मिलेंगे तो मैं उन्हें अपनी करुण कहानी रोकर सुनाऊँगा। उनके चरणों पर शीश रखकर, जो कुछ कहना है, कहूँगा।

भाव यह है कि पूर्ण आत्म-समर्पण कर, प्रभु से अनुग्रह की याचना करूँगा।

●

---

१ ना० प्र०—ठग्यों। २. ना० प्र०—ठग्यौं। ३. यह साखी अन्य पाठों में इस अंग में नहीं है और न 'निन्दा को अंग' में उपयुक्त प्रतीत होती है।

## ( ५५ ) निगुणाँ को अंग

**जानै हरिअर रूखड़ा[1], उस[2] पानीं[3] का नेह।**
**सूखा[4] काठ न जांनई[5], कबहूँ बूठा[6] मेह ॥ १ ॥**

शब्दार्थ—निगुणाँ=(१) अनाड़ी, विवेकहीन, गुणहीन। (२) निगुरा, जिसका कोई गुरु नहीं है। रूखड़ा=वृक्ष। काठ=लकडी। बूठा=बरसा।

व्याख्या--हरा वृक्ष ही जल के आर्द्र-दान के महत्त्व को समझता है। सूखा काठ उसे क्या समझ सकता है ? उस पर चाहे घोर वृष्टि ही क्यों न हो।

भाव यह है कि जिसका हृदय भावपूर्ण है, वही प्रभु के स्निग्ध अनुग्रह का महत्व समझता है। जो भावशून्य है, वे भक्ति-रस का आनन्द कैसे जान सकते हैं, भले ही वे चतुर्दिक् प्रेम से घिरे हों।

अलंकार—अन्योक्ति।

**झिरमिर झिरमिर[7] बरषिया, पाहन[8] ऊपरि मेह।**
**माटी गलि सैंजल[9] भई, पाहन[10] वोही तेह[11] ॥ २ ॥**

शब्दार्थ—पाहन = पाषाण, पत्थर। सैंजल=गीली। वो ही=वैसे ही। तेह=कठोर।

व्याख्या—पत्थर के ऊपर झीनी वर्षा की झडी लगी रही। फलस्वरूप पाषाण के ऊपर लगी मिट्टी गलकर गीली हो गई, किन्तु पत्थर पूर्ववत् कठोर बना रहा।

भाव यह है कि प्रभु के अनुग्रह की वर्षा सभी के ऊपर होती है। किन्तु केवल सहृदय और भावपूर्ण भक्त ही उससे आर्द्र होते हैं। भावशून्य ( निगुणा ) व्यक्तियो पर उसका कोई प्रभाव नही पड़ता। वे पूर्ववत् भावशून्य और शुष्क बने रहते है।

अलंकार—विशेषोक्ति, अन्योक्ति।

**पारब्रह्म वड़[12] मोतियाँ, झड़ि बाँधी सिषराँह[13]।**
**सगुरा सगुरा चुनि[14] लिए, चूक पड़ी निगुराँह[15] ॥ ३ ॥**

शब्दार्थ—वड़ = बड़ा। झड़ि=झड़ी। सिषराँह = शिखर पर, ब्रह्मरंध्र। सगुरा = गुरु-भक्त। निगुराइ=बिना गुरु का।

---

१. ना० प्र०—हरिया जाणँ रूँपड़ा। २. हनु०-पानी हूँ का नेह। ३. ना० प्र०—पाणीं। ४. ना० प्र०—सूका। ५. ना० प्र०—जाँणई। ६. हनु०, वि०-कितहूँ बूडा। ७. हनु०—झीमिर झीमिर। ८. ना० प्र०—पाँहण। ९ हनु०, वि०, यु०—पानी। १० ना० प्र०-पाँहण। ११. हनु०, वि०—वाही नेह। १२. ना० प्रा०—बूठा। १३. गुप्त—झड, हनु०—घटा, वि०, यु०—झड़ि बाँधि सिखर। १४. ना० प्र०-चुणि लिया। १५. वि०, यु०-निगुर।

व्याख्या—पर्वत के शिखर पर पारब्रह्म ने बड़े-बड़े मोतियों की झड़ी लगा दी। जो गुरु से युक्त थे, उन्होंने मोतियों को चुन लिया। जो बिना गुरु के थे, वे चूक गये।

भाव यह है कि प्रभु का अनुग्रह चतुर्दिक व्याप्त है। किन्तु जिनको कोई सद्गुरु प्राप्त होता है, उन्ही मे उस अनुग्रह की ग्रहणशीलता आती है। जिसका कोई गुरु नही है, वह उस अनुग्रह को ग्रहण नही कर पाता।

टिप्पणी—यहाँ 'मोतियो की वर्षा' में अनुग्रह की वर्षा की व्यञ्जना है। शिखर पर बरसने में मस्तक के शिखर अथवा ब्रह्मरंध्र की व्यञ्जना प्रतीत होती है। 'बूँद' की तुलना 'मोतियों' से की गई है जो अत्यन्त सटीक है।

अलंकार—अन्योक्ति।

कबीर हरि रस बरषिया, गिरि डूँगर सिषराँह[1]।
नीर सिवाणाँ[2] ठाहरै, नाँ कछु छापरडाँह[3] ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—डूँगर = टीला। सिषराँह=शिखर पर। सिवाणाँ = नीची जमीन, पहाड़ की तलहटी। छापरडाँह=छप्पर पर।

व्याख्या—कबीरदास कहते है कि पर्वत और टीलो के शिखरो पर वृष्टि होती है। किन्तु उसका जल न तो पर्वतो और टीलो पर ठहरता है और न छप्पर पर। वह पर्वत की तलहटी अथवा निचली जमीन में ही आकर ठहरता है। उसी प्रकार प्रभु के अनुग्रह की वृष्टि सर्वत्र होती है, किन्तु जो अहंकार से उन्मत्त होकर सिर उठाये हुए है, उनके हृदय में उसके लिए कोई स्थान नही है, क्योकि उनके भीतर उसके ग्रहण के लिए अभी कोई आधार तैयार नही है। जो विनम्र है, जिनका हृदय संवेदनशील है, वे ही उस रस को ग्रहण कर सकते है।

टिप्पणी—यहाँ अहंकारियों की तुलना पर्वत, टीलों तथा छप्पर से की गई है और विनम्र पुरुषो को 'सिवाणाँ' बताया गया है।

अलंकार—अन्योक्ति।

कबीर[4] मूढ़क[5] करमियाँ, नख सिख पाखर[6] आहि।
बाँहनहारा[7] क्या करै, बान न लागै ताहि[8] ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—मूढक = अविवेकी, मोहान्ध। करमियाँ = कर्मकाण्डी। पाखर = कवच। बाँहनहारा=बाण चलानेवाला।

व्याख्या—कबीर कहते है कि कर्मकाण्डी अविवेकी होता है। वह केवल बाह्याचार की तड़क-भड़क में फँसा रहता है। वह कर्मकाण्ड की विधियों का कवच नख से शिख

१. हनु०, वि०, शु०—पर्वत सिषराय। २ गुप्त-निवाणां, तिवारी—निवाँनैं, हनु०-निवानू। ३ ना० प्र०-नाऊँ छा परडाह, हनु०, वि०—ना वह छापर डाय। ४. शु०—कबिरा मूँढक मानियाँ। ५ ना० प्र०—मूँड़ा। ६ ना० प्र० -पापर ज्याह ७ ना० प्र०-वाहणहारा ८. ना० प्र०—त्याँह।

तक अर्थात् ऊपर से नीचे तक पहने हुए हैं। बेचारा तीर चलानेवाला क्या करे, क्योंकि जो वाह्याचार का कवच पहने हुए हैं, उनमें वाण विधता ही नहीं।

यहाँ 'वाँहनहारा' गुरु है और 'तीर' शब्द है।

अलंकार—अन्योक्ति।

**कहत सुनत सब दिन गए[1], उरझि न सुरझ्या[2] मन।**
**कह[3] कबीर चेतै[4] नहीं, अजहूँ पहिला[5] दिन॥ ६॥**

शब्दार्थ—चेतै = सावधान।

व्याख्या—तत्त्व का उपदेश कहते-सुनते सारा जीवन समाप्त हो गया, किन्तु अज्ञानी जीव का मन एक वार मोह मे उलझकर फिर न सुलझ सका। कबीर कहते हैं कि अज्ञानी जीव अभी तक सावधान नहीं हुआ। उसको अभी तक आत्म-बोध नही हो सका। उसकी आज भी वही अवस्था है जो पहले दिन थी।

**कहै कबीर कठोर कै[6], सबद न लागै सार।**
**सुधबुध[7] कै हिरदै भिदै, उपज[8] विवेक[9] विचार॥ ७॥**

शब्दार्थ—सार = लोहा, अस्त्र। सुधबुध = समझदार, प्रबुद्ध, संवेदनशील।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जिसका हृदय संवेदनशील नही है, जो कठोर हृदय-वाले हैं, उनको शब्द रूपी वाण बिंध नही सकता। जो संवेदनशील है, जिज्ञासु है, उनके हृदय में शब्द-वाण बिंध जाता है और विवेक तथा विचार जग उठते हैं।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

**सीतलता कै कारनैं,[10] नाग[11] विलंबे आइ।**
**रोम रोम विष भरि रह्या[12], अम्रित[13] कहाँ समाइ॥ ८॥**

शब्दार्थ—नाग = सर्प।

व्याख्या—शीतलता की प्राप्ति के लिए सर्प आकर चन्दन के वृक्ष पर लिपटता है, किन्तु उसके रोम-रोम में विष भरा हुआ है। चन्दन का शीतल प्रभाव उसके भीतर कैसे समा सकता है?

इसी प्रकार जो स्वभाव से ही विषैले तथा दुष्ट हैं, वे सत्संग की शरण पाने पर भी भक्ति-सुधा से वंचित रहते हैं।

अलंकार—अन्योक्ति।

---

१ तिवारी-सुनत सुनावत दिन गए। २. ना० प्र०—सुरझ्या। ३ ना० प्र०—कहि। ४ ना० प्र०—चेत्या। ५ ना० प्र०—सुपहला। ६ तिवारी, हनु०, वि०-कबीर हृदय कठोर कै। ७ अन्य—सुधि बुधि। ८. ना० प्र०—उपजि, वि०, हनु०-उपजे ज्ञान। ९ गुप्त-बमेक। १० ना० प्र०—कै कारणैं। ११. ना० प्र०—माग। १२ ना० प्र०—रह्या। १३ ना० प्र०-अंमृत।

सरपहि[1] दूध पिलाइये, दूधैं विष ह्वै जाइ।
ऐसा कोई ना मिलै, स्यूं सरपै[2] विष खाइ॥ ९॥

शब्दार्थ—स्यूं=सहित।

व्याख्या—सर्प को दूध पिलाने से दूध भी विष में परिणत हो जाता है। ऐसा कोई अद्वितीय गुरु नहीं मिलता, जो सर्प को विष सहित नष्ट कर दे।

यहाँ 'सर्प' माया या मोह है। 'विष' विषय-वासनाएँ है। जिसका हृदय विषय-वासना में लिप्त रहता है, उसमें सदुपदेश की भी उल्टी प्रतिक्रिया होती है। ऐसा कोई विरला सद्गुरु ही हो सकता है जो मोहरूपी सर्प और उसमें पुंजीभूत वासनाओं के विष को समाप्त कर दे।

तुलनीय—

पयःपानं भुजगानां, केवलं विषवर्धनम्।
उपदेशो हि मूर्खाणां, प्रकोपाय न शान्तये॥

अलंकार—अन्योक्ति।

जालौं[3] इहै बड़ापना[4], सरलै पेड़[5] खजूरि।
पंथी[6] छाँह न बीसवै[7], फल लागैं ते[8] दूरि॥ १०॥

शब्दार्थ—जालौं = जला दूँ। बड़ापना = बडप्पन, विशालता। पंथी = यात्री। बीसवै = विश्राम पाना।

व्याख्या—खजूर का वृक्ष सीधा और ऊँचा होता है, किन्तु उसकी छाया में न तो पथिक विश्राम पा सकता है और न ऊँचाई के कारण उसके फल ही प्राप्त कर सकता है। ऐसी विशालता किस काम की? उस पर आग लगे।

इसी प्रकार यदि कोई बहुत बड़ा पंडित है और शास्त्र-ज्ञान में निपुण हो गया है, परन्तु अनुभूति न होने के कारण वह किसी को कुछ दे नहीं सकता तो ऐसा महान् पंडित भी किस काम का?

अलंकार—अन्योक्ति।

ऊँचा कुल के कारनै[9], बंस बढ़ा[10] अधिकार[11]।
चंदन बास भेदै नहीं,[12] जारा[13] सब परिवार॥ ११॥

शब्दार्थ—अधिकार (बैसवाडी) = अधिकता से।

---

१ गुप्त—सर्पै। २ गुप्त—सर्पै। ३ हनु०—जारौं। ४. ना० प्र०—बड़पणां। ५ हनु०—ऊँचो पेड। ६. ना० प्र०—पषी। ७ हनु०—पावई। ८. हनु०—बड। ९. ना० प्र०—कारणैं। १०. ना० प्र०—बध्या। ११. तिवारी—असरार, हनु०—बांस बढो हंकार, गु०-बांस बंध्यो हंकार। १२. हनु०—एक नाम जान्यो नहीं। १३. ना० प्र०—जाल्या, गु०—जार्यो।

व्याख्या—ऊँचे कुल में उत्पन्न होने से बाँस अधिकता से ऊपर बढ़ता चला जाता है, परन्तु उसमें चन्दन की सुगंधि का गुण नहीं आता, उल्टे वह पारस्परिक रगड़ से अपने सारे वंश को जला देता है।

ऐसे ही केवल ऊँचे कुल में जन्म लेने से कोई बड़ा नहीं होता, जब तक कि उसके भीतर ज्ञान और अनुभूति की सुगंधि न व्याप्त हो। बड़प्पन की शान में ऐसे लोग पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष से नष्ट हो जाते हैं।

अलंकार—'वंश' शब्द में श्लेष, अन्योक्ति।

कबीर[1] चन्दन कै निड़ै[2], नींब भि[3] चन्दन होइ।
बूड़ा बाँस बड़ाइया,[4] यौं जनि[5] बूड़ै[6] कोइ॥ १२॥
—७२० ॥

शब्दार्थ—निड़ै = निकट। भि = भी। बूड़ा = नष्ट हो गया।

व्याख्या—कबीरदास कहते हैं कि चंदन का सामीप्य पाकर नीम जैसे कड़ुए वृक्ष में भी चंदन की सुगंधि आ जाती है। किन्तु बाँस अपनी ऊँचाई के कारण चंदन की सुगंधि नहीं ग्रहण कर पाता और अपने ऊँचे आकार से ही नष्ट हो जाता है। ईश्वर करे ऐसी ऊँचाई से किसी का नाश न हो।

भाव यह है कि ऊँचे कुल में जन्म लेकर भी जो 'निगुणाँ' होते हैं, उनमें नम्रता और गुण की ग्रहणशीलता नहीं होती। फलस्वरूप उनका ऊँचापन ही उनके विनाश का कारण बनता है। वे अपने अहंकार से ही विनष्ट हो जाते हैं। ऐसा बड़प्पन किस काम का?

अलंकार—अन्योक्ति।

●

---

१. ग्रु०—कबिरा, हनु०—चंदन केरे नीयरे। २. तिवारी, गुप्त—निड़ै, ग्रु० के मरैं। ३. तिवारी—भी। ४. ना० प्र०—बंस बडाइताँ। ५. ना० प्र०—जिनि, हनु०—मति। ६ हनु०, ग्रु०—बूड़ो।

## ( ५६ ) बीनती को अंग

कबीर[1] सांई मिलहिंगे, पूछहिंगे[2] कुसलात।
आदि अंत की कहूँगा[3], उर अंतर की बात ॥ १ ॥

शब्दार्थ—आदि अन्त = आद्योपान्त।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मेरा विश्वास है कि जब प्रभु मिलेंगे, तब मेरे कुशल की बात पूछेंगे। उस समय मैं हृदय खोलकर अपने जीवन की आन्तरिक कथा आदि से अन्त तक उन्हें सुनाऊँगा।

इस साखी मे व्यञ्जना यह है कि जीव ने इस संसार में जो कुछ किया है, यदि वह सब निष्कपट भाव से प्रभु के समक्ष व्यक्त कर दे तो उसे दयालु प्रभु के अनुग्रह की प्राप्ति अवश्य होगी।

कबीर[4] भूलि[5] बिगाड़ियाँ, (तूँ) नाँ करि मैला चित्त[6]।
साहिब गरवा चाहिए[7], नफर बिगाड़ै[8] नित्त ॥ २ ॥

शब्दार्थ—भूलि=भूल करके, अज्ञानवश। बिगाडियाँ = नष्ट कर डाला। गरवा= गम्भीर, महान्, गुरुत्वपूर्ण। नफर (अ०)=दास, नौकर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि अज्ञानवश यह जीवन नष्ट हो गया। किन्तु हे जीव! तू अपने चित्त को मलिन मत कर। तू हताश न हो। नौकर तो नित्य अपनी मूर्खता से कुछ न कुछ काम बिगड़ता रहता है। स्वामी मे महत्ता चाहिए, गुरुता चाहिए। यदि स्वामी में गुरुत्व है तो नौकर की त्रुटियो और दोषो को वह अवश्य सम्हाल लेगा। हे जीव! तू चिन्ता न कर। सौभाग्य से तेरा स्वामी महान् है। यदि तेरे में नम्रता शेष है तो वह यह जानता है कि नौकर भूल करते ही रहते हैं। वह क्षमा कर सम्हाल लेगा। तू प्रभु के समक्ष नम्र भाव से, निष्कपट होकर, शुद्ध चित्त से अपने दोषो को प्रकट कर। तुझे प्रभु का अनुग्रह अवश्य प्राप्त होगा।

करता[9] केरे बहुत गुन[10], औगुन[11] कोई नाँहि।
जे दिल खोजौं आपनों[12], सब औगुन मुझ माँहि ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—करता=सृष्टिकर्त्ता, प्रभु। औगुन=अवगुण, दोष।

---

१ यु०—कबिरा। २ अन्य—पूछैंगे। ३ हनु०, वि०, यु०—सब कहूँ। ४. हनु०—बंदा। ५ तिवारी—भूल। ६ हनु०—करि करि मैला चित्त। ७ ना० प्र०—लोड़िए। ८ हनु०—बिगारै। ९ हनु०, यु०-साँई केरा। १०. ना० प्र०—गुण। ११ ना० प्र०—औगुण। १२ ना० प्र०-आपणीं, यु०-आपना, ति०—आपनी।

व्याख्या—प्रभु में सभी गुण विद्यमान हैं। उनमें कोई दोष नहीं है। जब मैं अपने हृदय का अन्वेषण करता हूँ तो मुझे प्रतीत होता है कि सारे अवगुण मेरे ही भीतर विद्यमान हैं।

प्रभु में सभी गुण विद्यमान होने में व्यञ्जना यह है कि वह पूर्ण है। जो पूर्ण है, वही अपूर्ण का उद्धार कर सकता है। अपूर्णता आपा में विद्यमान है। प्रभु आन्तरिक आत्मा के रूप में विद्यमान है और वह सर्वथा पूर्ण है।

औसर बीता अलप तन, पीव रहा[1] परदेस।
कलंक उतारौ साँइयाँ,[2] भानौ भरम अँदेस ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—अलप=अल्प, थोड़ा। तन = शरीर ( ला० अ० ) जीवन। साँइयाँ=पति, प्रभु। भानौ=दूर कर दो, नष्ट कर दो, भजन करो। अँदेस=संशय।

व्याख्या—इस साखी मे एक विरहिणी नायिका के माध्यम से जीव की कातरता एवं मिलनोत्कण्ठता की व्यञ्जना निहित है।

विरहिणी कहती है कि मेरा प्रियतम विदेश में रम रहा है। उससे मिलने का अवसर बीता जा रहा है। यह क्षणभंगुर शरीर न जाने कब नष्ट हो जाय ? अतः वह प्रियतम से आर्तस्वर में निवेदन करती है कि हे प्रिय ! तुम्हारे विदेश-वास के कारण लोग मुझ पर नानाप्रकार के कलंक लगाते हैं। हे प्रियतम ! तुम शीघ्र आकर मेरे इस कलंक को मिटाओ और लोगो में व्याप्त भ्रम और संशय को दूर कर दो।

जीव को इस ससार में यह अवसर मिला है कि वह प्रभु का सान्निध्य प्राप्त कर सके। उसे यह कार्य थोड़ी-सी आयु में ही करना है। किन्तु मोह और अज्ञान के कारण उसे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रभु कही दूर देश में है। ( यद्यपि वह उसके भीतर ही है ) जीव ऐसी स्थिति में अपने को पाकर प्रभु से अनुनय करता है कि हे प्रभु ! नर तन के रूप में आपसे मिलन का जो मुझे सुअवसर मिला था, उसको सम्पन्न न कर सकने के कारण मुझे जो कलंक लगा है, उसे आप कृपाकर दूर कीजिए। इससे मानव-जीवन के लक्ष्य को प्राप्त न कर सकने के कारण मेरे प्रति व्याप्त भ्रम और संशय दूर हो जाएगा।

अलंकार—अन्योक्ति।

कबीर करत है वीनती,[3] भौसागर के ताँइ[4]।
बंदे पर जोरा हुवै,[5] जम कौं[6] बरजि गुसाँई ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—ताँइ = कारण, लिए। बंदे=सेवक। जोरा=अत्याचार। बरजि=रोकिए।

---

१. ना० प्र०-रह्या। २ ना० प्र०—उतारौ केसवाँ, हनु०, यु०—उतारौ राम जी। ३ यु०—कबिरा, तिवारी-कबीर बिचारा करै वीनती। ४ ना० प्र०-ताँई, हनु०—मोँहि। ५ ना० प्र०-ऊपरि जोर होत है। ६ ना० प्र०-कूँ बरिज, हनु०—को बरजहु नाहि।

व्याख्या—भवसागर में पड़ने के कारण कबीर प्रभु से विनम्र प्रार्थना करते हैं कि मुझे यम भयंकर यातना दे रहा है। आप उससे मेरा उद्धार कीजिए। मुझे जन्म-मरण के वन्धन से मुक्त कीजिए।

हज कावै ह्वै ह्वै गया, केती वार कवीर।
मीराँ मुझमे क्या खता, मुखाँ न वोलै पीर॥ ६॥

हज (अ०)=मुसलमानों का एक धार्मिक कृत्य जो मक्के में जाकर अदा करना पड़ता है। कावै (अ०) = मक्के की एक इमारत जिसे मुसलमान ईश्वर का घर समझते हैं। मीराँ (फा०)=बड़े लोग, सत्गुरु। केती=कितनी। खता (अ०)=दोष, अपराध। मुखाँ= मुख से। पीर (फा०)=धर्मगुरु।

यहाँ कबीर साधारण साधक के प्रतिनिधि के रूप में कह रहे हैं कि मैं साधना का लोकमान्य मार्ग अर्थात् तीर्थ, व्रतादि कर चुका हूँ। मैं न जाने कितनी वार हज हो आया और कावा भी गया। मैं सभी अभिज्ञात ( Recognized ) साधनों का अवलंब ले चुका हूँ। अब मेरे में क्या दोष रह गया कि फिर भी गुरु मेरे प्रति उन्मुख नही होता।

व्यञ्जना यह है कि सत्गुरु वाह्याचार को महत्व नही देता। वह केवल शिष्य की आन्तरिक निष्ठा और नम्रता पर ही रीझता है और उसकी ओर आकृष्ट होता है।

अलंकार—विशेषोक्ति।

मेरा मन ज्यों तुज्झ सों,[1] यौं जे[2] तेरा होइ।
ताता[3] लोहा यौं मिलै, संधि लखै[4] नहि कोइ॥ ७॥
—७९७॥

शब्दार्थ—संधि = जोड़। ताता = तप्त, गर्म।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि जिस प्रकार मेरा मन आपमें अनुरक्त है, यदि आप उसी प्रकार मुझे अपनाने के लिए तैयार हों तो हम दोनो मिलकर उसकी प्रकार एकाकार हो सकते है, जैसे लोहे के दो गर्म टुकड़े मिलकर इस प्रकार एकाकार हो जाते हैं कि उनमें जोड़ या संधिस्थल नही प्रतीत होता।

टिप्पणी—इस साखी में प्रभु से 'वरण' करने के लिए अनुनय की गई है। कठोपनिषद् में भी कहा गया है:—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,
न मेधया न वहुना श्रुतेन।

---

१ ना० प्र०—ज्यूँ मन मेरा तुझ सौं। २. तिवारी, हनु०—जो। ३. तिवारी—तौ अहरनि ताता लोह ज्यौं, हनु०—अहरन ताती लोह ज्यों। ४. ना० प्र०—न लखई।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँस्वाम् ।
( कठो०-१/२/२३ )

'यह आत्मा न तो वेदाध्ययन से प्राप्त हो सकता है, न धारणा शक्ति से और न बहुत उपदेश से । जिसको पात्र समझकर वह वरण करता है, उसी के द्वारा वह (आत्मा) प्राप्त हो सकता है और उसी के प्रति वह (आत्मा) अपने सूक्ष्म स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है ।

अलंकार—उपमा ।

# ( ५७ ) साषीभूत को अंग

सापीभूत—इस अंग में 'सापीभूत' शब्द का विशेष अर्थ है। मानव-चेतना की चार अवस्थाएँ है—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के द्वारा हमारा सासारिक जीवन चलता रहता है। इन तीनो की चेतना मनोवैज्ञानिक अहं ( Psychological-Self ) की चेतना है। इसी के द्वारा हम संसार के सारे जीवन का निर्वाह करते हैं। इन तीनों अवस्थाओं का द्रष्टा 'तुरीय' चेतना है। तुरीय शब्द का अर्थ है—चौथा। यह तीनो अवस्थाओं से परे है। इसीलिए इसका नाम 'तुरीय' है। यह चौथी अवस्था अन्य तीनो अवस्थाओं की साक्षी है। यह मानव का तात्विक अहं ( Meta-Physical-Self ) है। यही हमारा वास्तविक आत्मा है। वह काम, क्रोध, लोभ, राग-द्वेष तथा सासारिक जीवन के अन्य कार्यों में लिप्त नही होता। उनका केवल साक्षी होता है। इसीलिए उसे 'साक्षि-चैतन्य' कहते है। यह 'साक्षि-चैतन्य' अपने स्वरूप को जानता रहता है। इसी 'साक्षी' के विषय में प्रस्तुत अंग लिखा गया है।

कबीर में 'साक्षी' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—एक तो उपनिषदो का 'साक्षि-चैतन्य' जो प्रस्तुत संदर्भ में है और दूसरे 'सद्गुरु' के अर्थ में, जो परम सत्य का साक्षी है और उस सत्य का साक्ष्य सरों के प्रति देता है। अन्य अंगो में 'साखी' शब्द इसी दूसरे अर्थ में प्रयुक्त है।

**कबीर[1] पूछै रांम सों[2], सकल भुवनपति राइ[3]।**
**सबही करि अलगा[4] रहौ[5], सो विधि देहु[6] बताइ ॥ १ ॥**

शब्दार्थ—राइ=राजा, स्वामी। विधि = उपाय।

व्याख्या—कबीर राम से पूछते है कि आप सम्पूर्ण संसार के स्वामी है। आप समस्त रचना करके, माया के सम्पूर्ण खेल करके भी उसमें लिप्त नही होते। एक साक्षी के रूप में अलग रहते है। यह कैसे ? कृपा कर वह विधि मुझे भी बता दीजिए।

अलंकार—अतद्गुण।

**जिहि बरियाँ साँई[7] मिलै, तासु[8] न जानैं[9] और।**
**सब को[10] सुख दे सबद करि, अपनी अपनी[11] ठौर ॥ २ ॥**

शब्दार्थ—बरियाँ = वेला, समय। तासु=उसको। सबद=शब्द, अनाहत नाद।

---

१ गु०-कबिरा। २ ना० प्र०-कूँ। ३ वि०, गु०-भवन पतिराय। ४. हनु०, वि०, गु०—न्यारा रहे। ५ ना० प्र०-रहौ। ६. ना० प्र०-हमहि, त्रि०, गु०-मोहि देहु बताइ। ७ तिवारी—साहिब। ८. ना० प्र०—तास। ९. ना० प्र०—जाणैं, वि०-ता समान नहिं और। १० ना० प्र०—कूँ, हनु०-का। ११ ना० प्र०-अपणीं-अपणीं।

व्याख्या—जिस वेला में स्वामी से मिलन होता है अर्थात् प्रभु का साक्षात्कार होता है, उसे दूसरा कोई नही जान सकता अर्थात् वह साधक और स्वामी के बीच की बात है। वह सबको अपनी-अपनी जगह पर अर्थात् अपने-अपने कर्म, आचार और पात्रता के अनुसार शब्द ( अनाहत नाद ) के द्वारा अपने को प्रकट कर आनंद देता है।

कबीर मन का बाहुला, ऊँड़ा बहै असोस।
देखत ही दह मैं पड़ै, दई किसा कौं दोस ॥ ३ ॥
—८०० ॥

शब्दार्थ—बाहुला = बहाव, नाला। ऊँड़ा ( राज० ) = गहरा। असोस = अशोष्य, जो सूखे नहीं। दह = ( सं० ह्रद ), कुण्ड। किसा=किसका।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मन का नाला बहुत गहरा होता है और उसका जल जल्दी सूखता नही है। जो व्यक्ति जान-बूझकर मनरूपी कुण्ड मे गिरता है अर्थात् वासना-पूर्ण मन में रमण करता है, उसके लिए किसे दोष दिया जाय ?

अलंकार—रूपक।

टिप्पणी—यह साखी अन्य किसी पाठ मे नही मिलती और 'साषीभूत को अंग' मे उपयुक्त भी नही प्रतीत होती।

०

## ( ५८ ) वेली को अंग

अब तौ ऐसी ह्वै पड़ी[1], नाँ[2] तुमरी नाँ वेलि।
जालन आँनी[3] लाकड़ी, ऊठी कूँपल मेलि[4] ॥ १ ॥

शब्दार्थ—तुमरी=तितलौकी ( प्र० अ० ) वासना। वेलि=( प्र०अ० ) माया। जालन=जलाने के लिए। आँनी=लाई गई। कूँपल=अंकुर। मेलि=पनपते हुए।

व्याख्या—माया रूपी वेलि विचित्र है। साधारणत: साधक कुछ साधना के पश्चात् यह समझने लगता है कि अब मैंने इस पर विजय प्राप्त कर ली है। अब न तो माय-रूपी वेलि रह गई और न उसका फल—तुमड़ी अर्थात् माया—वेलि के ऊपर हमारा इतना अधिकार हो गया है कि अब न तो माया का प्रभाव रह गया है और न उससे उत्पन्न वासना रूपी तुमड़े ( फल ) ही रह गये है। किन्तु जब वह उस माया रूपी वेलि को शुष्क लकड़ी समझकर उसे जलाने अथवा पूर्णत: नष्ट करने का प्रयत्न करता है, तब वह यह देखकर चकित हो जाता है कि जिस वेलि को वह सूखी लकड़ी समझ चुका था और उसे पूर्णतः जलाने को तैयार था, उसमें छिपी हुई नई कोपलें निकल पड़ी।

टिप्पणी—माया अविद्या ( आध्यात्मिक अज्ञान ) के कारण है। उसी अविद्या से अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश आदि क्लेश होते हैं। पातंजल योग के द्वितीय पाद का चौथा सूत्र है—

'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्' ॥ ४ ॥

अर्थात्—अविद्या अस्मिता, राग-द्वेष आदि क्लेशो को प्रसवभूमि है। ये क्लेश चार रूप मे रहते है—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। प्रसुप्त वह अवस्था है जिसमें चेतना मे अविद्याप्रसूत वासनाएँ शक्तिमात्र रूप में, वीज भाव में विद्यमान रहती है। वे अवसर पाकर, आलम्बन पाकर जग जाती है, कार्यशील हो जाती है।

इस साखी के द्वितीय चरण में 'ऊठी कोपल मेलि' का भाव यही है कि हम जिस माया को सूखी लकड़ी के समान नष्टप्राय समझकर जलाने चले थे, आश्चर्य यही है कि उसी से फिर नई कोंपले निकलने लगी। ये नई कोंपले प्रसुप्त वासनाएँ है जो चित्त में छिपी पड़ी रहती है। इसलिए अविद्या-माया पूर्ण ज्ञानोदय के बिना नही जलाई जा सकती।

अलंकार—भ्रान्तिमान्।

---

१ गु०—परी। २. ना० प्र०—नाँ तूँ वड़ी न। ३. ना० प्र०—जालण आणी। ४ ना०प्र०—मेल्हि

आगे आगे दौ जलैं,[1] पीछे हरिया[2] होइ।
बलिहारी ता[3] विरष की, जड़ काटे[4] फल होइ ॥ २ ॥

शब्दार्थ--दौ = दावाग्नि। विरष = वृक्ष।

व्याख्या—माया-वन अद्भुत है। जब हम इसको जलाते है तो यह ज्यों-ज्यों आगे से जलता है, त्यों-त्यों पीछे से हरा होता जाता है, अर्थात् हम माया का कृत्रिम रूप से निग्रह नहीं कर सकते। उसे हम जितना ही दबाते है, उतनी ही माया-प्रसूत वासनाएँ चित्त में प्रसुप्त रूप में छिप जाती हैं और बाद में आलम्बन पाकर पुनः जग उठती हैं और कार्यशील हो जाती है। 'जलाने' का भाव है—कृत्रिम साधनो से वासनाओं को दबाना और 'हरा' होने का भाव है—उनका पुनः कार्यक्षम हो उठना। साधक समझता है कि वासना जल गयी; परन्तु वह पुनः अंकुरित हो उठती है।

इस अविद्या माया रूपी वृक्ष की बलिहारी है। सामान्य वृक्ष जड़ काटने से फल नहीं दे सकते, किन्तु माया-वृक्ष जब समूल नष्ट कर दिया जाता है, जड़ से काट दिया जाता है, तभी मुक्ति रूपी फल की प्राप्ति होती है।

टिप्पणी--'जड़ काटे फल होइ' के विरोधाभास में 'जड़' काटने में 'माया' का संकेत है और 'फल होइ' में 'मुक्ति' का संकेत है।

अलंकार--व्यतिरेक, विरोधाभास।

जे काटौं[5] तौ डहडही, सींचौं[6] तौ कुम्हिलाइ।
इस गुनवन्ती[7] बेलि का, कछु गुन कहा[8] न जाइ ॥ ३ ॥

शब्दार्थ--डहडही = हरी-भरी, लहलहाती।

व्याख्या--यह माया-बेलि विचित्र एवं असामान्य है। यदि इसको काटा जाय तो यह हरी-भरी तथा पल्लवित हो उठती है और यदि इसको सींचा जाय तो मुरझा जाती है। इस अद्भुत गुणवाली बेलि की विशेषताओ का वर्णन नही किया जा सकता।

इस उलटबाँसी का भाव यह है कि ज्यों-ज्यों हठपूर्ण साधना या कृत्रिम उपायों से वासना को दबाने की चेष्टा की जाती है, आधुनिक मनोविश्लेपण (Psycho-analysis) के शब्दों में वह त्यो-त्यो हरी भरी हो जाती है अर्थात् पनपकर बलवती हो जाती है और जब भक्ति अथवा ज्ञानरूपी सुधा-रस से इसको सींचा जाता है, तब यह मुरझा जाती है।

अलंकार—(१) व्यतिरेक, (२) विरोधाभास, (३) 'गुणवंती' शब्द में श्लेष है, यह त्रिगुणात्मिका (सत्व, रजस्, तमस्) का भी बोधक है और वैशिष्ट्य का भी।

---

१ यु०–धा बरैं, हनु०–दव बरे। २. तिवारी, हनु०–हरियर। ३. तिवारी–तेहि विरिख; हनु०, यु०–ता वृक्ष। ४ ना० प्र०–काट्याँ। ५. त्रि०, यु०–काटें। ६. यु०, हनु०–सींचें, त्रि०–सीचे। ७. ना० प्र०–गुणवन्ती। ८. तिवारी—कछु गुन बरनि, ना० प्र०–कुछ गुणँ कह्याँ।

**आँगन[1] बेलि अकास[2] फल, अनव्यावर[3] का दूध।**
**ससा सींग की धनुहड़ी[4] रमै बाँझ का पूत[5] ॥ ४ ॥**

शब्दार्थ—अनव्यावर=बिना बिआई हुई। ससा=शशक, खरगोश। धनुहड़ी=छोटा धनुष। रमै=रमण करना, खेलना।

व्याख्या—इस अंग में माया को वेलि कहा गया है। उसी क्रम में प्रस्तुत साखी भी है।

माया को 'अघटनघटनापटीयसी' कहा गया है। असम्भाव्य को सम्भाव्य बना देना माया की विशेषता है। यहाँ उसी असम्भाव्य की सम्भाव्य-प्रतीति को सम्पुष्ट करने वाले चार उदाहरण दिये गये हैं।

अनिर्वचनीय माया द्वारा प्रपंच का नाटक उसी प्रकार अकथनीय तथा अघटन को घटित करने का इन्द्रजाल है, जैसे वेलि का आँगन मे होना और उसका फल आकाश में होना, अनब्याई गाय का दूध, खरगोश का सीग और वंध्या स्त्री के पुत्र का खेलना।

अलंकार 'आँगन वेलि अकास फल' मे असंगति।

**कबीर[6] कड़ुई बेलड़ी, कड़ुवा ही फल होइ।**
**सिद्ध[7] नाम तब पाइए, जे[8] बेलि बिछोहा होइ ॥ ५ ॥**

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि यह माया-वेलि कड़ुई होती है और इसका फल भी कड़ुवा होता है। माया में अनुरक्त रहनेवाला व्यक्ति वासना की कटुता से आक्रान्त रहता है। यदि कोई इस मायारूपी वेलि से अपने को पृथक कर ले तो वह सिद्ध नाम प्राप्त कर सकता है अर्थात् सिद्ध हो जाता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

**सिद्ध भया तौ क्या भया,[9] चहुँदिसि फूटी बास।**
**अजहुँ[10] बीज अंकूर है,[11] फिर[12] ऊगन की आस ॥ ६ ॥**
**—८०६ ॥**

शब्दार्थ—बास=सुगंध (ला० अ०) ख्याति। आस=सम्भावना।

व्याख्या—यदि सिद्ध हो जाने की ख्याति चारो ओर फैल गयी तो इससे क्या लाभ? मायारूपी बीज और उसका वासनारूपी अंकुर अब भी हृदय में विद्यमान है और उसके पुनः पनपने की सम्भावना विद्यमान है। अत. साधक को बहुत ही सावधान रहना चाहिए।

अलंकार—'बीज अंकूर' में रूपकातिशयोक्ति।

●

१. ना० प्र०–ऑगणि। २ ना० प्र०–अकासि। ३ ना० प्र०–अण व्यात्र। ४. यु०, वि०—के धनुप को, हनु०—के धनुप करि, ना० प्र०–ध्रनहटी। ५ हनु०—खेलें, वि०–खैंच वाझ सुत सथ। ६ यु०–कबिरा कड़वी। ७ ना० प्र०–साध नांव। ८ यु०–जव। ९ ना० प्र०–सींव भई तव का भया। १०. हनु०—औरो। ११ हनु०, यु०–में। १२ ना० प्र०—भी ऊगण, गुप्त—भी उगण।

## ( ५९ ) अबिहड़ को अंग

कबीर[1] साथी सोइ[2] किया, दुख सुख जाहि न कोइ[3] ।
हिलि मिलि कै[4] संग खेलिहूँ, कदे[5] बिछोह न होइ ॥ १ ॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैंने उस प्रभु को अपना साथी बनाया है जो सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से परे है । मैं उससे हिल-मिलकर, सदा युक्त रहकर खेलूँगा अर्थात् जीवन व्यतीत करूँगा । उससे कभी वियुक्त नही होऊँगा । उससे कभी बिछुड़न नही होगा ।

कबीर सिरजनहार विन, मेरा हितू न कोइ ।
गुन औगुन[6] बिहड़ै[7] नहीं, स्वारथ बंधी[8] लोइ ॥ २ ॥

शब्दार्थ—सिरजनहार=स्रष्टा । हितू=हितैषी । बिहड़ै=अंतर करना, बिलगाना, अलग करना । बंधी=बँधे हुए । लोइ=लोग ।

व्याख्या—कबीर प्रभु के अनुग्रह में अपनी आस्था व्यक्त करते हुए कहते हैं कि स्रष्टा के सिवाय मेरा कोई अन्य हितैषी नही है । वह गुण और अवगुण में अन्तर नही करता है अर्थात् पापी और पुण्यात्मा का भेद नही करता है । उसके प्रति जो अनुराग रखता है, वह चाहे पापी हो या पुण्यात्मा, प्रभु उस पर अनुग्रह करते हैं । अन्य सभी लोग स्वार्थ में बँधे हुए हैं ।

आदि मध्य[9] अरु अंत लौं, अबिहड़ सदा अभंग[10] ।
कबीर उस करतार का[11], सेवक तजै न संग[12] ॥ ३ ॥
—८०९ ॥

शब्दार्थ—लौं=तक । अविहड़=अवियुक्त । अभंग=अटूट, लगातार । करतार=स्रष्टा ।

व्याख्या—अनश्वर, अभंग प्रभु जिसका न कोई आदि है, न मध्य और न अंत, वह मेरे जीवन के आदि, मध्य और अंत तक अर्थात् जन्म, जीवन और मृत्यु-पर्यन्त सदा, लगातार मुझसे अवियुक्त रहता है । कबीर कहते हैं कि सेवक को ऐसे प्रभु का कभी साथ नही छोड़ना चाहिए ।

०

---

१. यु०—साथी तो सोई किया । २ ना० प्र०—सो । ३. ना० प्र०—जाके सुख दुख नहीं कोइ । ४. ना० प्र०-ह्वै करि खेलिस्यूँ, अन्य—के संग खेलऊँ । ५. हनु०, वि०, यु०—कबहुँ । ६. ना० प्र०-गुण औगुण । ७ त्रि०—बेटैं । ८. त्रि०—बंधा । ९. ना० प्र०—मधि । १०. यु०—अभय औ सदा अभंग । ११. ना० प्र०—को । १२ हनु०, त्रि०, यु०—कभी न छाड़ै संग ।

# साखियों की वर्णानुक्रम सूची

य

स



ह